# रीतिकाव्य की भूमिका

प्रस्तुत ग्रन्थ मेरे गवेषणात्मक निबंध का पूर्वार्द्ध है। इसमें हिन्दी रीतिकाव्य की भूमिका मात्र उपस्थित की गई है। ग्रन्थ में तीन अध्याय हैं:— (१) पहले में रीति-युग की राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों का ऐतिहासिक विवेचन करते हुए, एक प्रकार से, अभीष्ट चित्र के लिये एक आधार-फलक तैयार किया गया है। यहाँ मैंने घटनाओं को प्रायः बचाते हुए तत्कालीन जीवन की आन्तरिक प्रवृत्तियों को ही ग्रहण किया है क्योंकि काव्य का सीधा संबन्ध उन्हीं से है। जीवन की इन भौतिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक एवं रागात्मक अन्तः-प्रवृत्तियों में परस्पर क्या सम्बन्ध था इसका निर्देश यथा-स्थान कर दिया गया है। (२) दूसरे अध्याय में रीतिकाव्य के शास्त्रीय-आधार का साधारणतः ऐतिहासिक और विशेषत. सैद्धान्तिक विवेचन है। इस प्रसंग में भारतीय काव्य-शास्त्र के मूल सिद्धांतों और उन पर आश्रित सम्प्रदायों का नवीन साहित्य-शास्त्र तथा आधुनिक मनोविज्ञान व मनोविश्लेषण-शास्त्र के प्रकाश में विश्लेषण एवं स्पष्टीकरण किया गया है। आज काव्य-शास्त्र के विद्यार्थी के लिये अध्ययन का यह सबसे महत्व-पूर्ण विषय है और मैं विस्तार-पूर्वक इस पर लिखना भी चाहता था। परंतु प्रस्तुत निबंध के अन्तर्गत इसके लिये अवकाश नहीं है। अतएव मैंने मूल सिद्धांतों को ही ग्रहण किया है, उनके विस्तार-प्रस्तार और अंग-उपांगों को छोड दिया है। मनोविज्ञान और नवीन काव्य-सिद्धान्तों के प्रकाश में भारतीय काव्य-शास्त्र का अध्ययन हिन्दी में अभी अत्यन्त विरल है—उपर्युक्त अध्याय में मैंने इसी महत्व-पूर्ण प्रसंग की रूप-रेखा बांधने का विनम्र प्रयत्न किया है। (३) तीसरे अध्याय में रीतिकाल की सामान्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण है। यहां भी मैंने अपने विवेचन को प्रवृत्तियों तक ही सीमित रखा है। व्यक्तियों को यद्यपि स्वतन्त्र महत्व नहीं दिया गया, परन्तु निष्कर्षों में अधिकांशत. सभी प्रतिनिधि रीति-कवियों के मुद्रित और हस्तलिखित ( प्राप्य ) ग्रंथों का आश्रय लिया गया है।

हिन्दी में रीति-काव्य प्रायः उपेक्षा का ही भागी रहा है। द्विवेदी-युग के आलोचकों ने इस कविता को नीति-भ्रष्ट कह कर तिरस्कृत किया, छायावाद के प्रतिनिधि कवि—लेखक इसको अति-ऐन्द्रिय और स्थूल कह कर हेय समझते रहे और आजका प्रगतिशील समीक्षक इसको सामन्तवाद की अभिव्यक्ति मानकर प्रतिक्रियावादी कविता कहता है। मैंने शुद्ध साहित्यिक ( रस ) दृष्टि से ही इस कविता की सामान्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण और मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया है— अन्य बाह्य मूल्यों को प्रयत्न-पूर्वक बचाया है।—और, इस दृष्टि से आप देखेंगे कि यह काव्य न हेय है और न उपेक्षणीय। इस रसात्मक काव्य का अपना विशेष महत्व है।

— नगेन्द्र

# रीति-काव्य की भूमिका

## ( पूर्वार्द्ध )

१. रीति-काव्य की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि :—

१. राजनीतिक स्थिति

२. सामाजिक परिस्थिति

कवि और कलावन्तों की विचित्र स्थिति

मुग़ल परिवार और मुग़ल दरबार

विलास और शृंगारिकता

हिन्दू मुसलमानों की जातीय स्थिति

नैतिक अवस्था

३. धार्मिक परिस्थिति

बौद्धिक ह्रास ।

४. कला की प्रवृत्ति

स्थापत्य कला ।

चित्र कला ।

संगीत ।

२. रीति-काव्य का शास्त्रीय आधार :—

१. रीति काल का आरम्भ :

वेद-वेदांग, व्याकरण शास्त्र, दर्शन,

रीति-शास्त्र का वास्तविक आरम्भ ।

२. रस-सम्प्रदाय :

रस शब्द का अर्थ और उसका क्रमिक विकास

रस-सम्प्रदाय का संक्षिप्त इतिहास : रस की परिभाषा ।

रस की स्थिति : भट्ट लोल्लट, श्री शंकुक, भट्ट नायक [साधारणीकरण] और अभिनव गुप्त के सिद्धांत, उनकी शक्ति और सीमायें ।

रस का स्वरूप, संस्कृत साहित्य शास्त्र का मत, यूरोपीय साहित्य शास्त्र और मनोविज्ञान की दृष्टि से रस का स्वरूप, विवेचन—अपना मत और उसकी स्थापना ।

भाव का विवेचन, भाव की परिभाषा, स्थायी और संचारी का अन्तर मनोवृत्ति और मनोविकार का अन्तर, स्थायी भाव की मनोवैज्ञानिक स्थिति।

रसों और भावों की संख्या, पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र में रस, मूल प्रवृत्तियां और प्रवृत्तिगत भाव। निष्कर्ष।

३. अलंकार-सम्प्रदाय :—

अलंकार-सम्प्रदाय का संक्षिप्त इतिहास
अलंकार की परिभाषा और धर्म
अलंकार और अलंकार्य का भेद
अलंकारों का मनोवैज्ञानिक आधार
भारतीय और यूरोपीय अलंकार शास्त्र
रसानुभूति में अलंकार का योग

४. रीति-सम्प्रदाय :—

रीति-सम्प्रदाय का संक्षिप्त इतिहास
रीति की परिभाषा और स्वरूप

रीति और शैली: साम्य और वैषम्य। रीति, एवं गुण और दोष की स्थिति और उनका रस से सम्बन्ध।

गुण की मनोवैज्ञानिक स्थिति, दोष की स्थिति।

५. वक्रोक्ति-सम्प्रदाय :—

संक्षिप्त इतिवृत्त
वक्रोक्ति का स्वरूप
विवेचन
वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद
आचार्य शुक्लजी की आलोचना

६. ध्वनि सम्प्रदाय :—

ध्वनि-सिद्धान्त का संक्षिप्त इतिहास
ध्वनि का आधार और स्वरूप
व्यंजना शक्ति
ध्वनि और रस
ध्वनि के अन्तर्गत अन्य सिद्धान्तों का समाहार।
उपसंहार—सिद्धान्त समन्वय।

७. नायिका-भेद :—

पूर्ववृत्त :— भरत, धनंजय, विश्वनाथ का नायिका-भेद

# सहायक ग्रन्थों की सूची

## १. रीति-काव्य की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि


| | |
|---|---|
| Tarachand | 1. Short History of the Indian people |
| | 2. हिन्दुस्तान के निवासियों का संक्षिप्त इतिहास |
| Rawlinson | India—A short cultural History. |
| Edwardes & Garre | Moghul Rule in India. |
| Tarachand- | Influence of Islam on Indian culture |
| Ishwari Prasad | A short History of Muslim Rule in India. |
| Moreland. | From Akbar to Aurangzeb. |
| Banarsi Pd. Sexena. | History of Shah Jahan of Dihli. |
| Jadunath Sarkar | History of Aurangzeb. |
| Jadunath Sarkar. | Fall of the Moghul Empire I & II |
| Irwine | Later Moghuls VS. I & II. |
| Khosla | Moghul Kingship & Nobility. |
| Jadunath Sarkar | Studies in Mogul India. |
| Tod. | Annals and Antiquities of Rajasthan. |


ART.


| | |
|---|---|
| Havell | Indian Sculpture & Painting. |
| V. Smith. | History of Fine Arts in India. |
| Percy Brown | Indian Painting |
| राय कृष्णदास | भारत की चित्रकला |


## २. शास्त्रीय आधार

सर्वश्री


| | |
|---|---|
| भरतमुनि | नाट्य शास्त्र |
| दण्डी | काव्यादर्श |
| वामन | काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति |
| आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त | ध्वन्यालोक : लोचन सहित : |
| कुन्तक | वक्रोक्तिजीवितम् |

| | |
|---|---|
| भोज | शृङ्गारप्रकाश |
| धनंजय | दश रूपक |
| राजशेखर | काव्य-मीमांसा |
| मम्मट | काव्य-प्रकाश |
| विश्वनाथ | साहित्य-दर्पण |
| जयदेव | चन्द्रालोक |
| भानुदत्त | रस-तरंगिणी |
| भानुदत्त | रस-मंजरी |
| जगन्नाथ | रस-गंगाधर |
| रूप गोस्वामी | उज्ज्वल नीलमणि |
| हरिऔध | रस-कलस |
| रामचन्द्र शुक्ल | चिन्तामणि |
| श्यामसुन्दर दास | साहित्यालोचन |
| केशवप्रसाद मिश्र | मेघदूत की भूमिका |
| गुलाबराय | नवरस |
| कन्हैयालाल पोद्दार | रस-मंजरी, अलंकार-मंजरी |
| अर्जुनदास केडिया | भारती भूषण |
| S.K. De | Sanskrit Poetics. |
| Kane | Introduction to Sahitya Darpana |
| Sankaran | Some aspects of literary criticism in Sanskrit. |
| Lahiri | The concepts of Riti and Guna in Sanskrit Poetics. |
| Bhagwandas | The Science of Emotions. |
| Croce | Aesthetic. |
| Richards | Principles of Literary criticism. |
| Richards | Practical Criticism. |
| Mellone and Drummond | Elements of Psychology |
| Stout | Manual of Psychology. |
| James | Principles of Psychology. |
| Mcdougall | 1. Outline of Psychology.<br>2. Energies of Man. |
| Dewey. | Psychology. |

| | |
|---|---|
| Fread. | 1. Introductory lectures on Psycho-analysi. |
| | 2. Interpretation of Dreams. |
| | 3. Leonardo-da-Vinci. |
| Jung | 1. Psychological types. |
| | 2. Modern Man in search of a soul. |
| Bosanquet. | History of Aesthetic. |
| Bain | English Composition & Rhetoric. |
| Pater. | Appreciations. |
| Reade | English Prose Style. |
| Murry | The Problem of Style, |

## ३. रीतिकाव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ

सर्वश्री

| | |
|---|---|
| मिश्रबन्धु | मिश्रबन्धु विनोद, नवरत्न |
| रामचन्द्र शुक्ल | हिन्दी साहित्य का इतिहास |
| श्यामसुन्दर दास | भाषा और साहित्य |
| डा. रसाल | हिन्दी साहित्य का इतिहास |
| विश्वनाथ प्रसाद मिश्र | वाङ्मय-विमर्श, पद्माकर-पंचामृत, बिहारी की वाग्विभूति। |
| केशव | रसिक-प्रिया, कवि-प्रिया |
| चिन्तामणि, | कविकुल कल्पतरु |
| जसवन्तसिंह | भाषा-भूषण |
| मतिराम | रसराज, ललित-ललाम |
| भूषण | शिवराज-भूषण |
| कुलपति | रस-रहस्य |
| श्रीपति | श्रीपति सरोज : ह० लि० : |
| दास | काव्य-निर्णय, शृंगार-निर्णय |
| दूलह | कविकुल-कंठाभरण |
| वेनीप्रवीन | नवरस-तरंग |
| पद्माकर | जगद्विनोद, पद्माभरण |
| प्रतापसाहि | काव्य-विलास : ह० लि० : |
| " | व्यंग्यार्थकौमुदी |
| रसिक गोविन्द | रसिक गोविन्दानन्दघन : ह० लि० : |
| उत्तमचन्द भंडारी | अलंकार आशय : ह० लि० : |

# रीतिकाव्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

## राजनीतिक स्थिति :—

आज पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा किया हुआ हिन्दी साहित्य का काल-विभाजन प्राय: सर्वमान्य-सा ही हो गया है—और वास्तव में सर्वथा निर्दोष न होते हुए भी, वह बहुत कुछ संगत तथा विवेकपूर्ण है। उसके अनुसार रीतिकाल के अन्तर्गत सं १७०० से सं० १६०० तक पूरी दो शताब्दियां आ जाती हैं।

सम्वत १७०० से १६०० तक भारत का राजनीतिक इतिहास चरम उत्कर्ष को प्राप्त मुग़ल साम्राज्य की अवनति के आरम्भ और फिर क्रमशः उसके पूर्ण विनाश का इतिहास है। सम्वत् १७०० में भारत के सिंहासन पर सम्राट् शाहजहाँ आसीन था। मुगल वैभव अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच चुका था—जहाँगीर ने जो साम्राज्य छोड़ा था, शाहजहाँ ने उसकी और भी श्रीवृद्धि और विकास कर लिया था। दक्षिण में अहमदनगर, गोलकुण्डा और बीजापुर राज्यों ने मुग़लों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था, और उत्तर-पश्चिम में स० १६६५ में कन्धार का क़िला मुग़लों के हाथ में आगया था। अब्दुल हमीद लाहौरी के अनुसार उसका साम्राज्य सिन्ध के लहिरी बन्दरगाह से लेकर आसाम में सिलहट तक और अफगान प्रदेश के बिस्त के किले से लेकर दक्षिण में औसा तक फैला हुआ था। उसमें २२ सूबे थे जिनकी आमदनी ८८० करोड़ दाम अथवा २२ करोड़ रुपया थी। देश में अखण्ड शान्ति थी; ख़ज़ाना मालामाल था। हिन्दुस्तान की कला अपने चरम वैभव पर थी। मयूर-सिंहासन और ताजमहल का निर्माण हो चुका था। परन्तु उत्कर्ष के चरम बिन्दु पर पहुँचने के उपरान्त यहीं से निगति का भी आरम्भ होगया था। अप्रतिहत मुगलवाहिनी पश्चिमोत्तर प्रान्तों में लगातार तीन बार पराजित हुई—मध्य एशिया के आक्रमण बुरी तरह विफल हुए। इन विफलताओं से न केवल धन-जन की हानि हुई, वरन् मुग़ल-साम्राज्य की प्रतिष्ठा को भी भारी धक्का लगा। उधर दक्षिण में भी उपद्रव आरम्भ हो गए थे। बाहर से यद्यपि हिन्दुस्तान सम्पन्न और शक्तिशाली दिखाई देता था, परन्तु उसके अन्तस् में अज्ञात रूप से क्षय के बीज जड़ पकड़ रहे थे। जहांगीर की मस्ती

और शाहजहां के अपव्यय दोनों का परिणाम अहितकर हुआ। जिस प्रकार साहित्य के इतिहास में भक्तिकाव्य के चरम वैभव के बाद सं० १७०० के आस-पास से ही कविता क्षयग्रस्त होने लगी थी, ठीक इसी प्रकार राजनीतिक इतिहास में मुग़ल-साम्राज्य भी अपने सम्पूर्ण यौवन को प्राप्त करने के उपरान्त ह्रासोन्मुख हो चला था।

सं० १७१५ में शाहजहां बहुत सख्त बीमार पड़ गया—देश में एक अफ़वाह उड़ गई कि सम्राट् की मृत्यु हो गई। मुग़लों में चूंकि उत्तराधिकार का कोई निश्चित नियम नहीं था अतएव दुर्भाग्यवश बादशाह के जीवनकाल में ही उसके पुत्रों में सिंहासन के लिए युद्ध आरम्भ होगया। वह युद्ध रीति-काल के आरम्भ में सबसे प्रथम और सब से अधिक महत्वपूर्ण राजनीतिक घटना है—इसका राजनीतिक और नैतिक प्रभाव समस्त देश पर पड़ा। सम्राट् का सबसे बड़ा पुत्र दारा अपने सांस्कृतिक व्यक्तित्व के कारण न केवल सम्राट् का ही वरन् प्रजा का भी स्नेह-भाजन था—परन्तु वह कूटनीति से अनभिज्ञ था। इसके विपरीत दूसरे राजकुमार औरंगज़ेब का व्यक्तित्व कठोर और दृढ़ था। उसकी हार्दिक शक्तियां जितनी सीमित थीं बौद्धिक शक्तियां उतनी ही विकसित थीं। मानव-चरित्र के अध्ययन में उसकी गति अपरिमित थी—उसकी दृष्टि अन्तःप्रवेशिनी और निर्णय-शक्ति स्थिर-संयत थी। कूट-नीति में वह दक्ष था। दारा के विपरीत वह कट्टर सुन्नी था—उसमें धार्मिक-सहिष्णुता का सर्वथा अभाव था। दारा और औरंगज़ेब का युद्ध मानो संस्कृति और राजनीति का युद्ध था। कई जगह कई महीनों तक मोर्चा लगा। सारा साम्राज्य ईश्वर के सदृश प्रतापी मुग़ल सम्राट के पुत्रों में होने वाले इस भयंकर युद्ध को विस्फारित नेत्रों से देख रहा था। हिंदू और उदाराशय मुसलमान दारा की ओर थे—कट्टर सुन्नी औरङ्गज़ेब की तलवार पर इस्लाम की विजय की आशा केन्द्रित किये हुए थे। भाग्य के अनुरोध में दारा की पूर्ण पराजय हुई—देश ने इस लोक-प्रिय राजकुमार के वध का लोम-हर्षक नाटक अपनी आँखों से देखा। उन्होंने देखा मानो नैतिक और धार्मिक विश्वासों को पैरों तले कुचलता हुआ औरंगज़ेब भाइयों के खून में होकर सिंहासन तक पहुंच गया है, और गर्व से उस पर आसीन है। औरंगज़ेब का राज्यकाल सं० १७१५ से सं० १७६४ तक एक सम्पूर्ण अर्धशताब्दी को आच्छादित किये हुए है। उसका वृहत् राज्यकाल अशान्ति और संघर्ष का इतिहास है। इसका परन्तु पूर्वार्ध तो प्रायः ज़मींदारों, राजाओं तथा हिन्दुओं के धार्मिक उपद्रवों एवं वद्रोहों को दमन करने में बीता। सबसे विकट उपद्रव आगरा, अवध और इलाहाबाद के सूबों में हुए। आगरा प्रान्त में गोकुल के नेतृत्व में जाटों ने,

अवध मे बैस राजपूतो ने, और इलाहाबाद मे हरदी तथा अन्य जमीदारो ने शासन की अन्यायपूर्ण नीति के विरुद्ध विद्रोह किया।—औरंगजेब ने यथा-समय सभी को शान्त किया और इन उपद्रवी हिन्दुओ से प्रतिशोध लेने के लिए मथुरा मे केशवदास का मन्दिर और काशी मे विश्वनाथ का मन्दिर विध्वस्त करा दिया, जिससे उसकी हिन्दू-विरोधी नीति और भी स्पष्ट हो गई। उधर बुन्देलखण्ड मे चम्पतराय विद्रोही होगए—और उनकी मृत्यु के उपरांत उनके पुत्र महाराज छत्रसाल आजीवन मुगलो का विरोध करते रहे।

कविवर लाल ने अपने ग्रन्थ छत्रप्रकाश मे उनकी वीरता और बलि-दान का ओजस्वी वर्णन किया है—

मारि तुरक कौ मुंह मुरकायौ। रन मे विजै बुंदेला पायौ॥
मुरके तुरक खग्ग फिर खोल्यौ। बल दिवान पर हल्ला बोल्यौ॥
बजे नगारे फेर जुझाऊ। रन मे रुप्यौ उमडि बलदाऊ॥
पहर राति भर मार मचाई। मुरक्यो तुरक उहां खम खाई॥
ओढ़ि अरिन के ढाल ढकेला। भलौ लर्यौ बल करन बुंदेला॥
खभरि खेत तहवर बिचलायौ। सूबन के उर साल सलायौ॥
सले साल सूबानि कै, धक्कनि हलै पटान।
दियौ भाल छत्रसाल कै, राजतिलक भगवान॥

(छत्रप्रकाश)

राजपूताना मे मारवाड के उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर अशान्ति फैली हुई थी। अब तक राजपूताने के प्रमुख राज्य मुगलो की निष्कपट रूप से सेवा करते रहे थे—जोधपुर के राजा जसवन्तसिंह और जयपुर के मिर्जा जयशाह ने साम्राज्य की ओर से युद्ध करते हुए ही अपने प्राण गवाए थे। राजा जसवन्तसिंह की मृत्यु के उपरान्त औरंगजेब ने जयपुर पर अधिकार कर लिया जिसके कारण मारवाड़ और मेवाड मुगलो के विरुद्ध होगए—उधर उन्होने शाहजादा अकबर को भी अपनी ओर तोडकर औरंगजेब को विषम परिस्थिति मे डाल दिया। अन्त मे हार तो राजपूतो की ही हुई, फिर भी दुर्गादास अन्त तक मुगलो का सामना करता रहा। इधर आत्मरक्षा के निमित्त हिंदू धर्म के विभिन्न समुदायो मे भी चेतना जागृत हो रही थी। नारनौल और मेवाड के प्रांतो मे सतनामी मत के लोगो ने अपने भयंकर धार्मिक विश्वास का परिचय दिया। उनके अद्भुत साहस को देखकर तो मुगल सैनिक उनमे अतिप्राकृ-तिक शक्तियो का सन्देह करने लगे—और स्वयं औरंगजेब को जो मुसलमानो का जिन्दा पीर समझा जाता था—अपने हाथो से दुआएं और आयते लिख लिख कर शाही झण्डो में टाँकनी पडी। पंजाब में सिक्खो का असन्तोष बढ़ रहा था। गुरु-

तेगबहादुर की हत्या और गुरु गोविन्दसिंह के बच्चों पर किये गए पाशविक अत्याचार ने उनको तिलमिला दिया था और सिक्खधर्म के नीचे एक साम्यवादी सैनिक जाति का निर्माण और विकास हो रहा था। परन्तु स्वतन्त्र शक्ति अभी इनमें भी नहीं आई थी। स्वयं गुरु गोविन्दसिंह ने ही मुग़लों का मनसब स्वीकार कर लिया था। दक्षिण की दशा और भी खराब थी। औरंगजेब की धार्मिक असहिष्णुता ने दक्षिण के शिया राज्यों की शक्ति सर्वथा क्षीण कर दी थी। वह स्वयं इतनी दुर्व्यवस्था ठीक करने में असमर्थ था—अतएव शिवाजी की अध्यक्षता में मराठे शक्ति संगठित कर रहे थे। कुछ दिन तो वे केवल उपद्रव ही करते रहे परन्तु फिर शिवाजी ने व्यवस्थित राज्य स्थापित कर लिया। गुरु रामदास आदि के प्रभाव से दक्षिण के हिन्दुओं में राष्ट्रीय पुनर्जागृति के लक्षण दृष्टिगत हो रहे थे। भूषण ने शिवाजी की राष्ट्रीय भावना का जो वर्णन किया है, वह अत्युक्तिपूर्ण होते हुए भी वस्तुस्थिति से बहुत दूर नहीं है। शताब्दियों से मुग़ल सेना अपराजेय समझी जाती रही थी, परन्तु शिवाजी ने यह स्वप्न भंग कर दिया। मराठों का यह प्रदेश हिन्दी-भाषी प्रान्तों से दूर था अतएव इस पुनर्जागृति का प्रभाव वहीं तक सीमित रहा—उत्तर के प्रान्त उससे अस्पृष्ट रहे—वहां की हिन्दू जनता अभी उसी प्रकार आत्म-चेतना शून्य थी। राज्य-काल के उत्तरार्ध में सम्राट् का ध्यान दक्षिण पर केन्द्रित रहने के कारण उत्तरापथ में अशांति और अव्यवस्था और भी बढ़ गई। इस प्रकार औरंगज़ेब के शासनकाल में देश की राजनीतिक स्थिति डाँवाडोल थी. विशाल मुग़ल साम्राज्य की चूलें ढीली पड़ गई थीं और वह अपनी विशालता को सम्हालने में असमर्थ हो गया था। शाहजहां और औरंगज़ेब पूर्णतः अहंवादी सम्राट थे—उनको अपने निर्णय अथवा न्याय-विचार में किसी प्रकार का हस्तक्षेप सह्य नहीं था। इसलिए सम्राट् का अपना व्यक्तित्व साम्राज्य के लिए असीम महत्त्व रखता था। ये लोग अपने मन्त्री आप थे। इस भयंकर व्यक्तिवादी राजतन्त्र का परिणाम यह हुआ कि मुग़ल शासन न तो भारतीयों को एक राष्ट्र में परिणत कर पाया और न सशक्त स्थायी राज्य ही प्रतिष्ठित कर पाया। जनता को किसी प्रकार की आर्थिक स्वाधीनता नहीं थी, उसे अपने न्याय-विचार या वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का कोई अधिकार नहीं था, राजनीतिक अधिकार तो उस समय अकल्पनीय थे। शासन पूर्णतः व्यक्ति की इच्छा पर था—जिसके लिए वैधानिक नियमों का कोई महत्त्व नहीं था, विद्रोह और क्रान्ति का ही भय था। मुग़ल सम्राटों की शासन-प्रणाली स्पष्ट रूप से सामन्तीय थी—अकबर के समय में राजकीय कर्मचारियों को नकद वेतन मिलता था परन्तु शाहजहां के राजत्व-काल में आकर इन लोगों की संख्या इतनी बढ़ गई कि राज्य का कोष उसको पूरा न कर पाता था। अतएव शाहजहां को जागीर की प्रथा चलानी पड़ी। इस प्रकार उसके समय में साम्राज्य की शक्ति अमीरों और

जागीरदारो के सैनिकबल पर ही अवलम्बित रहती थी। परन्तु इनमे आपस मे विद्वेष था और इनकी पारस्परिक कलह और दलबन्दी राजसेवा में प्रायः बाधक होती थी। औरंगजेब के समय में राज्य का खर्च और भी बढ गया था—वह हमेशा अपने जागीरदारो और सामन्तो से बडे बडे उपहार लेकर उसे पूरा करने की फ़िराक मे रहता था। एक प्रकार से वह ओहदे बेचने लग गया था। मुसलमान के लिए धार्मिक पाखण्ड, हिन्दू के लिए धर्म-परिवर्तन—और उन दोनो के लिए ही बडी बडी भेंटे— उस समय पद-प्राप्ति के साधन थे। इस प्रकार सामन्तीय शासन निर्बल होगया था—बेचारे जागीरदारो को भेंट के रूप मे इतना धन सम्राट् को देना पडता था कि वे अपना निर्वाह भी नही कर पाते थे—स्वभावत उनके सैनिक बल का ह्रास होने लगा था—व छोटे छोटे जमीदारो के उत्पातो का भी दमन नही कर पाते थे। स० १७६४ मे औरंगजेब की मृत्यु हो गई। अभी तक उसका दृढ व्यक्तित्व धुरी के समान समस्त साम्राज्य को सम्हाले हुए था। उसकी मृत्यु के बाद एक साथ साम्राज्य की शक्तियाँ छिन्न-भिन्न होगई। औरंगजेब के प्रखर अहंवाद ने अपने सभी पुत्रो के व्यक्तित्व को निर्जीव बना दिया था। परिणाम यह हुआ कि उसका कोई भी उत्तराधिकारी इतने वृहत् राज्य को सम्हालने मे समर्थ न हो सका और साम्राज्य का ह्रास बडे वेग से आरम्भ हो गया।

सम्वत् १७६४ के बाद का भारतीय इतिहास घोर राजनीतिक पतन और अव्यवस्था का इतिहास है—यह अशान्ति और अव्यवस्था क्रमश बढती ही गई और अन्त मे सम्वत् १९१४ के गदर मे जाकर इसका पूर्ण पर्यवसान हुआ। मुगलवश की राजनीतिक प्रतिभा नष्ट हो चुकी थी। अन्तःपुर मे क्षुद्र द्वेष और प्रणय की लीला चल रही थी—राज्य के उत्तराधिकारी उचित शिक्षा और संस्कार के अभाव मे विलासी निर्वीर्य एवं व्यक्तित्वहीन हो गये थे। मुग़लो के जैसे राजत्व-विधान के लिये, जहां सम्पूर्ण व्यवस्था सम्राट् के व्यक्तित्व पर ही आश्रित रहती थी, इस प्रकार का वातावरण पूर्णतया घातक सिद्ध हुआ। केन्द्रीय शासन के दुर्बल हो जाने के कारण भिन्न भिन्न प्रान्तो के अधिपति स्वतन्त्र होने लग गये थे—मुग़ल-दरबार स्वयं अमीरो और राजकीय अधिकारियो की उच्चाकांक्षाओ का रंगस्थल बना हुआ था। इन लोगो के पारस्परिक ईर्ष्या द्वेष का ऐसा ताण्डव नर्तन हो रहा था मानो सम्राट् का अस्तित्व ही न रहा हो। फर्रुखसियर के समय मे सैयद भाइयो और तूरानी सर्दारो का उदाहरण इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। सैयद भाई तो बादशाहो को बनाने बिगाडने की शक्ति रखते थे। आगरा और राजपूताना मे जाट और राजपूतो के विद्रोह हो रहे थे, दिल्ली के उत्तर मे सिक्खो का प्रभुत्व बढ रहा था—बन्दा बैरागी के उपद्रवो ने बहादुरशाह और फर्रुखसियर दोनो के नाक मे

दम कर दिया था। दक्षिण में मराठों की शक्ति अप्रतिरुद्ध बढ़ रही थी। निर्बल मुगल शासक प्रायः उनकी शर्तों को मानकर उनको चौथ वसूल करने का फर्मान देकर जैसे तैसे अपनी मुसीबत दूर करते थे। इधर योरोप से आई हुई व्यापारी कम्पनियाँ हिन्दुस्तान की अव्यवस्था से उत्साहित होकर धीरे धीरे परन्तु दृढता से अपने पैर फैला रही थी। अंग्रेजो और फ्रांसीसियों ने काफी प्रभुत्व जमा लिया था। इतिहासकारो ने इस काल के इतिहास को तीन भागो मे विभक्त किया है। १—पहले मे मराठो का प्रभुत्व बढा। सम्वत् १७६५ मे नादिरशाह का हमला हुआ। हिन्दुस्तान की सेना अपना उत्साह और पराक्रम खो बैठी थी—अनुशासन सर्वथा शिथिल हो गया था। निदान नादिरशाह के विजयोत्साह के सम्मुख उसकी घोर पराजय हुई। मुहम्मदशाह बन्दी बना और दिल्ली मे कत्लेआम का हुक्म हुआ। सिन्धु नदी के पश्चिम के प्रान्त ईरानियो के अधीन हुए। शासन और भी जर्जरित हो गया—अवध का सूबेदार सआदत अलीखाँ, बंगाल का अलीवर्दी खाँ और दक्षिण का निजामुलमुल्क आसफजाह स्वतन्त्र हो गये। २—दूसरे भाग मे अवध और दक्षिण के सूबेदारो की गृह-कलह मे आन्तरिक शक्ति क्षीण हो गई। अफगान शासक अहमदशाह अब्दाली के हमले शुरु होगये थे। सम्वत् १८१८ मे उसने मराठो की सम्मिलित शक्ति को पूरी तरह से पराजित कर दिया। मराठों के वर्धमान प्रभुत्व को पानीपत की पराजय मे विशेष आघात पहुँचा। अगरेजो का अधिकार विस्तृत हो चला। उन्होंने बक्सर के युद्ध मे शाह आलम को हराकर अपने आश्रय मे ले लिया—और बंगाल, बिहार, उडीसा की दीवानी के बदले उसे इलाहाबाद और कडा के जिले दे दिये। इधर उन्होने फ्रांसीसी सेना को भी पूरी तरह हराकर उसके बल को निःशेष कर दिया। मराठो का उत्कर्ष एक बार फिर हुआ लेकिन आपस के संघर्षों से वह शीघ्र ही कुण्ठित हो गया। ३—पतन-काल के तीसरे भाग मे मराठो की शक्ति भी निःशेष हो गई और अंगरेजो का प्रभुत्व सम्पूर्ण उत्तरी भारत में दृढ हो गया। मुगल साम्राज्य अब केवल दिल्ली और आगरा के आस-पास तक ही सीमित रह गया था। इस प्रदेश को भी बेचारा शाह आलम अपने नियंत्रण मे नही रख पाता था, क्योंकि उसके पास अपना कोई सैन्यबल नही था। इस समय दिल्ली दरबार की आन्तरिक राजनीति केवल उन षडयंत्रो का इतिहास है जो दरबार के विभिन्न दलों मे वजीर-पद की प्राप्ति के लिये हो रहे थे। इन षडयंत्रो मे मराठे, जाट, रुहेले और अवध के नवाब मुख्य भाग ले रहे थे। उनकी छोटी छोटी लड़ाइयो से उस समय का इतिहास भरा हुआ है।" [डा० ताराचन्द—हिन्दुस्तान के निवासियों का संक्षिप्त इतिहास"]

"शाह आलम के बाद अकबर शाह द्वितीय गद्दी पर बैठा। उसके समय में लखनऊ के नवाबो को बादशाह की उपाधि प्राप्त हुई, अंगरेजो ने उन्हे बादशाह स्वीकार किया। यह स्थिति भी बहुत दिनो तक न रही। अंगरेजो ने बंगाल के बाद बनारस इलाहाबाद और अवध पर अधिकार कर लिया—और फिर कुछ समय मे ही नामशेष मुग़ल राज्य अंत कर सारे उत्तरी हिन्दुस्तान पर अपना राज्य स्थापित कर लिया। इसी समय के एक पत्र मे गवर्नर जनरल एलेनब्रुक ने रेजीडेन्ट टामस मेटकाफ को लिखा था—"बादशाह की ऊपरी शानो-शौकत का शृंगार उतर चुका है। उसके वैभव की पहिली-सी चमक-दमक नही रही, इसलिये कलम के एक डोबे मे बादशाह की उपाधि का अन्त कर देना कुछ भी कठिन नहीं है।"

इस युग मे दूसरे हिन्दू प्रदेशो की भी लगभग यही दशा थी जो दिल्ली राज्य की थी। हिन्दी के रीतिकाव्य का सृजन और पोषण जिन प्रांतो मे हुआ—वे हैं अवध, बुंदेलखण्ड और राजस्थान। अवध की राजनीतिक परिस्थितियो का उल्लेख मुग़ल-साम्राज्य के प्रसंग मे ऊपर हो ही चुका है। राजस्थान मे इस समय मुख्य चार राजवंश थे—अम्बेर के कछवाहे, मेवाड़ के शिशोदिया, मारवाड़ के राठौर और कोटाबूंदी के हाड़ा। राजस्थान का इतिहास भी इस समय पतन का इतिहास है। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि मुग़ल साम्राज्य के इस विनाशकाल मे भी ये लोग अपनी शक्तियो को संचित और एकत्र कर हिन्दू प्रभुत्व स्थापित न कर पाये। और, करते भी कैसे? राजपूतो की अनादि काल से चली आई हुई फूट इस समय तो और भी जोरो पर थी। बहुपत्नीक राजपूत राजाओ के रनिवासो में मुग़ल हरमो की तरह आन्तरिक कलह और ईर्ष्या का नग्न नृत्य होता था—एक एक राजा की कई विवाहित रानियाँ और अनेक रक्षितायें होती थीं। अहंकार इन राजपूतों में इतना भयंकर था कि उसके सम्मुख कोई भी आदर्श, कोई भी सम्बन्ध नही टिक सकता था। पिता-पुत्र मे अधिकार के लिये युद्ध होना यहां भी मामूली बात थी। अगर दिल्ली का औरंगजेब पिता को कैद कर सकता था, तो मारवाड का अमरसिंह अपने पिता की हत्या भी करा सकता था। मेवाड मे चण्डावत और शक्तावत वंशो में भयंकर गृह-कलह थी जिससे मेवाड की सम्पूर्ण शक्ति जर्जर हो गई थी। राजस्थान में पूर्णतः सामन्तीय शासन था—जिसमे सब कुछ शासक के व्यक्तित्व पर ही निर्भर रहता था। राजा का व्यक्तित्व ही शासनचक्र की धुरी था—उसमे शिथिलता आजाने से सम्पूर्ण व्यवस्था का छिन्नभिन्न हो जाना स्वाभाविक था। व्यक्ति की यह प्रधानता एक ओर राजपूतो मे स्वामिभक्ति, देश-प्रेम, जाति और धर्म के प्रति प्रगाढ आस्था जैसे

चारित्रिक गुणों का विकास करती थी, दूसरी ओर निरन्तर अशान्ति गृह-कलह और वैयक्तिक अधिकार-चेष्टा को भी जन्म देती थी—जिसमें संगठन असंभव हो जाता था। बाह्य भय के अभाव में प्रायः आन्तरिक वैर भावना उभर आती थी—और वैयक्तिक प्रति-द्वन्द्वों के कारण सम्पूर्ण व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती थी। जब राजपूत वैयक्तिकता आन्तरिक संगठन में ही इतनी बाधक थी—तो राजस्थान का जातीय संगठन कैसे सम्भव होता? दो एक बार मराठों और मुगलों के विरुद्ध इस प्रकार संगठन के प्रयत्न भी हुए परन्तु उनका कोई सत्परिणाम असम्भव था, क्योंकि राजपूतों का वंशगत अहंकार और उनके शत शताब्दकालीन विद्वेष किसी प्रकार से भी संगठन को विफल कर देते थे। उधर मुगलों की पराधीनता से इनका नैतिक बल नष्ट हो चुका था, अतएव उनमें स्थिरता और सच्ची देशभक्ति का प्रायः अभाव ही था। उनकी ये उत्तेजनाएं सन्निपात के रोगी की उत्तेजनाएं सी थीं।

इस प्रकार ऊपर के अध्ययन से हम निम्नलिखित परिणामों पर पहुँचते हैं:—

(१) समस्त देश युद्धों और विप्लवों से आक्रान्त था जिनके कारण व्यवस्था पूर्णतः छिन्न-भिन्न होगई थी। केन्द्रीय शासन के निर्बल होजाने से विभिन्न प्रान्तों मे छोटे-छोटे महत्वहीन शासन स्थापित हो चुके थे। मुग़ल-साम्राज्य की विराट गरिमा के नष्ट हो जाने से देश की राजनीति में क्षुद्रता आ गई थी।

(२) यह राजनीतिक अधःपतन का युग था। शासन-समुदाय में मौलिक प्रतिभा निःशेष हो चुकी थी। स्वयं औरंगज़ेब भी सफल राजनीतिज्ञ नहीं था। अकबर और उसके सचिव भगवानदास, टोडरमल आदि की राजनीतिक योग्यता की इस युग में कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

(३) इस युग में उत्तरी भारत ने औरङ्गज़ेब को छोड़ कोई भी प्रथम श्रेणी का व्यक्तित्व नहीं उत्पन्न किया—मुग़ल परिवार व्यक्तित्वहीन सन्तानें उत्पन्न कर रहा था। औरंगज़ेब के सभी उत्तराधिकारी कर्मचारियों के हाथ की कठपुतली थे। व्यक्तित्व का इतना घोर अकाल और किसी युग में नहीं पड़ा।

(४) इसी समय, देश पर भयंकर बाह्य आक्रमण हुए—नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के हमलों ने गिरती हुई दीवारों को एक धक्के में धराशायी कर दिया। दिल्ली के कत्ले-आम और पानीपत की पराजय ने देश के रहे-सहे नैतिक बल को भी नष्ट कर दिया।

(५) इस युग का शासन-विधान स्वेच्छाचारी राजतन्त्र था, जो सैनिक-सामन्तीय पद्धति पर चल रहा था। औरंगज़ेब के अशक्त उत्तराधिकारियों के

हाथ मे पड़कर वह ऐसा अस्त-व्यस्त हो गया था, कि उपर्युक्त विधान के सभी दुर्गुण उसमे उभर आये थे।

(६) शाहजहाँ ने अपने शासनकाल के उत्तरार्ध मे जिस धार्मिक असहिष्णुता का श्रीगणेश कर दिया था— औरंगजेब ने उसे पूर्णता को पहुँचा दिया। परिणाम-स्वरूप हिन्दू और मुसलमानो मे पार्थक्य की एक तीखी चेतना उत्पन्न होगई थी। दोनो ही निर्वीर्य हो चले थे। हिन्दू पादाक्रांत थे—मुसलमान विलास-जर्जर।

सामाजिक परिस्थिति :— जैसा कि डा० ईश्वरीप्रसाद ने लिखा है, भारतीय इतिहास यहाँ के सम्राटो के जीवन—उनकी विजय-पराजय का इतिहास है। विदेशी यात्रियो के अतिरिक्त किसी भी देशी इतिहासकार ने भारतीय जनता के सामाजिक जीवन का विवरण नही दिया।

"शाहजहाँ के समय मे हिन्दुस्तान का समाज सामन्तीय आधार पर स्थित था।—सम्राट इस सामाजिक व्यवस्था का केन्द्र था, उसके अधीन मनसबदार या अमीर थे जो ऊँचे ऊंचे ओहदो पर थ। इनके बाद साधारण कर्मचारियों का वर्ग था जो राज्य के छोटे छोटे विभागों मे काम करते थे। उस समय का मध्यवर्ग अधिकतर इन्हीं लोगो से निर्मित था— इनके अतिरिक्त, व्यापारी, साहूकार, दूकानदार आदि भी थ, परन्तु ये लोग आर्थिक दृष्टि से मध्यवर्ग की स्थिति मे होते हुए भी शिक्षा, संस्कृति मे हीन थे। निम्न-वर्ग में नौकरीपेशा लोगो और मज़दूरो के अतिरिक्त भारत का बृहत् कृषक समुदाय भी था, जो सोना पैदा कर मिट्टी पर गुज़र कर रहा था। आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से सारा समाज दो वर्गों मे विभक्त किया जा सकता था—एक उत्पादक वर्ग और दूसरा भोक्ता वर्ग। उत्पादक वर्ग मे कृषक-समुदाय और श्रमजीवी थे। ये लोग शासन और युद्ध के मामलो से सर्वथा पृथक् रहकर अपने खेती-व्यापार के कामो मे लगे रहते थे— सरकार को कर देते थे और उसके बदले आन्तरिक तथा वाह्य उपद्रवो से त्राण पाते थे। भोक्ता वर्ग सम्राट् के परिवार और दरबारो से लेकर उनके नौकर चाकर और दासो तक फैला हुआ था। यह वर्ग राज्य की शक्ति था—अतएव उत्पादक वर्ग पर इसका पूर्ण प्रभुत्व था— सामाजिक स्थिति भी स्वभावत इनकी श्रेष्ठतर थी। इन दोनो के बीच बहुत बडा अन्तर था—शासक और शासित—शोषक और शोषित का।

कवि और कलावन्तों की विचित्र स्थिति :— इन दो वर्गों के अतिरिक्त एक तीसरा वर्ग विद्वानो का था, जो बादशाह, बडे अमीरो और

छोटे छोटे रईसो के आश्रय मे रहते थे। कवि और विशिष्ट कलाकार इसी वर्ग के प्राणी थे। इस प्रकार इस युग मे कवियो और कलावन्तो की स्थिति कुछ विचित्र थी। जन्म से इनका सम्बन्ध प्रायः निम्न और मध्यवर्ग से होता था, परन्तु रहते थे ये उच्चवर्ग के आश्रय में। अतएव यद्यपि इनके व्यक्तित्व का निर्माण दोनो वर्गों के विभिन्न संस्कारो से ही होता था—फिर भी उसमे प्रधानता उच्चवर्ग के संस्कारो और उसी की आशा-आकांक्षाओ की रहती थी, क्योकि बाद मे निर्धन जनता से इनका कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता था। निम्नवर्ग न तो इतना सम्पन्न ही था कि इतनी कृतियो का पुरस्कार दे सके और न इतना शिक्षित ही कि उनका रस ले सके। परन्तु शाहजहाँ के उपरांत इन लोगो के लिये राजकीय आश्रय का द्वार भी बन्द हो गया और औरंगजेब की मृत्यु के बाद तो साम्राज्य की शक्ति का विकेन्द्री-करण वेग से आरम्भ होगया। इसका परिणाम यह हुआ कि कवि और कलाकार भी दिल्ली के दरबार को छोड कर विभिन्न राजाओ, सूबेदारो, नवाबो और रईसों के दरबार मे बिखर गये। स्वभावतः उनकी भी सामाजिक स्थिति बहुत कुछ गिर गई।

मुगल परिवार और मुग़ल दरबार :—शाहजहाँ का राज्य-काल वैभव और ऐश्वर्य से जगमग था। बर्नियर, ट्रैवर्नियर, मैनूची आदि विदेशी यात्री सम्राट् के दरबार का ऐश्वर्य देखकर स्तब्ध होगये थे। उन सभी ने चित्रमय मुग़ल दरबार की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। सम्राट की व्यक्तिगत जीवनचर्या पर अपार धनराशि व्यय की जाती थी। सम्पूर्ण मुग़ल परिवार मे रत्नो और मणियो का मुक्त प्रयोग होता था। उनके वस्त्रो और आभूषणो के व्यय का अनुमान लगाना साधारणतः असम्भव था। सम्राट के लिये प्रति-वर्ष एक हज़ार बहुमूल्य वस्त्र तैयार होते थे, जो वर्ष के अन्त तक दरबार मे आनेवाले अमीर उमराओ को भेंट कर दिये जाते थे। शाहजहाँ वैभव और विलास की मूर्ति था। उसका शरीर स्वर्ण-खचित वस्त्रो, रत्नहारो और बहु-मूल्य इत्रो से आपूर्ण रहता था। मुग़ल अन्तःपुर का वैभव इन्द्रभवन को मात करता था। बर्नियर लिखता है "मैंने ( मुग़ल हरम में ) प्रायः प्रत्येक प्रकार के जवाहिरात देखे है, जिनमे बाज़ तो असाधारण हैं। . . . . . . वे इन मोती की मालाओं को कन्धो पर ओढनी की तरह पहनती हैं। इनके साथ दोनो तर मोतियो की कितनी ही मालायें होती है। सिर मे वे मोतियों का गुच्छा सा पहनती हैं, जो माथे तक पहुँचता है, और जिसके साथ एक बहुमूल्य आभू-षण जवाहिरात का बना हुआ सूरज, और चाँद की आकृति का होता है। दाहिनी तरफ एक गोल छोटा-सा गहना होता हैं, जिसमे दो मोतियों के बीच जड़ा हुआ एक छोटा-सा लाल होता है। कानों मे बहुमूल्य आभूषण पहनती

है, और गर्दन के चारो तरफ़ बड़े २ मोतियो तथा अन्य बहुमूल्य जवाहिरात के हार, जिनके बीच में एक बहुत बडा हीरा, लाल, याकूत या नीलम और इसके बाहर चारो तरफ बड़े २ मोतियों के दाने होते है। ....'' एक शब्द मे, इन बेगमो का सारा शरीर आपादचूड़ जवाहिरातो से ढका हुआ होता था। इनकी पोशाके बहुमूल्य और इत्र में बसी हुई होती थी—दिन मे न जाने कितनी बार ये वस्त्र बदलती थी। रीतिकाव्य की वासक-सज्जाओं को इनसे सीधी-प्रेरणा मिलती होगी। दरबार के अमीरो और कर्मचारियो का जीवन भी कम ऐश्वर्यपूर्ण नही था। अधिकृत राजा भी अपने मुगल अधिपतियो का अनुसरण करते थे। उनके महलो मे भी इन्द्रसभा जुड़ी रहती थी। अवध के नवाबो और जयपुर मारवाड आदि के हिन्दू राजाओ के जीवन-वृत्त इसके साक्षी है। ये लोग भव्य-भवनो मे रहते थे जो विलास की सामग्री से जगर-मगर होते थे। उत्सवो और पर्वों के दिनो मे इनमे शोभा का स्वर्ग उतर आता था। तुलना कीजिए :—

(१) प्रतिबिम्बित जय साह-दुति दीपति दरपन-धाम।<br>
सब जगु जीतन कौ कर्यौ काय-व्यूहु मनु काम॥

[ बिहारी सतसई ]

(२) फटिक सिलान सो सुधारयो सुधा-मंदिर,<br>
उदधि-दधि को सो अधिकाई उमगै अमंद,<br>
बाहिर ते भीतर लौ भीति न दिखैयै 'देव'<br>
दूध-कैसो फेनु फैलो आँगन फरस बंद।<br>
तारा-सी तरुनि तामै ठाढी झिलिमिलि होति,<br>
मोतिन की जोति मिली मल्लिका को मकरद;<br>
आरसी-से अम्बर मै आभा-सी उज्यारी लागै,<br>
प्यारी राधिका को प्रतिबिम्ब-सो लगत चंद॥

[ देव : सुजान-विनोद ]

नगर से बाहर चित्र-विचित्र उपवन और उद्यान सुशोभित थे—और स्थान-स्थान पर रमणीक सरोवर, जिनके पार्श्वों पर खडे हुए बिहारी और देव जैसे अनेक रसिक मणि 'कुच आँचर बिच बांह' देकर भीगे-पट घर को जाने वाली सुन्दरियो की शोभा निरखते रहते होगे। औरंगजेब के बाद जब देश की समृद्धि का क्षय होने

लगा—तो वास्तविक वैभव का स्थान वैभव के प्रदर्शन ने ले लिया जो घोरतर पतन का सूचक था।

विलास और शृंगारिकता :—वैभव और विलास का सहज सम्बन्ध है। अतिशय वैभव का यह युग अतिशय विलास का युग भी था। मुग़ल अंतःपुर में हज़ारो स्त्रियाँ रहती थी। बर्नियर के साक्ष्य के अनुसार बहुधा राज-महलों मे भी भिन्न २ वर्गों और जातियो की २००० स्त्रियाँ रहती थीं—जिनके कर्त्तव्य-कर्म भिन्न भिन्न होते थे। इनमे अनेक बादशाह की सेवा और बहुत-सी शाहजादियो के मनोरजन और शिक्षा आदि के लिए नियुक्त थी। शिक्षा प्रायः आशिकाना गज़लो, फारस की अश्लील प्रेम-कहानियो आदि की ही होती थीं। इनमें से बुड्ढी स्त्रियो से जासूसी का काम लिया जाता था। ये कुटनियाँ स्थान-स्थान से सुन्दरी स्त्रियो को धोखे-फरेब या लालच से महल मे ले आती थी। रीतिकाव्य की दूतियां बहुत कुछ इनका ही प्रतिरूप थी। सम्राट के महलो मे सुन्दरी के साथ सुरा का भी उन्मुक्त व्यापार था। मदिरापान उस समय का सबसे भयंकर व्यसन था। हिन्दू और मुसलमान समान रूप से धार्मिक निषेधो का उपहास करते हुए मदिरा का निर्बाध सेवन करते थे। अमीरो और राजाओ के महलो मे शृंगारिकता का नग्न नृत्य होता था। सैनिक शिविरो मे भी वेश्याओं का जमाव रहता था—मुग़ल सेना की सहायता के लिए कामदेव की भी बृहत् सेना चला करती थी। छोटे-छोटे अधिकारियो और रईसो के सामने भी यही आदर्श था और उनका भी सारा समय भोग-विलास मे ही व्यतीत होता था, जिसका विवरण देव और अन्य कवियो के अष्टयामों में अत्यन्त स्पष्ट रूप से मिलता है।

औरगजेब ने इस अतिचार को बन्द करने का प्रयत्न किया—उसने सुरा और अन्य मादक वस्तुओ को निषिद्ध कर दिया। वेश्याओ को शादी के लिए मजबूर किया, परन्तु समस्त देश मे वासना का सागर ऐसे प्रबल वेग से उमड रहा था कि शुद्धिवादी सम्राट के सभी निषेध-प्रयत्न उसमे बह गये। अमीर उमराओ ने उसके निषेध-पत्रो को शराब की सुराही मे उसी तरह गर्क कर दिया, जिस तरह कि कुछ वर्ष बाद स्वयं औरंगजेब के उत्तराधिकारी मुहम्मदशाह रंगीले ने नादिरशाह के पत्र को गर्क कर दिया था। मदिरा और प्रमदा के अतिरिक्त विलास के अन्य साधन भी प्रचुर मात्रा मे वर्तमान थे। अनेक प्रकार के स्वादिष्ट भोजन और पकवानो का उपयोग होता था। साहित्य मे बदनाम पद्माकर का यह छंद उसकी एक क्षीण झांकी भर देता है :—

गुलगुली गिलमें गलीचा है गुणीजन है चांदनी है चिक हैं चिरागन की माला है।
कहै पद्माकर त्यो गजक गिजा है सजी सेज है सुराही हैं, सुरा हैं और प्याला है

शिशिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हैं जिनके अधीन एते उदित मसाला है।
नानतुक ताला है बिनोद के रसाला हैं सुबाला है दुशाला है विशाला चित्रशाला हैं॥
( जगद्विनोद )

विलास की अगणित ललित क्रीडाओं का सचय था—अंतःपुर मे शतरंज, चौसर और गंजफ़ा के खेल इनका मनोरंजन करते थे—बाहर शिकार या पतंगबाजी, तरह-तरह के पशुपक्षी—कबूतर, लाल तोता, मैना आदि के स्वरो से रनवास गूंजते रहते थे। अकबर के ज़माने की हाथी और चीतों की लडाई का स्थान अब बाज और सिकरों की लडाई ने ले लिया था।

बिहारी के अनेक दोहो मे इनका प्रतिबिम्ब मिलता है :—

(अ) उडत गुडी लखि लाल की अँगना अँगना माँह।
बौरी लौं दौरी फिरति, छुवति छबीली छाँह॥

(आ) ऊंचे चितै सराहियत, गिरह कबूतर लेतु।
झलकित दृग, मुलकित बदनु, तनु पुलकित किहिं हेतु॥

( सतसई )

देश की परिस्थिति ज्यो-ज्यो बिगडती गई, त्यो-त्यो विलास के ये साधन भी अधिक अस्वस्थ होते गये, जिन से समाज का मानस पूर्णतः विकृत हो गया।

अमीवर्ग —अमीवर्ग की दशा इसके बिल्कुल विपरीत थी। वर्ण-व्यवस्था का लोप हो चुका था। अत. समाज व्यवसाय और पेशो के अनुसार भिन्न-भिन्न वर्गों मे विभक्त था। सभी वर्णों के लोग सुविधानुसार प्राय: सभी काम करते थे, परंतु इन बेचारो का जीवन दैन्य और शोषण से आक्रान्त था। इनमे अधिकतर आबादी किसानो ही की थी। दिन भर काम करने के उपरान्त ये ग़रीब सिर्फ एक बार ही भोजन कर पाते थे। मुग़ल बादशाहो के असंख्य युद्धो, बहुमूल्य इमारतो, उनके और उनके अमीरो के विलास-वैभव सभी का भार अंत मे जाकर इन किसानो पर ही पडता था। सचमुच इस समय के प्रासाद इन्ही लोगो की हड्डियो पर खडे हुए थ, इन्हीं के आँसू और रक्त की बूँदे जमकर अमीरो के मोती और लालो का रूप धारण कर लेती थी। राजा के अबाध अपव्यय की क्षतिपूर्ति अनेक प्रकार के उचित-अनुचित कर्मों द्वारा की जाती थी, कर्मचारीगण राजा का और अपना उदर किसानों का खून चूसकर भरते थे। सम्राट्, सूबेदार, फौजदार, ज़मीदार सभी का शिकार बेचारा किसान था, जिसके कष्टो को केवल भगवान् ही शायद सुन सकता था। शाही सेना के सिपाही, बनजारो की टोलियाँ, राजपूताने के डाकू उनकी हरी-भरी फसलो को तहस नहस कर देते थे, घर-बार लूट लेते थे। दीन प्रजा सर्वथा

त्रस्त होकर त्राहि-त्राहि कर उठी थी। मजदूरों और कारीगरों को यों ही बेगार के लिए पकड़ लिया जाता था। उनकी मजदूरी अक्सर कांटे से मिलती थी। उधर भयंकर अकाल और महामारी के प्रकोपों ने उनका जीवन असह्य कर दिया था। इस प्रकार हिन्दुस्तान की आर्थिक स्थिति एक साथ बिगड़ गई थी। देश की धन-समृद्धि का ही नाश नहीं हुआ, वरन् शिल्प, कौशल, संस्कृति और कला की भी दुर्गति होगई थी।

हिन्दू मुसलमानों की जातीय स्थिति :—हिन्दुओं की राजनीतिक पराजय ने उनके जातीय संगठन को सर्वथा छिन्न-भिन्न कर दिया था। किसी दृढ़ आधार के अभाव में हिन्दुओं में जाति-भेद की भावना प्रबल हो उठी थी। वेद-मन्त्रों के उच्चारण अथवा यज्ञोपवीत धारण करने के अधिकारों को लेकर उनमें आपस में भयंकर संघर्ष चल रहे थे। धार्मिक दम्भ अबाध गति से बढ़ रहा था। शूद्र सर्वथा अस्पृश्य समझे जाते थे, उधर मुसलमान समस्त हिन्दू जाति को ही हीन समझते थे। शासन उनका था ही, अतएव हिन्दुओं की अपेक्षा उनकी सामाजिक स्थिति का श्रेष्ठतर होना स्वाभाविक था। हिन्दुओं के साथ शाहजहाँ के समय से ही ज्यादतियाँ हो रही थीं, उनके मन्दिर तुड़वा दिये गये थे। विद्यालय और पुस्तकालय नष्ट कर दिये गये थे; उत्सव और मेलों पर प्रतिबन्ध था। राज्य के पदाधिकार उनके लिये प्रायः वर्जित ही थे। इस प्रकार हिन्दू मुसलमानों में पार्थक्य की एक तीव्र चेतना अब भी बनी हुई थी। परन्तु औरंगजेब के बाद ज्यों-ज्यों मुग़ल शासन क्षीण होता गया और देश विपत्तिग्रस्त होता गया, यह पार्थक्य कुछ कम अवश्य होने लगा था। उनके सामाजिक सम्पर्क गहरे होने लगे—निर्गुण सन्तों और सूफी फ़कीरों के प्रभाव से उनकी धार्मिक भावनाओं में भी थोड़ा बहुत समन्वय हुआ। उधर उनके पारस्परिक आचार-विचारों में भी बहुत कुछ समता आगई। हिन्दू-मुसलमानों के उत्सव, संस्कार, रीति-रिवाज, आमोद-प्रमोद आदि में साधारणतः भेद करना कठिन हो गया। गाँव के लोगों के व्यवहारों में तो यह अभेद और भी अधिक था। परन्तु यह एकता किसी प्रकार स्थायी नहीं थी—थोड़े से भी उलट-फेर से स्थिति बिगड़ जाती थी, स्वयं मुसलमानों में शिया और सुन्नी का - तूरानी और ईरानी का भयंकर भेद-भाव था।

नैतिक अवस्था :—राजनीतिक और सामाजिक अधोगति का स्वाभाविक परिणाम था नैतिक अधोगति। हिन्दू युग युग से पादाक्रान्त रहने के कारण—और मुसलमान विलास तथा आंतरिक एवं बाह्य द्वन्द्वों से जर्जर होकर, अपना नैतिक बल खो बैठे थे। दोनों की निर्बाध इंद्रिय-लिप्सा की ओर संकेत ऊपर हो चुका है, पर वह नैतिकता का एक पहलू है। इसके अतिरिक्त अन्य सभी पहलू भी इस

युग में सर्वथा दुर्बल हो गये थे। अपने अनियंत्रित अपव्यय को भरने के लिये कर्मचारी वर्ग खुले-आम रिश्वत लेता था। बड़े-बड़े अधिकारियों से लेकर छोटे छोटे कर्मचारियों तक रिश्वत का बाज़ार गर्म था। स्वयं बादशाह ओहदे बेचते थे और आवश्यकता पड़ने पर दूसरों को उत्कोच देकर अपने पक्ष में करने का प्रयत्न भी करते थे। औरंगज़ेब ने अनेक दुर्ग इसी प्रकार विजय किये। अनेक हिन्दुओं को धन और ओहदों का लालच देकर मुसलमान बनाया। उसके बाद के सम्राट शक्तिशाली अमीरों और बाह्य आक्रमणकारियों से, घूस देकर ही, अपनी रक्षा करते रहे। शाही खानदान विलास-जन्य दुर्गुणों का केन्द्र था—वहाँ ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट और षडयन्त्रों का नंगा नाच होता था। उत्तराधिकार के लिए होने वाले षडयन्त्रों और युद्धों में मुग़ल राजकुमारों ने जिस नृशंसता और पापाचार का परिचय दिया उसका नैतिक प्रभाव जनता पर बहुत ही बुरा पड़ा। प्रजा के हृदय से स्वामिभक्ति, सत्याचरण और कर्त्तव्य-निष्ठा की भावनाएं लुप्त हो गई, स्वार्थ-साधना प्रबल हो उठी। बाद में जहाँदारशाह जैसे बादशाहों ने तो मुगलवंश का गौरव बिलकुल ही धूल में मिला दिया। उसकी रखैल लाल कुँवर स्वयं सम्राट् और बड़े-बड़े अमीरों का जनता में अपमान कर देती थी। यही व्यवहार राजपूताना में मारवाड़-नरेश विजयसिंह की पासवनी वेश्या उसके और उसके सामन्तों के साथ कर रही थी। शाहज़ादों, राजपुत्रों एवं अमीरज़ादों की शिक्षा का उचित प्रबन्ध नहीं था। उनका भरण-पोषण जिस कलुषित वातावरण में होता था, वह इन्हें विलासी और निर्वीर्य ही बना सकता था—उनपर हिजड़ों और युवती दासियों का प्रभुत्व था। उनके शिक्षक भी वेतनभोगी सेवकों से अधिक सम्मान नहीं पाते थे। यही कारण था कि छोटी उम्र से ही वे (औरंगजेब के प्रधान मन्त्री के पोते) मिर्ज़ा तफ़ज्जुर की तरह बाजार में आवारागर्दी और औरतों से छेड़-छाड़ शुरू कर देते थे। जनता के आचार-रक्षकों के प्रयत्न केवल पाखण्ड की ही वृद्धि कर रहे थे। नैतिक बल के ह्रास से लोग पूर्णतः भाग्यवादी बन गये थे। सभी वर्ग के लोगों की ज्योतिष में प्रगाढ़ आस्था थी—सम्राट और अमीरों के साथ-साथ ज्योतिषियों का एक समुदाय चलता था। हिन्दू नृपतियों की अंध आस्था का तो कहना ही क्या? वे तो शकुन के बिना पत्ता भी नहीं तोड़ सकते थे। इस घोर भाग्यवाद का स्वाभाविक परिणाम था नैराश्य। वास्तव में इस सम्पूर्ण युग को ही नैराश्य का गहन अंधकार आच्छादित किए हुए था। शाहजहाँ और औरंगज़ेब के पत्रों में—इस युग की सभी घटनाओं में—विषाद की गहरी छाया स्पष्ट है, और ज्यों ज्यों समय बीतता गया यह छाया भी गहरी ही होती गई। भीषण राजनीतिक विषमताओं ने बाह्य जीवन के विस्तृत क्षेत्र में स्वस्थ अभिव्यक्ति और प्रगति के सभी मार्ग अवरुद्ध कर दिये थे। निदान, लोगों की वृत्तियाँ अंतर्मुखी होकर अस्वस्थ काम-विलास में ही अपने को व्यक्त करती

थी। बाह्य जीवन में त्रस्त होकर उन्हें अंतःपुर की रमणियों की गोद में ही त्राण मिल सकता था। अतिशय विलास की रंगीनी नैराश्य की कालिमा में ही अपने रङ्गों का संचय कर रही थी। युग-जीवन की गति जैसे रुद्ध हो गई थी।

धार्मिक परिस्थिति :—धर्म की स्थिति और भी दयनीय थी। जैसा कि डा० ताराचन्द ने लिखा है, इस समय हिन्दू और मुस्लिम धर्म के अनुयायियों में तीन प्रकार के लोग थे। पहिला वर्ग विद्वानों पण्डितों और मौलवियों का था, जो विधिवत शास्त्रीय धर्म का अध्ययन और अनुसरण करते थे। ये लोग अपने धर्म-ग्रन्थों की आज्ञाओं का अक्षरशः पालन करते थे। अपना धर्म इनके लिये एक सनातन सत्य था और शास्त्रों की वाणी ईश्वर की वाणी थी, जिसमें किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं था। हिन्दी प्रान्तों में, शास्त्रीय धर्मों में इस समय मुख्यतः वैष्णव धर्म की शाखा-प्रशाखाओं का प्रचार था और उनमें भी सब से अधिक प्रचलित थी कृष्ण-भक्ति शाखा, क्योंकि वही युग की प्रवृत्ति के सब से अधिक अनुकूल थी। कृष्ण-सम्प्रदाय में भी इस समय तक कई उप-सम्प्रदाय आविर्भूत हो गये थे और विभिन्न स्थानों पर उनकी गद्दियाँ विद्यमान थीं। वल्लभ-सम्प्रदाय में विट्ठलनाथ जी की मृत्यु के उपरान्त उनके सात पुत्रों ने गोकुल, कामवन, कॉकरौली, श्रीनाथद्वारा, सूरत, बम्बई और काशी में भिन्न-भिन्न सात गद्दियाँ स्थापित कर ली थीं। इन लोगों में अनेक विद्वान् हुए—उदाहरणार्थ कॉकरौली के गो० हरिरायजी महाराज जिन्होंने श्रीनाथजी की प्राकट्यवार्ता का प्रणयन किया। इनके अतिरिक्त अन्य गोस्वामियों ने भी वल्लभाचार्य के अणु-भाष्य की व्याख्या करने का क्रम प्रचलित रक्खा, परन्तु गोकुलनाथ जी के उपरान्त इस सम्प्रदाय में किसी ने भी मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण कार्य नही किया। बाद में गद्दियों के स्थापित हो जाने से इन लोगों पर भी देश की तत्कालीन लोकरुचि का प्रभाव पड़ा। वैभव के अभिशाप से ये भी अछूते नहीं रह पाये। इन गोस्वामियों का सम्पर्क राजा और श्रीमानों से बढ़ने लगा और ये उन्हें ही गुरु-दीक्षा देने के लिए लालायित रहने लगे। जनता की इनकी गद्दियों में कोई पूछ नहीं थी, और चूंकि ये लोग जनता में बाहर जाकर धर्म का प्रचार नही करते थे अतएव उससे उनका सम्पर्क स्वभावतः ही कम हो गया था। साथ ही राजसी ठाठ-बाट के वातावरण में रहने के करण इनकी साधना और तत्वचिंतन में भी शैथिल्य आ गया था। धर्म का तात्विक विकास एकदम रुक गया था और उसके स्थान पर भक्ति के बाह्य विलास अत्यन्त समृद्ध

हो गये थे। सेवा-अर्चना की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विधियों का आविष्कार हो गया था। जब भक्त लोग इस प्रकार ऐश्वर्य और विलास में संलग्न थे तो भगवान् उससे कैसे वंचित रहते।

उनके विलास के लिए भी इतने साधन एकत्रित किये गये थे—"कि अवध के नवाब तक को उनसे ईर्ष्या हो सकती, या कुतुबशाह भी अपने अन्तःपुर में उनका अनुसरण करना गर्व की बात समझते।" यही दशा माधव, निम्बार्क, चैतन्य तथा राधावल्लभीय सम्प्रदायों की गद्दियों की थी। उनमें राधा की महत्ता के कारण श्रृंगार भावना और भी स्पष्ट रूप से व्यक्त हो रही थी।

चैतन्य-सम्प्रदाय का वृन्दावन और बंगाल में खूब जोर था। कीर्तन की लोक-प्रियता के कारण उसका जनता से घनिष्ठ सम्पर्क था। अतः उसमें अपेक्षाकृत जीवन भी अधिक था। परन्तु उसने लोगों की भक्ति-भावना के साथ परकीया भाव को भी प्रोत्साहन दिया। उधर रूपगोस्वामी ने सम्पूर्णनायिका-भेद को ही कृष्ण-भक्ति में फिट कर दिया। कृष्ण-सम्प्रदाय के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों में भी इसी प्रकार तत्व-चिन्तन क्षीण और वाह्य अर्चन-विलास समृद्ध हो चला था।

मठ और मन्दिर देवदासियों और मुरलियों के चरणों की छुन-छुन से गूँजते रहते थे। महाराष्ट्र में अवश्य इस समय तुकाराम के अभंगों और रामदास के दासबोध द्वारा धार्मिक जागृति हो रही थी। तुकाराम, तुलसी और सूर की कोटि के सन्त और कवि थे। उनके अभंगों ने दक्षिण भारत की जनता को शुद्ध भक्ति रस में विभोर कर दिया, और उधर रामदास ने भी जीवन-गत धर्म की प्रतिष्ठा कर जनता में उत्साह और शक्ति का संचार किया। सिक्ख धर्म में भी यथेष्ट जीवन था, परन्तु ये सभी धार्मिक प्रवृत्तियाँ हिन्दी प्रान्तों से बाहर पड़ती थीं। अतएव हिन्दी साहित्य से उनका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था। तात्पर्य यह है कि जन-जीवन की धारा से असम्पृक्त रह कर धर्म इस युग में रूढ़िवाद बन गया था। जीवन की शक्ति उसमें नहीं रह गई थी। सम्पन्न हिन्दुओं में धर्म के प्रति आस्था तो निःशेष हो चुकी थी केवल धर्म-भीरुता शेष थी। इस युग के सम्राटों का दृष्टिकोण पूर्णतः ऐहिक था और उनके प्रभाववश उनके निकट सम्पर्क में आने वाले उच्च वर्ग और सम्पन्न मध्य वर्ग का भी यही दृष्टिकोण हो गया था। मुसलमानों के लिए तो इस ऐहिकता को स्वीकार कर लेना सहज था, परन्तु हिन्दुओं का पूरी तरह इसी रंग में रंग जाना उतना सरल नहीं था। उनकी प्रवृत्ति उन्हें

ऐहिकता की ओर खींचती थी, परन्तु संस्कारों पर परलोकवाद का बोझ था। परिणाम यह हुआ कि धर्म का नीति और विवेक से सम्बन्ध टूट गया। धर्म की आन्तरिक आत्मिक शक्ति क्षीण हो गई। वाह्य विलास और प्रसाधन बढ गये और विलासी लोग धर्म के उन्हीं शृङ्गार-परक रूपों की ओर आकृष्ट होने लगे, जिनमें उनके अपने विलास-पूर्ण जीवन का समर्थन मिलता था। इस प्रकार इस युग में धर्म का स्वस्थ दार्शनिक आधार सर्वथा नष्ट-भ्रष्ट हो गया था।

इस्लाम को हिन्दू धर्म की अपेक्षा विजेताओं का धर्म होने का लाभ था, परन्तु उसके अनुयायियों का भी धार्मिक जोश ठण्डा पड गया था। मुल्ला और मौलवी यद्यपि अब भी विभिन्न जल-वायु और देश-काल में रची हुई कुरान की आयतों का कट्टरता से पालन कर रहे थे। 'हिफ्जे कलामुल्लाह' का अब भी उनको उतना ही आग्रह था, परन्तु मुसलमानों के राजनीतिक और नैतिक अधःपतन का प्रभाव इस्लाम पर भी पडे बिना नहीं रहा था। उनमें भी रूढिवाद का प्रचार बढ रहा था। मुसलमान जनता की आत्मिक तृप्ति कुरान को हिफ़्ज करने भर से नहीं होती थी, क्योंकि हिन्दू शास्त्रों की भाँति कुरान भी सामयिक जीवन के प्रवाह से दूर पड गया था। रीति-काल मे धार्मिक आभिजात्य की यही दशा थी।

इनको छोड कर अब दूसरे बृहत् वर्ग पर आइये। यह अशिक्षित जन-समुदाय का वर्ग था। ये लोग स्वभावतः अन्धविश्वासी थे। इनकी भक्ति-भावना धर्म के वाह्यांगों तक ही सीमित थी। ये लोग व्रत तीर्थ आदि मे विश्वास करते थे। सन्तों और पीरो की सब प्रकार की अन्ध-परम्पराओं और रीतियो का पालन करते थे। जादू-टोने मे भी इन्हे प्रगाढ विश्वास था। झुण्ड के झुण्ड स्त्री-पुरुष पीरो के तकियों पर अपनी मुरादें लिए पहुँचा करते थे और ये लोग, जो अधिकांश मे रंगे हुए सियार होते थे, उनको फ़र्जी तावीज़ वग़ैरह देकर ख़ूब लूटते और भ्रष्ट करते थे। मनुष्य पूजा भी अपनी विकृत रूप में वर्तमान थी। हिन्दू मुसलमान दोनो ही अपने गुरुओ और पीरो को ईश्वर का दर्जा देने लग गये थे। डाक्टर सरकार लिखते हैं कि हिन्दुओ का अन्ध-विश्वास यहाँ तक बढ गया था कि वे प्रत्येक विशाल बाहु व्यक्ति को हनुमान का अवतार मान कर पूजना शुरू कर देते थे। इतना होने पर भी बहुत बडी संख्या राम-कृष्ण के ही उपासको की थी। राम और कृष्ण की जीवन-गाथा ही इनके लिये धर्म-ग्रंथ थी। वर्ष मे रामलीला और रासलीला नियमित रूप से हुआ करती थी और विभिन्न पर्वों पर उत्सवो तथा कथा-कीर्तनो का आयोजन किया जाता था जिनमे रामचरितमानस की कथा होती थी, सूरदास और मीरा के पद गाये जाते थे। मुसलमानों मे उर्स होते थे, जहाँ सूफ़ियाना ग़ज़लें और कव्वाली गा गा कर वे लोग अपनी भक्ति-भावना प्रकट करते थे। इस प्रकार जनता की धर्म-भावना उनके मनोविनोद का साधन भी थी। वही लौकिक संकटो मे ग्रस्त नर-

नारियों के हृदय मे परलोक की आशा उत्पन्न कर उत्साह और उत्फुल्लता का संचार करती थी। अन्यथा उसका जीवन असह्य हो जाता। इस धार्मिकता मे अन्ध-विश्वास होते हुए भी जीवन की शक्ति थी क्योंकि इसका सीधा सम्बन्ध जनता के नित्यप्रति के संघर्ष से था। यह परम्परा का पालन मात्र नही था, जीवन की आवश्यकता थी।

इन दोनों वर्गों के अतिरिक्त एक तीसरा उदार वर्ग भी था जो शास्त्रीय कट्टरता और रूढिवाद से दूर रह कर हिन्दू और मुसलमान दोनो को एक समान आधार पर संयुक्त कर रहा था। यह वर्ग कबीर, नानक, दादू आदि निर्गुण सन्तो की परम्परा का अनुयायी था। इनका मूल सिद्धान्त था ईश्वर की अविभाज्य एकता जिसका आधार हिन्दुओं का वेदान्त और मुसलमानों का एकेश्वरवाद था। ईश्वर की एकता का स्वाभाविक परिणाम है सृष्टि की एकता—अर्थात् जीवमात्र की समानता। ईश्वर के प्रेमी का कर्तव्य है कि वह उसकी सृष्टि के जीवमात्र से समान प्रेम करे। अतएव हिन्दू मुसलमान ब्राह्मण शूद्र का अन्तर मिथ्या है। संसार दुःखो की खान है। इसलिए संसार से विमुख होकर परमार्थी को ईश्वर से प्रेम करना चाहिए। जीवन मे त्याग और तपस्या की आवश्यकता है। तत्व-चितन और आंतरिक भक्ति से परमात्मा मिलता है वाह्य आचारो से नही। स्वभावतः ये लोग व्रत, तीर्थ, रोज़ा, नमाज़, जात-पांत, अवतारवाद, मूर्ति-पूजा और शास्त्रीय धर्म की अन्य विधियों का तिरस्कार कर केवल आत्मशुद्धि को ही मुक्ति का साधन मानते थे। इनके लिये निर्गुण ब्रह्म मे लीन होना ही मानव जीवन की सार्थकता थी। प्रेम का मार्ग वडा कठिन है, उस पर चलना गुरु के विना असम्भव है। अतएव सन्त गुरु की इन सम्प्रदायो मे बडी महिमा थी। इन सन्तो ने हिन्दुओ से योग और सूफियो से प्रेम की भावना ग्रहण की थी।

हिन्दुओ मे इस प्रकार के अनेक पंथ वर्तमान थे, जिनमे सतनामी, लाल-दासी, नारायणी आदि सत्रहवी शताब्दी मे प्रमुख थे। धरनीदास और प्राणनाथ के अनुयायियों का प्रचार-काल अठारहवी शताब्दी के अन्त तक था। इनमे जग-जीवन, बुल्ला, साहव, चरनदास और उनकी दो शिष्याये सहजो और दयाबाई अपने पवित्र जीवन और मधुर बानियो के लिए प्रसिद्ध है। इनके वाद दूलनदास, भीखा, पलटूदास आदि हुए जो उन्नीसवी शताब्दी तक जीवित रहे। ये पंथ भेदभाव से रहित होने के कारण पूर्णतः सुसंगठित थे और आवश्यकता पडने पर अपनी शक्ति का परिचय भी दे सकते थे, जैसा कि औरंगजेब के समय मे सतनामियो ने किया। इनमे से काफी ऐसे भी थे जो संयत रूप से सासारिक जीवन व्यतीत करते थे। घर वार छोड कर जंगल मे धूनी रमाना इन्हे प्रिय नही था। ये विवाहित थे और स्त्री-पुरुष दोनो को समान रूप से उपदेश देते थे। समाज के निम्न वर्ग मे से उद्भूत

होने के कारण इनमे सामाजिक मिथ्याचार नही था । इसलिए उपेक्षित जनता पर इनका अधिक प्रभाव था । लेकिन धीरे-धीरे सम्पन्न व्यक्तियों के दीक्षित होने से इनमे भी गद्दियाँ बनने लग गई थी, जिससे इनमे भी विलास-वैभव की तृष्णा उत्पन्न हो चली थी ।

मुसलमानो मे भी इनके समानान्तर कई सिलसिले थे, जिनमे शेख मुइनुद्दीन चिश्ती का चिश्तिया सिलसिला सबसे अधिक प्रभावशाली था। इसके अतिरिक्त निज़ामिया, नक्शबन्दियाँ, कादिरिया, शत्तारिया इत्यादि और भी सिलसिले काफी लोकप्रिय थे । हिन्दुओ के पथो और मुसलमानो के इन सिलसिलो में बहुत-सी बाते मिलती जुलती थी—"दोनो का विश्वास था कि ईश्वर एक है, पर उसके अनेक नाम हैं । दोनो समझते थे कि बिना किसी धार्मिक शिक्षक ( गुरु या पीर ) की शरण लिए मुक्ति प्राप्त करना कठिन है । आत्मा को पहिचानने के लिए वे एक ही प्रकार के तरीको का व्यवहार करते थे । दोनो ध्यान और समाधि के साधन और इस मार्ग के अनुभव और अवस्थायें एक समान जानते थे । दोनो कपट, दिखावटी कर्मकाण्ड और पूजा-पाठ को, आदमी आदमी के भेदों को, वह जन्म, धन या स्थिति चाहे किसी पर निर्भर हो, बुरा कहते थे । शान्ति और तपस्या के जीवन का एकमात्र आदर्श उन्हें आकर्षित करना था । दोनो के हृदयो मे इस संसार के त्याग की परमाकांक्षा थी और दोनो का उद्देश्य ईश्वर के प्रेम का जीवन था। यह पवित्र धर्म मनुष्यो की आत्मा और चरित्र को ऊँचे उठाना था । इसके प्रभाव से समाज मे सब वर्णो और जातियो के लोगो की स्वतन्त्रता और बराबरी की समान इच्छा जागृत हुई । मनुष्य का स्त्रियो के प्रति भाव बदलने लगा, बहुत से सुधार के कार्य उठाये गये और हिन्दुओ मुसलमानो मे निकट का सम्पर्क स्थापित हुआ ।"

[ डा० ताराचन्द –हि० के वि० का सं० ३ ]

फिर भी समग्र रूप मे विचार करते हुए, इन पंथ-प्रवर्तको को विशेष महत्व देना अनुचित होगा क्योंकि इनमे से कोई भी मौलिक प्रतिभावान नही था । इनके सिद्धान्त कबीर के सिद्धान्तो की क्षीण पुनरावृत्ति मात्र थे । इनमें से किसी ने भी तत्व-दर्शन मे कोई मौलिक योग नहीं दिया और न सन्त-साहित्य की विशेष श्रीवृद्धि ही की । कबीर की क्रान्त-दर्शी प्रतिभा, नानक और दादू की द्रवणशीलता और सुन्दरदास की विद्वत्ता इनमे दुर्लभ थी । ये लोग तो बानियो के प्रचारक मात्र थे—स्रष्टा नहीं । प्रगति और सुधार का वह दुर्दम उत्साह, आहत आत्मा की वह पुकार, जिसने १५वीं शताब्दी में सामाजिक और धार्मिक क्रान्ति उपस्थित कर दी थी, इस पतन-काल में सम्भव नहीं थी ।

बौद्धिक ह्रास :—इस समय हिन्दुस्तानियों का बौद्धिक धरातल बहुत

नीचा हो गया था। हिन्दुओ के लिए पृथ्वी और स्वर्ग दोनो का ही मार्ग बन्द था, उनके व्यक्तित्व-विकास के लिए कोई क्षेत्र नहीं था। युग-युग की दासता ने उनके नैतिक बल के साथ बौद्धिक प्रतिभा भी नष्ट कर दी थी। रामचरितमानस के स्थान पर अब ब्रज-विलास की ही रचना हो सकती थी। सूर और नन्ददास की प्रतिभा सर्वथा लुप्त हो चुकी थी, परन्तु उनकी शृङ्गारिकता का निर्जीव अनुकरण अब भी बडे उत्साह के साथ हो रहा था। कृष्ण-काव्य की दिव्य प्रेरणा के स्थान पर अब स्थूल ऐन्द्रियता या निष्प्राण अलंकरण ही शेष रह गया था। अयोध्या के भक्त कवि राम का भी इसी रूप मे अत्यन्त शृङ्गारिक चित्रण कर रहे थे। कबीर का स्थान उधर पलटू या भीखा साहब ने ले लिया था। संस्कृत साहित्य का विकास तो जैसे सर्वथा अवरुद्ध-सा ही हो गया था। पण्डितराज जगन्नाथ के उपरान्त साहित्य-शास्त्र में केवल नन्जराज यशोभूषण का नाम मिलता है, जो कि कवि-शिक्षा का एक अत्यन्त साधारण ग्रन्थ है। काव्य मे जो दो एक ग्रन्थ मिलते हैं उनमें चमत्कार-क्रीडा और घोर शृङ्गारिकता की प्रवृत्ति ही शेष है। मोरोपंत की मंत्र-रामायण शाब्दिक-क्रीडा का और लक्ष्मणाचार्य की "चण्डी-कुच-पंचाशिका" घोर शृङ्गारिकता का निकृष्ट उदाहरण है।

मुसलमानो का भी बौद्धिक ह्रास बडे वेग से हो रहा था। अकबर जैसे उदाराशय सम्राट के सामने सभी को आत्माभिव्यक्ति का समुचित अवसर मिलता था। दूसरे, मुसलमान हिन्दुस्तान को ही अपना देश समझने लगे थे। अतएव उनकी सभ्यता, संस्कृति और उसके साथ उनकी प्रतिभा का यहाँ की उर्वरा भूमि मे सहज विकास हो रहा था। परन्तु औरंगजेब की संकुचित मनोवृत्ति ने एक ओर तो मुसलमानो के हृदय मे यह भावना उत्पन्न कर दी कि उनकी मातृभूमि अरब ही है—अरब और फारस की सस्कृति ही उनकी संस्कृति है, दूसरी ओर उसकी कठोर अहंवादी नीति ने अपने पुत्रो तक को व्यक्तित्व विकास का अवसर नही दिया था—अमीर उमराओ की तो बात ही क्या। उस समय प्रतिभा का विकास राजदरबार के आश्रय में ही सम्भव था—परन्तु राजदरबार का वातावरण उसके लिए सर्वथा प्रतिकूल हो गया था। इसके अतिरिक्त अरब फारस की संस्कृति से कृत्रिम प्रेरणा प्राप्त करने वाली प्रतिभा भी कैसे पनप सकती थी? मुसलमानो का साहित्यिक माध्यम भी फ़ारसी ही थी—परन्तु फ़ारस में हिन्दुस्तान के अच्छे से अच्छे कवि की गणना साधारण श्रेणी के अन्तर्गत की जाती थी। ख़ुसरो और फैजी तक को दूसरी श्रेणी का कवि माना जाता था—फिर जत्ताली की तो पूछ ही कहाँ होती? शाहजहाँ के समय से ही फारसी साहित्य का ह्रास आरम्भ हो गया था। अकबर के समय जो साहित्य रचा गया था—उसमे

तत्कालीन सम्राट के व्यक्तित्व और उससे प्रभावित लोक-जीवन की उदारता उच्चाशा-आकांक्षाओं का विस्तार और बल था। परन्तु उसके बाद विस्तार और मुक्त प्रगति में अवरोध आरम्भ हो गया—शांति की स्थिरता आने लगी जो क्रमशः विलास और अलंकरण की ओर झुकती गई। फलतः साहित्य मे भी नैतिक स्फूर्ति और सशक्त शैली के स्थान पर अलंकृति का प्राधान्य होने लगा। इस समय का फ़ारसी गद्य भी अत्यन्त अलंकृत है—उसमे सर्वत्र शब्द और अर्थ का चमत्कार और भाषा की ललित क्रीडा मिलती है—'चार चमन' इस प्रकार के गद्य का प्रतिनिधि ग्रन्थ कहा जा सकता है। औरंगजेब के बाद तो मुसलमानों की स्थिति बिगडती ही गयी, उनकी विलास-जीर्ण जाति शताब्दियों बाद कही मीर और ग़ालिब पैदा करने मे समर्थ हो सकी।

## कला की प्रवृत्ति

मुगल वैभव का युग कला के वैभव का भी युग था। इस समय ललित और उपयोगी दोनों प्रकार की कलाओं ने अभूतपूर्व उन्नति की। कलाप्रिय मुग़ल सम्राटो ने फ़ारसी और हिन्दू शैली के सम्यक् संयोग से विलासपूर्ण मुग़ल शैली का निर्माण किया जिसकी छाप तत्कालीन स्थापत्य, चित्रण, आलेखन आदि ललित कलाओं—और जवाहरात—सोने चाँदी के काम, कढाई, बुनाई इत्यादि पर भी स्पष्ट अंकित है। इन सभी मे ऐश्वर्य का उल्लास है।

स्थापत्य-कला :—शाहजहाँ के राजत्वकाल मे स्थापत्य-कला अपने चरम ऐश्वर्य पर पहुँच गई थी—उसके दृढ-रसिक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम संगमरमर की रेशमी कठोरता ही हो सकती थी। उसने आगरे मे मोती मसजिद और ताजमहल का निर्माण किया—और अपने राजत्वकाल के उत्तरार्ध मे दिल्ली के लाल किले के स्वर्गिक प्रासादों का। काल के कपोल पर स्थित नयन-बिन्दु ताजमहल—और पृथ्वी के एकमात्र स्वर्ग दीवाने-ख़ास की कलात्मक समृद्धि अपरिमेय है। अकबर की इमारतों के विराट सौंदर्य के विपरीत, शाहजहां की इमारतो का सौंदर्य सूक्ष्म—कोमल है—एक की कला मे यदि महाकाव्य (रामचरितमानस) की विराट गरिमा और दिगंत विस्तार है—तो दूसरे की कला मे अलंकृत गीत-काव्य (बिहारी के दोहो) की रसात्मकता और सूक्ष्म चमत्कार है। मणिकुट्टिम की चित्र-विचित्र कला यहाँ चरम समृद्धि को पहुँच गई है—सोने के रंग का मुक्त प्रयोग है, मणियों का जडाव और नक्काशी की सूक्ष्मता अद्भुत है। शाहजहाँ

* स्थापत्य मे मूर्ति और चित्रण कला की विशेषताएं अधिक हैं। ताज मूर्ति-कला की कृति ही अधिक है—और दीवाने-ख़ास चित्रण कला की। औरंगज़ेब के सिंहासनारोहण के उपरान्त मुग़ल साम्राज्य के क्षय के साथ ललित कलाओ की भी दुर्दशा होने लगी। औरंगज़ेब सर्वथा अरसिक धर्म-प्राण व्यक्ति था—वह ललित-कलाओ को—लालित्य मात्र को जीवन का पतन समझता था, अतएव शुरू से ही उसने उनके ख़िलाफ जहाद बोल दिया। उसने धार्मिक जोश मे आकर कई मन्दिरों को, जो हिन्दू स्थापत्य-कला के उत्कृष्ट उदाहरण थे, धराशायी करा दिया—उसकी कर्त्तव्य-कठोर आत्मा में सौंदर्य के प्रति जैसे कोई मोह ही नही था। वास्तु-कला के विरुद्ध यद्यपि उसे कोई धार्मिक विद्रोह नही होना चाहिये था, परन्तु फिर भी उसके समय मे उल्लेख-योग्य दो मसजिदें और एक मकबरा ही बन पाया। इनमे लाहौर की मसजिद अपेक्षाकृत सुन्दर है—परन्तु कला की दृष्टि से वह जामा मसजिद का, जैसा कि फ़र्गुसन ने लिखा है, घटिया अनुकरण मात्र है। दूसरी मसजिद ज़ीनतुन्निसा की बनाई हुई दिल्ली मे है। स्वयं सम्राट और उसकी बेगम के मकबरे भी बहुत साधारण हैं—उनमे मुग़ल-कला की अधोगति स्पष्ट है। "उनमें एक प्रकार की बर्बरता, रुखाई और उजाड़पन-सा निदर्शित होता है।" औरंगज़ेब के उपरान्त मुग़ल सम्राटो के पास इतना कोष ही नही था कि वे इमारत बनवा सकते। केवल शाहआलम द्वितीय ने गुजरात मे कुछ इमारतें बनवाईं जिनमें जैन शैली की अनुकृति है। अतएव, अठारहवी शताब्दी में मुग़ल कला को थोड़ा बहुत आश्रय दिल्ली से दूर रसिक नवाबो के दरबारो मे ही मिल पाया। परन्तु इस समय तक मौलिक प्रतिभा का इतना भयंकर ह्रास हो चुका था कि लखनऊ की ये सभी इमारतें निष्प्राण एवं सर्वथा अनुकृत कला के ही निदर्शन मात्र रह गई हैं। इनमे किसी प्रकार का अपना भावनामय वैशिष्ट्य नही है—केवल शैलीगत विलास का पिष्ट-पेषण मात्र है। प्रसिद्ध कला-मर्मज्ञ डा० स्मिथ ने इनकी कला को सर्वथा दाम्भिक और कुत्सित कहा है।

हिंदुओ के संरक्षण मे भी यद्यपि स्थापत्य ने विशेष उन्नति नही की, फिर भी उनके मन्दिरो की कला इतनी निष्प्राण और हीन नही है। राजपूताने की इमारतो मे इस समय के आम्बेर-स्थित जयसिंह सवाई के राजमहल और राजा सूरजमल के दीग के महल अपना महत्व रखते है। दीग के भवनो मे यद्यपि राजपूत व्यक्तित्व की गुरुता नही है—परन्तु उनके अवयवो मे अलंकरण का सौन्दर्य असंदिग्ध है। इस समय मुसलमानो के प्रभाववश हिन्दू राजा भी

अपनी छतरियां और समाधियां बनाने लग गये थे। इस समय में बनी हुई राजा संग्रामसिंह, सूरजमल और छत्रसाल एवं उनकी रानी की छतरियां उल्लेख योग्य हैं। उन्नीसवीं शताब्दी मे सिक्खों ने कुछ सुन्दर इमारतें बनवाई—इनमे सबसे सुन्दर अमृतसर का मंदिर है। परन्तु उसका महत्व जितना प्रदर्शन के कारण है उतना कला की दृष्टि से नहीं। इस पर राजमहल के अनुकरण की छाप ही अधिक स्पष्ट है—सिक्खो के दृढ व्यक्तित्व की मौलिक अभिव्यक्ति बहुत कम। इस प्रकार शाहजहाँ के उपरान्त लगभग दो शताब्दियों तक स्थापत्य का इतिहास प्रायः अनुकृत और निर्जीव कला-कृतियो का अनुलेखन मात्र है - उसकी एक ही विशेषता है—निर्जीव मौलिक-वैशिष्ट्य-हीन पिष्ट-पेषण जिसमें कही कहीं विलास की रमणीयता मिल जाती है।

चित्रकला:—स्थापत्य की भांति मुग़ल चित्रकला भी फ़ारसी और भारतीय कलाओ के संयोग से निर्मित है। उसमे फ़ारसी चित्रकला की कडी रूप-रेखा, सूक्ष्म अवयवो की अलंकृति और नक्काशी के साथ भारतीय कला की गोलाई, छाया प्रकाश का उचित प्रयोग तथा रंगो की चटक का सुचारु संमिश्रण है। "चीनी चित्रकला की विशेषता रही है रेखा—फ़ारसी की रेखा और रंग, और भारतीय कला मे रंगो का ही आधिपत्य रहा है।"

ज्यो-ज्यो समय बीतता गया, मुग़ल शैली मे फारसीपन की न्यूनता और भारतीयता की अधिकता होती गई। जहाँगीर का युग मुग़ल चित्रकला का स्वर्णयुग है। उसमे आकर वह पूर्णतः भारतीय हो गई—विदेशी तत्व भारतीय तत्वो मे घुल मिल कर एक हो गये। परिणाम-स्वरूप मुग़ल चित्रकला मे स्वाभाविकता, गति और सजीवता का समावेश हो गया। वह सम्राट् के अपने मनोभावो की अभिव्यक्ति का साधन भी बन गई। वास्तव में इस सम्राट् के रंगीन व्यक्तित्व का सहज माध्यम चित्र ही था। पर्सी ब्राउन के शब्दों में मुग़ल चित्रकारी की आत्मा जहाँगीर के साथ ही मर गई। शाहजहाँ को स्थापत्य और मणि-माणिक से अधिक प्रेम था, चित्रकला में उसको विशेष रुचि नही थी। फलत: उसकी समकालीन शैली मे मौलिक प्राणवत्ता और हार्दिकता की कमी है। यद्यपि उसमें हस्तकौशल और नक्काशी अब भी पूर्ववत् बनी हुई है, परन्तु उसकी रचना या सर्जना में किसी प्रकार का वैचित्र्य नहीं पाया जाता। हाँ, अलंकरण की प्रवृत्ति कुछ और भी बढ गई है—स्वर्ण रंग का प्रचुर प्रयोग किया गया है, सभी चित्रों मे सुन्दर चित्र-विचित्र फूल-पत्ते, पक्षी आदि से कढा हुआ हाशिया दिया गया है। कुल मिला कर इस समय की चित्रकारी में एक प्रकार की अतिशय परिपक्वता का भान होता है, जो अवनति की सूचना देती है।

जहाँगीर ने व्यक्तित्व के साथ सम्बन्ध स्थापित करके चित्रकला मे जो जीवन की चेतना उत्पन्न कर दी थी, वह शाहजहाँ के दरबार के गंभीर शिष्टाचार में विलुप्त हो गई। शाहजहाँ राजसी शिष्टाचार की मर्यादाओं में विश्वास करता था—अतएव चित्रकारों को दरबार के आंतरिक जीवन में प्रविष्ट होने की आज्ञा न थी। उनका प्रिय विषय दरबार का ऐश्वर्य्य ही था—विभूतिमान् अमीरों की सभाओं, रत्न-जटित परदों, ज़री के आत-पत्रों, और बहुमूल्य वस्त्राभूषणों आदि के अंकन में ही वे अपनी सारी कारीगरी खर्च कर देते थे। इन चित्रों में अलंकरण का इतना प्राचुर्य्य है—रंगों का इतना सूक्ष्म प्रयोग है—कि लोगों को प्रायः यह भ्रम हो जाता है कि रंगों के स्थान पर इन चित्रो मे मणियो के टुकड़े ही जड दिए गए है। शाहजहाँ की प्रिय अलंकरण-कला मणि-कुट्टिम का इनपर स्पष्ट प्रभाव है। इसके अतिरिक्त शवीह अर्थात् व्यक्ति-चित्रों का भी उस युग मे विशेष मान था। इन चित्रों मे ज्यामिति के रचना-प्रकारों तथा आलेखन की सूक्ष्मता और जकडबंदी है। ये चित्र प्रायः व्यक्तियो की स्थिर मुद्राओं के है—इनकी रेखाएँ और रंग-मिश्रण बडे बारीक हैं—इनमे एक प्रकार से मूर्ति-कला को ही विशेषता मिलती है। परन्तु इनमे जीवन की उष्णता का अभाव है और भाव-व्यञ्जना अत्यन्त क्षीण है। इनकी मुख-मुद्राओं मे आन्तरिक स्फूर्ति और अभिव्यक्ति की सजीवता नही है और अन्तर के चित्र न होने के कारण व्यक्तित्व अथवा चरित्र के अध्ययन मे ये अधिक सहायक नहीं हो पाते। मुग़ल-शासन के पूर्वार्ध मे व्यक्ति-चित्र केवल सम्राट्, उसके परिवार और दरबार के अमीरो के ही तैयार किये जाते थे—परन्तु साम्राज्य का विकेन्द्रीकरण होने के पश्चात राजाश्रय दुर्लभ होने लगा—और उधर जनता मे इन चित्रो की माँग बढने लगी। परिणाम यह हुआ कि अठारहवीं शताब्दी में इनका व्यवसाय होने लगा और चित्रो के स्वतन्त्र अंकन के स्थान पर स्टैन्सिल की सहायता से उनकी प्रतिकृतियाँ तैयार की जाने लगी। यह कला के ह्रास की चरम सीमा थी। उससे वैशिष्ट्य की हानि हुई—जो इस पतन-काल का प्रमुख दोष है। यही बात पशु-पक्षियों के चित्रो में है—मनोहर, मंसूर आदि कलाकारो द्वारा अंकित पशु-पक्षी भी मुग़लों के उपवन-उद्यानों की शृंगार-शोभा के साधन मात्र प्रतीत होते है—ऐसा मालूम पड़ता है मानो वे जान बूझ कर चित्र खिंचवाने के लिये तैयार होकर खड़े हुए हैं। मुक्त आकाश मे पंख खोलकर उड़ते हुए—अथवा उन्मुक्त वन-विहार करते हुए पक्षियो के चित्र अप्राप्य हैं। संक्षेप मे, श्री रायकृष्णदास के शब्दों मे—"अब चित्रों मे हद से ज्यादा रियाज़, महीन-

कारी, रंगो की खूबी, तथा शान-शौकत एवं अंग-प्रत्यंगो की लिखाई, विशेषत: हस्त-मुद्राओं मे बड़ी सफाई और कलम में कही कमज़ोरी न रहने पर भी, दरबारी अदब कायदो की जकडबन्दी और शाही दबदबे के कारण इन चित्रो मे भाव का सर्वथा अभाव बल्कि एक प्रकार से सन्नाटा-सा पाया जाता है, यहाँ तक कि जी ऊबने लगता है।"

[ राय कृष्णदास—भारत की चित्रकला ]

औरंगजेब का राजत्वकाल अन्य कलाओं की भाँति चित्रकला के भी अध.पतन का काल है— उसने अपने सामने बीजापुर के असर महल और अकबर के मकबरे की चित्रकारी को मिटवा दिया था। फिर भी व्यक्ति-चित्रों की अपेक्षा उसको भी रही। स्वयं औरंगजेब के ही अनेक चित्र वर्तमान है, जो उसकी सम्मति के बिना नही खिंचे होगे। इसके अतिरिक्त वह अपने नजरबंद कुटुम्बियो के स्वास्थ्य के विषय मे जानकारी प्राप्त करने के लिये भी व्यक्ति-चित्रों का अंकन कराता था जिससे उनको दिए हुए पोस्त के प्याले का प्रभाव उसे नियमित रूप से मालूम होता रहे। औरंगजेब के उपरान्त रहा सहा मुग़ल वैभव भी नष्ट हो गया। उसके उत्तराधिकारियो का नैतिक और भौतिक ह्रास तत्कालीन चित्रो मे व्यक्त है। दिल्ली का कोष अब कलाकारो को अपने आस-पास केन्द्रित रखने मे असमर्थ था। अतएव वे अवध, मुर्शिदाबाद, और हैदराबाद के नवाबो के आश्रय मे पहुँच गये और इस प्रकार स्थानीय प्रभावो के अनुसार मुग़ल शैली की दिल्ली की कलम, लखनऊ की कलम आदि कई शाखाये हो गईं। इस समय के चित्रो मे कारीगरी महीनकारी और सजावट के होते हुए भी मौलिकता का सर्वथा अभाव है, उसमे बस शृङ्गारिक विलासिता की ही प्रधानता है। अंतःपुर के रास-रंग से सम्बन्ध रखने वाले शृङ्गारिक चित्र सब से ज्यादा इसी युग मे अंकित किये गये। लेकिन इस समय चित्रकला इन दरबारो से बाहर उन्मुक्त वातावरण मे भी काफ़ी फल फूल रही थी। मुग़ल शैली की समकालीन राजस्थानी शैली अब भी लोक-जीवन से प्रेरणा पाकर जीवित थी। यह सर्वथा हिन्दू शैली थी। इसका सम्बन्ध मूलत अजंता की कला से ही था। मुग़ल शैली सर्वथा भौतिक और राजसी थी, राजस्थानी शैली का आधार आध्यात्मिक था और उसका जन-जीवन से घनिष्ठ सम्पर्क था। उसकी सृष्टि जनता ने ही अपने सुख-दु:ख की अभिव्यक्ति, आनन्द-विनोद के निमित्त की थी; परन्तु बाद मे मुग़ल-शैली से आदान-प्रदान होने पर इसमे राजसी तत्वो का समावेश भी हो गया और जयपुर की कलम मे जयपुर की दरबारी संस्कृति की ही भांति काफी फ़ारसीपन आ गया। राजस्थानी चित्रकला का मुख्य विषय रागमाला थी। रागमाला की चित्रावली विभिन्न ललित कलाओं की

मौलिक एकता का व्यक्त निदर्शन है। वास्तव में कलाओ की मूल आत्मा एक ही है, अभिव्यक्ति मात्र का अंतर है। गीत ध्वनिमय चित्र है, चित्र अंकित ध्वनि। हमारे शास्त्रों मे रसों और रागो के देवता और वर्ण आदि की कल्पना तो बहुत पहले से ही मिलती है। इन चित्रों में कुछ तो उसके सहारे, और कुछ अनुकूल ऋतुओं का आश्रय लेकर शब्द को रेखा और रंग मे चित्रित किया गया है। रागमाला के अतिरिक्त इस सम्प्रदाय के अन्य प्रिय विषय हैं-कृष्ण लीला, नायिका-भेद और बारह मासा। कृष्णचरित—विशेष कर रासलीला का जनता में उस समय काफ़ी प्रचार था, परन्तु जनता की इस मनोवृत्ति में धार्मिकता नही थी—शृङ्गारिकता ही थी। राधा-कृष्ण लौकिक प्रेमी-प्रेमिका अथवा नायक-नायिका के प्रतीक मात्र थे। बुंदेलखंड में पहले केशव के छन्दो को चित्रबद्ध किया गया—फिर बाद को दतिया-राज्य मे राजस्थानी-शैली की शाखा बुंदेलखण्डी-शैली मे देव के अष्टयाम, बिहारी की सतसई और मतिराम के रसराज की चित्र-व्यञ्जना हुई। इनका मुख्य रस शृंगार ही है। शैली मे अलंकारिकता की प्रधानता है और आंखो के अंकन मे अतिशयोक्ति का सर्वत्र प्रयोग हुआ है। इन चित्रो मे भावाभिव्यक्ति शिथिल है, पात्रो की मुख मुद्राएँ भाव-शून्य है, परन्तु स्त्री-चित्रों मे आँखे रसीली हैं। जैसा कि डा० श्यामसुन्दर दास ने लिखा है ये चित्र हिन्दी-साहित्य के अध्येता के लिए एक विशेष महत्व रखते है। इनकी और हिन्दी के रीति-साहित्य की आत्मा एक ही है।

राजस्थानी शैली की ही समवर्ती एक दूसरी शैली भी इस युग मे वर्तमान थी—कांगडा शैली। विदेशी कला-मर्मज्ञो ने इन दोनों को राजपूत शैली की दो शाखाएं माना है, परन्तु कतिपय आधुनिक विशेषज्ञ इस वर्गीकरण से सहमत नही है। कांगडा-शैली मूलतः भावात्मक शैली है। इसमें यथार्थता को भाव के आश्रित रखा गया है। अतएव इसमे उन्मुक्तता और हार्दिकता पूर्वोक्त दोनो शैलियो की अपेक्षा कही अधिक है। इस शैली का झुकाव रहस्यात्मकता की ओर है। इन चित्रो का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है, इनमे प्रायः सभी रसों और भावो की अभिव्यञ्जना मिलती है—"देवताओ ध्यान, रामायण, महाभारत, भागवत, दुर्गासप्तशती इत्यादि समस्त पौराणिक साहित्य; ऐतिहासिक गाथा, लोक-कथा, केशव, बिहारी, मतिराम, सेनापति आदि हिन्दी के प्रमुख एवं अन्य साधारण कवियो की रचनाओं से लेकर जीवन की दैनिक-चर्य्या और शबीह तक ऐसा एक भी विषय नही जिसे उन्होंने छोड़ा हो।" [ रायकृष्णदास-भारत की चित्रकला ]

स्त्री-सौंदर्य के चारु अंकन मे ये कलाकार अपना जोड नही रखते। मीनाक्ष-चित्रण का तो एक नवीन आदर्श ही इन्होंने प्रस्तुत किया है। रात्रि के रमणीय

वातावरण मे अथवा मेघाच्छन्न आकाश की छाया मे प्रेमी-प्रेमिका के अभिसार, अथवा थके हुए पथिको की विनोद-वार्ता तथा जंगल के दृश्य अद्भुत हैं। इनमें छाया-प्रकाश का जैसा सुन्दर प्रयोग हुआ है वैसा मुग़ल चित्रों में दुर्लभ है। आलोचकों ने इस शैली के विकास को भारतीय चित्रकला का परमोत्कर्ष मानते हुए, इसकी मौलिकता, अभिव्यंजना और सूक्ष्म कारीगरी की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है।

इस प्रकार रीति युग मे चित्रकला की दो प्रमुख धारायें थी। एक राजसी थी जो जन जीवन से स्वाभाविक पोषण न पाकर केवल राजाश्रय पर अवलम्बित थी। देश की राजनीतिक अधोगति के कारण यह शैली ह्रासोन्मुख थी। दूसरी जन-प्रिय थी, जो तत्कालीन जनसमूह की ही भाँति अब भी अपनी चेतना बनाये हुए थी, इसमे जीवन की ताज़गी थी। इस युग के काव्य की रीति-बद्ध और रीतिमुक्त शृंगारिक प्रवृत्तियाँ उपर्युक्त दोनों धाराओं के ही समानान्तर बढ रही थीं।

संगीत :—रीतियुग मे संगीत-कला की स्थिति किसी प्रकार भी संतोषजनक नही कही जा सकती। कला के अन्य रूपों की भाँति यहाँ भी मौलिकता का सर्वथा अभाव मिलता है। शाहजहाँ तक तो फिर भी कुशल रही—स्वयं शाहजहाँ को संगीत का परिष्कृत ज्ञान था, उसके समय मे तानसेन के वंशज लालखाँ और हिन्दू कलावन्त जगन्नाथ ने तानसेन आदि के संगीत मे सूक्ष्मताओ की सृष्टि करते हुए अलंकरण की श्रीवृद्धि की। औरंगज़ेब का युग संगीत के चरम अपकर्ष के लिये प्रसिद्ध है। बेचारा संगीत भी औरंगजेबी जुल्म का शिकार हुआ। औरंगज़ेब ने दिल्ली दरबार से संगीत का सर्वथा बहिष्कार कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप उसका पूर्णतया विकेन्द्रीकरण हो गया। कलावंत दिल्ली से निराश होकर राजाओं और नवाबो की शरण मे जाने लगे। इस समय केवल एक ही संगीताचार्य का नाम उल्लेखनीय है। यह है भावदत्त, जो राणा अनूपसिंह के आश्रय मे रहता था। उसने समस्त रागों को बीस ठाटों में विभक्त करते हुए "कनकाङ्गी" को शुद्ध मात्रा माना है। औरंगजेब के उपरान्त मुहम्मद शाह रंगीले ने एक बार फिर संगीत की मृतक आत्मा मे प्राण फूंकने का प्रयत्न किया, और दिल्ली का श्रीहत दरबार अदारंग और सदारंग के खयालो से गूँज उठा। इसी समय शोरी मियाँ ने टप्पा-गायन प्रचलित किया "जिसमें गले से दानेदार तान निकालने की अद्भुत विशेषता है।" सर सौरेन्द्र मोहन टागोर का कथन है कि इन दो प्रसिद्ध गायको के अतिरिक्त मुहम्मदशाह के समय मे हिन्दू और फारसी शैलियो के संमिश्रण से और भी कतिपय मधुर संगीत-शैलियो और ध्वनियो की सृष्टि हुई, जिनमे से अधिकांश

शृंगारिक हैं। इसी शताब्दी में श्रीनिवास ने "रागतत्व-विबोध" नामक एक ग्रंथ लिखा। श्रीनिवास उत्तर भारत मे मध्यकालीन संगीत के सबसे अन्तिम ग्रन्थकार हैं। दक्षिण मे मराठा राजा तुलजेन्द्र भोसले ( सं० १८१०-१८४४ ) ने इस कला की ओर पर्याप्त ध्यान दिया और 'संगीत-सारामृतम्' और 'राग-लक्षणम्' नाम की दो पुस्तकें लिखी। उनके बाद विष्णु शर्मा ने 'अभिनव-रागमंजरी' ग्रन्थ मे तत्कालीन हिन्दुस्तानी संगीत का विवेचन किया।

उत्तर भारत में संगीत को आश्रय देने वाले अब राजा रईस और नवाब ही रह गये थे जो उसको विलास का एक उपकरण मानते थे। संवत् १८७० के लगभग पटना के एक रईस मुहम्मद रज़ा ने 'नग़माते-आसफी' नामक संगीत की पुस्तक लिखी जिसमे उन्होने बिलावल को शुद्ध ठाठ मानते हुए एक नये ढंग से रागो का वर्गीकरण किया, और स्पष्टतया 'राग-रागिनी पुत्र' आधार को असंगत माना। इसके आस-पास ही जयपुर के राजा प्रतापसिंह ने हिन्दुस्तानी संगीत पर प्रामाणिक ग्रन्थ प्रस्तुत करने की दृष्टि से अपने राज्य मे एक वृहत् संगीत-समारोह किया जिसके परिणामस्वरूप देश के प्रसिद्ध आचार्यों के मतो का संग्रह करते हुए 'संगीत-सार' ग्रन्थ का सम्पादन हुआ। यह ग्रन्थ संकलन अवश्य अच्छा हैं, परन्तु विषय-विवेचन के विचार से अधिक महत्वपूर्ण नही है। इससे कही अधिक महत्व है 'राग-कल्पद्रुम' का जिसको कि संवत्सर १९०० के लगभग कृष्णानन्द व्यास ने चार खण्डो मे प्रकाशित किया। इस ग्रन्थ को तत्कालीन गेय पदो का विश्वकोष समझना चाहिये।

अवध की नवाबी भी इस समय विलास मे ग़र्क थी। अवध के अन्तिम अधिपति वाजिदअली शाह को कला-विलास के सभी उपकरणों से प्रेम था। संगीत उनकी रसिक-मण्डली का प्रधान अलंकरण था। वे स्वयं अच्छे सगीतकार थे। संगीत की रसीली शैली ठुमरी उन्हीं का आविष्कार है, जो कि डा० श्याम-सुन्दरदास के शब्दो मे भारतीय संगीत-प्रणाली का अन्यतम स्त्रैण रूप है। इस प्रकार अन्य कलाओ की भाँति संगीत के क्षेत्र मे भी विराट और गम्भीर तत्व का अभाव, तथा एक प्रकार की स्त्रैण शृंगारिकता का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। रीति-युग मे सगीत की प्रवृत्ति भी मौलिक उद्भावना की ओर न होकर अलंकरण और रसीलेपन की ओर ही थी।

———

# २—रीतिकाव्य का शास्त्रीय आधार

रीतिशास्त्र का आरम्भ :—भारतीय आस्तिकता को जीवन की प्रत्येक अभिव्यक्ति का मौलिक सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार से अलौकिक शक्तियो से स्थापित करने का अभ्यास रहा है। प्रत्येक विद्या किसी न किसी प्रकार ब्रह्म अथवा उसके किसी रूप से उद्भूत हुई है—ऐसी उसकी आस्था रही है। राजशेखर ने काव्य-मीमांसा मे साहित्य-शास्त्र की उत्पत्ति का अत्यन्त रोचक वर्णन किया है : सरस्वती-पुत्र काव्य-पुरुष को ब्रह्मा की आज्ञा हुई कि वह तीनों लोको मे साहित्य-शास्त्र के अध्ययन का प्रचार करे। निदान उसने सबसे पूर्व अपने मानसजात सत्रह शिष्यों के समक्ष इसका व्याख्यान किया और फिर इन ऋषियो ने शास्त्र को १७ अधिकरणो मे विभक्त करके अपने-अपने विषयो पर स्वतन्त्र रीतिग्रन्थ लिखे—'तत्र कविरहस्यं सहस्राक्ष' समाम्नासीत, औक्तिकमुक्तिगर्भः; रीति-निर्णयं सुवर्णनाभः आनुप्रासिकं प्रचेतायनः, यमकानि चित्रं चित्राङ्गदः, शब्दश्लेषं शेषः, वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यमौपकायनः, अतिशयं पाराशरः, अर्थश्लेषमुतथ्यः, उभयलङ्कारिकं कुवेरः, वैनोदिकं कामदेवः, रूपक-निरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः, दोषाधिकारिकं धिषणः, गुणौपादानिकमुपमन्युः, औपनिषदिकं कुचुमारः, इति। ( काव्यमीमांसा, पृष्ठ १ )। विद्वानो की राय है कि यह सूची अधिक विश्वसनीय नहीं है। वैसे भी कुछ नाम तो स्पष्टतः संगति बैठाने को गढे गये मालूम पडते हैं। परन्तु कुछ नामों का उल्लेख यत्र-तत्र अवश्य मिलता है। जैसे कामसूत्र मे औपनिषदिकं के व्याख्याता कुचुमार और साम्प्रयोगिक के व्याख्याता सुवर्णनाभ के नाम आते हैं। रूपक या नाट्य-शास्त्र पर भरत का ग्रन्थ तो किसी न किसी रूप में आज भी उपलब्ध है। नन्दिकेश्वर के नाम से काम-शास्त्र, गीत-नृत्य और तंत्र-सम्बन्धी ग्रन्थों का उल्लेख तो मिलता है, परन्तु रस पर उनका कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं है। इस प्रकार राजशेखर का यह काव्यमय वर्णन रीति-शास्त्र की उत्पत्ति का इतिहास जुटाने मे हमारी कोई सहायता नही करता।

वेद-वेदांग :—ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय ज्ञान का प्राचीनतम कोष वेद है। वैदिक ऋचाओं के रचयिता वाणी के रस से तो स्पष्टतः अभिज्ञ थे ही—इसमें कोई सन्देह नहीं है,—इसके साथ ही नृत्य, गीत, छंद-रचना आदि के सिद्धांतो का सम्यक् विवेचन और "उपमा" शब्द का प्रयोग भी वेदो मे मिलता है। परन्तु साहित्य-शास्त्र का निश्चित आरम्भ वेदो में ढूंढना क्लिष्ट कल्पना मात्र होगी। वेदो के अतिरिक्त वेदाङ्ग, संहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषद् आदि भी इस विषय मे मौन हैं।

व्याकरण-शास्त्र :—भारत का व्याकरण-शास्त्र जितना प्राचीन है, उतना ही पूर्ण भी है। उसे तो वास्तव मे भाषा का दर्शन कहना चाहिए। व्याकरण के आदि-ग्रन्थ है निरुक्त और निघण्टु। यास्क ने वैदिक उपमा का विवेचन करते हुए उसके कुछ भेदो का विवरण दिया है : जैसे भूतोपमा जिसमे उपमित उपमान बन जाता है, रूपोपमा जिसमे उपमित और उपमान मे रूप-साम्य होता है, सिद्धोपमा जिसमे उपमान सर्व-स्वीकृत और सिद्ध होता है, रूपक की समानार्थी लुप्तोपमा या अर्थोपमा जिसमे साम्य व्यक्त न होकर अव्यक्त ही होता है। पाणिनि के समय तक उपमा का स्वरूप निर्धारित हो चुका था। उन्होने उपमित, उपमान, सामान्य आदि पारिभाषिक शब्दो का स्पष्ट प्रयोग किया है। पाणिनि के उपरान्त पातञ्जलि का महाभाष्य भी इन रूपो की सम्यक् व्याख्या करता है। वास्तव मे व्याकरण-शास्त्र हमारे काव्य-शास्त्र का एक प्रकार से मूलाधार है। वाणी के अलंकरण के जो सिद्धांत काव्य-शास्त्र मे स्थिर किए गए, उन पर व्याकरण के सिद्धान्तो का स्पष्ट प्रभाव है। भामह, वामन तथा आनन्दवर्धन जैसे आचार्यों ने अपने ग्रन्थो मे व्याकरण की स्थान-स्थान पर सहायता ली है। ध्वनि का प्रसिद्ध सिद्धान्त व्याकरण के 'स्फोट' सिद्धांत से ही ग्रहण किया गया है।

दर्शन :—व्याकरण के उपरान्त काव्य-शास्त्र का दूसरा आधार दर्शन है। उसके कतिपय प्रमुख सिद्धान्तो का सीधा सम्बन्ध विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तो से है। उदाहरण के लिए शब्द की तीन शक्तियाँ—अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना—का संकेत न्याय-शास्त्र के शब्द-विवेचन मे मिलता है। नैयायिको के अनुसार शब्द के अभिधार्थ से व्यक्ति, जाति और गुण तीनो का बोध हो जाता है। इसके अतिरिक्त उन्होने शब्दार्थ को गौण, भक्त, लाक्षणिक और औपचारिक आदि अर्थों मे विभक्त किया है। शब्द-प्रमाण के सम्बन्ध मे न्याय और मीमांसा दोनो मे शब्द और वाक्य का वर्गीकरण तथा अर्थवाद आदि का सूक्ष्मविवेचन मिलता है। वास्तव मे एक प्रकार से न्याय और मीमांसा से ही व्याख्यात्मक आलोचना का उद्भव समझना चाहिए।

इसी प्रकार अभिनवगुप्त का व्यक्तिवाद सांख्य के परिणामवाद से बहुत दूर नहीं है—जिसके अनुसार सृष्टि का अर्थ "उत्पादन या सृजन न होकर केवल अभिव्यक्ति ही होता है।" इससे भी अधिक स्पष्ट है वेदान्तियों के मोक्ष-सिद्धान्त का प्रभाव। इसके अनुसार मोक्ष का आनन्द बाहर से प्राप्त नही होता, वह तो आत्मा का ही शुद्ध बुद्ध रूप है जो माया का आवरण हट जाने के उपरान्त स्वतः आनन्दमय रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। परन्तु ये वास्तव मे संकेत अथवा अनुमानमात्र हैं, इनसे काव्य-शास्त्र की उत्पत्ति के विषय मे कोई निश्चित सिद्धान्त स्थिर नही हो पाते।

काव्यशास्त्र का वास्तविक आरम्भः—निदान काव्यशास्त्र का वास्तविक आरम्भ हमे दर्शन और व्याकरण के मूलग्रन्थो की रचना के बहुत बाद का मालूम पडता है। डा० सुशीलकुमार डे, काणे आदि विद्वानों का मत है कि ईसा की पहली पाँच शताब्दियो मे ही उसका जन्म माना जा सकता है। शिलालेखो की काव्यमयी प्रशस्तियाँ, अश्वघोष और भास के ग्रन्थ और फिर कालिदास का अलंकृत काव्य—सभी इसी ओर संकेत करते है। भारत के नाट्य-शास्त्र का मूल रूप तो स्पष्टतः ही इसी काल की अत्यन्त आरम्भिक रचना है। इतिहासज्ञ उसका रचना-काल ईसा की पहली शताब्दी के आस-पास स्थिर करते हैं। भरत ने कृशाश्व और शिलालिन के नामों का उल्लेख किया है, उधर भामह ने मेधाविन का और दण्डी ने कश्यप आदि का, परन्तु अभी तक इनके ग्रन्थ उपलब्ध नही है। अतएव इनके विषय मे चर्चा करना व्यर्थ है। भरत के उपरान्त काव्य और काव्यशास्त्र दोनो ही समृद्ध होते गए। काव्य-शास्त्र मे क्रमशः अनेक वादो और सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा हुई, जिनमे से पाच अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध हुए—रस-सम्प्रदाय, अलंकार-सम्प्रदाय, रीति-सम्प्रदाय, ध्वनि-सम्प्रदाय और वक्रोक्ति-सम्प्रदाय। मान्यता तथा ऐतिहासिकता दोनो की दृष्टि से सबसे पहले रस-सम्प्रदाय ही आता है।

# ( अ ) रस-सम्प्रदाय

रस शब्द का अर्थ और इतिहास—रस भारतीय वाङ्मय के प्राचीनतम शब्दों में से है। लोक मे यह शब्द मुख्यत: चार विभिन्न रूपों मे प्रचलित है—(१) पदार्थों का रस अर्थात् सौहित्य का रस—अम्ल, तिक्त, कषाय आदि; (२) आयुर्वेद का रस ( ३ ) साहित्य का रस, और ( ४ ) इसी से मिलता-जुलता मोक्ष या भक्ति का रस। सौहित्य-रस मे रस से तात्पर्य है पदार्थ ( वनस्पति आदि ) को निचोड कर निकाले हुए द्रव का जिसमें किसी न किसी प्रकार का स्वाद होता है। इस अर्थ के ये दोनों अंग ( अ ) निचोड और (आ) स्वादु-गुण आगे चलकर स्वतन्त्र हो जाते हैं। आयुर्वेद मे रस से तात्पर्य है पारद का। साहित्य मे रस से तात्पर्य है काव्यानन्द का, और मोक्ष-रस का अर्थ है ब्रह्मानन्द।—व्याकरण के अनुसार रस की व्युत्पत्ति है 'रस्यते इति रसः' जो आस्वादित किया जाये वह रस है—"रस आस्वादनस्नेहयो:।"—व्याकरण मे रस की एक व्युत्पत्ति और भी है 'सरते इति रसः' अर्थात् जो बहे वह रस है। यहाँ रस मे द्रवत्व और बहने का गुण मुख्य माना गया है। इस प्रकार व्युत्पत्ति के अनुसार भी रस मे दो विशेषताएँ मिलती है—द्रवत्व और स्वाद।

रस के उपर्युक्त सभी अर्थों मे स्वाद—आनन्द का गुण तो स्पष्टत. सर्व-सामान्य है ही, चाहे उसको ग्रहण करने का माध्यम जिह्वा हो या सूक्ष्मेन्द्रिय, मस्तिष्क हो या आत्मा, द्रवत्व और सार अथवा प्राण-तत्व का आशय भी प्राय: किसी न किसी रूप मे निहित है ही। रस का पहला अर्थ वेदों मे स्पष्ट रूप से मिलता है—'दधानः कलशे रसम्' [ऋग्वेद, ९,६३,१३ ] यहाँ रस से तात्पर्य सोमरस का है। अन्य वनस्पतियों के द्रव, दुग्ध और जल के अर्थ मे भी इसका प्रयोग है। इसके अतिरिक्त स्वाद या गन्ध के लिए भी रस शब्द वेदों मे आता है। शतपथ ब्राह्मण

मे निश्चित रूप से रस का प्रयोग मधु के अर्थ में हुआ है—रसो वै मधु। आगे चलकर उपनिषद् के प्रसिद्ध सूत्र 'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्धानन्दी भवति [ तैत्तिरीय उपनिषद् ११, ७, १ ]' में रस का अत्यन्त स्पष्ट और गम्भीर अर्थ मिलता है। यहाँ पर प्राणतत्व ( सार ) और स्वाद दोनों अर्थों का सम्मिश्रण होजाता है —परमात्मा रस है अर्थात् सृष्टि का सार है और रस अर्थात् चिदानन्द रूप है— 'रसः सारः चिदानन्दप्रकाशः' जिसको प्राप्त कर आत्मा परमानन्द का उपभोग करता है। इसी रस से ऋग्, यजु और साम की ऋचाओं की सृष्टि हुई—

ऋचामेव तद्रसेन,
यजुषामेव तद्रसेन,
साम्नामेव तद्रसेन।

[ छान्दोग्य उपनिषद्—४, १७ ]

पण्डितराज जगन्नाथ ने रस को काव्य का प्राणतत्व सिद्ध करने में श्रुति के इसी वाक्य का प्रमाण दिया है। वास्तव मे जैसा कि डा० संकरन का मत है, यह बहुत सम्भव है कि साहित्य के आदि आचार्यों ने रस का स्वरूप स्थिर करने में इस वाक्य से प्रेरणा प्राप्त की हो और इसी के आधार पर काव्यानन्द के अर्थ में रस का प्रयोग किया हो—"जिस प्रकार योगी उस चिदानन्द प्रकाश का अपनी आत्मा में सहज साक्षात्कार कर, पूर्णतः तन्मय होकर ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है इसी प्रकार सहृदय भी अपने मानस मे नाटक या काव्य के सौन्दर्य का सहज साक्षात्कार कर काव्यानन्द का अनुभव करता है।" परन्तु इसके द्वारा रस का कोई निश्चित शास्त्रीय रूप स्थिर हो सका था, यह मानना अनुचित होगा। आगे चलकर कठ आदि उपनिषदों मे और उनके आधार पर कालान्तर में दर्शनों में रस रसना की ऐन्द्रिक अनुभूति के पारिभाषिक अर्थ मे प्रयुक्त होता है :

येन रूपं रसं... एतेनैव विजानाति।

( कठोपनिषत् ४, ३ )

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा· ( सर्वोपनिषत् )।

शब्द श्रवणेन्द्रिय का अनुभव है, स्पर्श त्वचा का, रूप नेत्र का, रस जिह्वा का, और गन्ध नासिका का। वैशेषिक दर्शन मे २४ गुणों के अन्तर्गत रस के इस रूप का विवेचन मिलता है। न्याय का भी मत है—

रसस्तु रसनाग्राह्यो मधुरादिरनेकधा ।
सहकारी रसज्ञायाः नित्यत्वादि च पूर्ववत् ।

रामायण और महाभारत मे रस शब्द के अर्थ मे कोई उल्लेखनीय परिवर्तन अथवा विकास नही हुआ । रामायण मे रस का प्रयोग जीवन रस ( अमृत ), पेय आदि साधारण अर्थों मे ही प्रयुक्त हुआ है—केवल विष के अर्थ मे उसका प्रयोग नया है, पर वह हमारे लिए अप्रासंगिक है । महाभारत मे भी वह जल, सुरा, पेय, गध आदि का पर्याय है 'रसोऽहमप्सु कौन्तेय' ( गीता )—केवल दो एक प्रयोग थोड़े नवीन है, जैसे काम और स्नेह के अर्थ मे ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋग्वेद से लेकर महाभारत तक रस के लगभग अन्य सभी मुख्य मुख्य अर्थों की उद्भावना हो चुकी थी ( प्रसिद्ध कोषकार ब्लूमफील्ड, एवं मौलियर विलियम्स इसके साक्षी हैं ), परन्तु साहित्यिक रस का पारिभाषिक रूप अभी आविर्भूत नही हो पाया था ।

"रसो गन्धरसे स्वादे तिक्तादौ विषरागयोः;
शृंगारादौ द्रवे वीर्ये देहधात्वम्बुपारदे ।"

[ इति विश्वः ]

मे से 'शृंगारादौ' का अन्तर्भाव अभी रस मे नही हो पाया था—परन्तु उसके लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी, इसमे संदेह नही । वैसे तो वाल्मीकि रामायण के साधारणत: प्रचलित संस्करणो मे बालकाण्ड के आदि मे ही नवरस का अत्यन्त स्पष्ट उल्लेख है—

"पाठ्ये गेये च मधुरं च प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्,
जातिभिः सप्तभियु॔क्तम् ,तन्त्रीलयसमन्वितत् ॥ ८ ॥
रसैः शृंगार-करुण-हास्य-रौद्र-भयानकैः
वीरादिभीरसैयु॔क्तं काव्यमेतद् गायताम् ॥ ९ ॥

परन्तु बालकाण्ड का यह अंश निश्चय ही प्रक्षिप्त है—एकाध अत्यन्त विश्वासी विद्वान को छोड प्राय: सभी इस विषय मे एकमत है ।

इसके उपरांत भरतमुनि का नाट्य-शास्त्र है जिसमे हमे रस का पारिभाषिक और शास्त्रीय रूप स्पष्ट मिलता है । भारत मे रस का इतना सम्यक् एवं विस्तृत विवेचन मिलना ही इस बात का प्रमाण है, और भरत ने भी अपने पूर्ववर्ती

आचार्यों के आर्या तथा अनुष्टुप छंद देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है—कि उनसे पू र्व ही उसका शास्त्रीय और परिभाषिक रूप—और शायद संख्या आदि भी अवश्य स्थिर हो गई थी। भरत का मुख्य प्रतिपाद्य रूपक है काव्य नहीं—उन्होंने रस का विवेचन काव्य के आश्रय से नहीं किया वरन् नाटक के प्रेक्षक की भाव-प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण करने के निमित्त ही किया है।

रस-सम्प्रदाय का संक्षिप्त इतिहास:—यों तो जनश्रुति नन्दिकेश्वर को प्रथम रसाचार्य मानती है, परन्तु राजशेखर का साक्ष्य होने पर भी उनके आचार्यत्व का कोई विशेष प्रमाण नहीं मिलता। भरत ने भी प्रधानता तो वास्तव में रूपक को ही दी है—रस को तो उन्होंने, जैसा कि मैं आरम्भ में ही कह चुका हूं, वाचिक अभिनय का अंग मान कर प्रतिपादित किया है। परन्तु फिर भी आज रस के विषय में भरत का ही सिद्धांत सर्वमान्य है अतएव उनको आद्याचार्य मानना अनिवार्य्य ही है। भरत के उपरांत रस-सिद्धांत अधिक लोकप्रिय नहीं रहा। परवर्ती आचार्यों ने उसे नाटक के उपयुक्त ही मानते हुए अलंकार और रीति आदि को काव्य की आत्मा माना।

रस-सिद्धांत का पहला विरोधी आचार्य था भामह जिसने अलंकार सम्प्रदाय की स्थापना की। उसने अलंकार को काव्य की आत्मा मानते हुए रस का रसवद्, ऊर्जस्विन् और प्रेयस् अलंकारों में अंतर्भाव कर दिया। भामह के अनुयायी हुए दण्डी, उद्भट और रुद्रट जो सभी अलंकारवादी थे। दण्डी ने भी रस को उपर्युक्त अलंकारों के अन्तर्गत माना, परन्तु फिर भी उसकी दृष्टि अधिक उदार थी। पद-लालित्य रसिक दण्डी ने अपने काव्यादर्श में विभिन्न रसों का विस्तृत विवेचन किया है। वामन ने अलंकार को छोड़ रीति को काव्य की आत्मा माना। वास्तव में वामन का दृष्टिकोण दण्डी से अधिक भिन्न नहीं था—रस को उसने कांतिगुण का मूल तत्व मानते हुए (दीप्तिरसत्वं कांति:) उसकी प्रतिष्ठा और भी बढ़ा दी। उद्भट का योग केवल अभावात्मक ही न होकर भावात्मक भी था। रस को माना तो उसने भी रसवद् आदि अलंकारों के अन्तर्गत ही, परन्तु उसका विवेचन अधिक सूक्ष्म और विस्तृत रूप में किया। उसने हिता नामक अलंकार की उद्भावना की जिसमें भाव और रस की शांति का भी अंतर्भाव हो सकता था। रसवद्, ऊर्जस्विन् और प्रेयस् अलंकारों का भी विवेचन उसका भामह और दण्डी से पृथक है। इसके अतिरिक्त कुछ पंडितों का मत है कि उद्भट ने ही शांत रस की उद्भावना की थी। उद्भट पर भामह और भरत दोनों का प्रभाव था। उद्भट के उपरान्त रुद्रट का नाम आता है। रुद्रट वास्तव में अलंकार-रीति तथा ध्वनि-रस सम्प्रदायों के संगम-स्थल पर खड़ा हुआ है। उसने रसों को स्पष्ट रूप से अलंकारों की दासता से मुक्त करते

हुए विरोधी सिद्धांतो को समन्वित करने का स्तुत्य प्रयत्न किया। उसने असंदिग्ध शब्दों मे यह घोषित कर दिया कि रस के सम्यक् परिपाक के बिना कविता नीरस और निस्पंद होगी—

एते रसा रसवतो रमयन्ति पुंसः
सम्यग्विभज्य रचिताश्चतुरेण चारु।
यस्मादिमाननधिगम्य न सर्वरम्यं
काव्यं विधातुमलमत्र तदाद्रियेत॥

[ रुद्रट—काव्यालंकार १५, २१ ]

सबसे पूर्व उसने ही विप्रलम्भ को पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुण—इन चार भागो मे विभक्त किया।

यह सब होते हुए भी भामह से लेकर रुद्रट तक अलंकार और रीति का ही प्राधान्य रहा, और रस का स्थान गौण रहा। काव्य-सिद्धान्त मे इनकी प्रभुता वास्तव मे इतनी अधिक हो गई थी कि उस समय के रस-सिद्ध कवियो को इनके विरुद्ध शस्त्र-ग्रहण करने पडे। कालिदास और भवभूति दोनो ने ही अपने समकालीन आलोचको का तीव्र प्रतिवाद करते हुए सशक्त शब्दो मे रस की प्रतिष्ठा की है। कालिदास ने स्पष्टतः स्वीकार किया कि

त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरित नानारसं दृश्यते,
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।

[ मालविकाग्निमित्र अंक १, ४ ]

भवभूति तो वास्तव मे रसावतार थे—उन्होने काव्य मे चित्त की विद्रुति को प्रमाण मानते हुए करुण रस मे अन्य सभी रसो का अंतर्भाव किया। परन्तु कालिदास और भवभूति के अतिरिक्त अन्य कवियो ने रस की मान्यता स्वीकार करते हुए भी सामयिक सिद्धांतो के आगे शिर झुका दिया था। उदाहरण के लिए बाण जैसे रसज्ञ कवि को भी आलंकारिक चमत्कार और प्रहेलिका आदि से खिलवाड करना पडा था।

इन विषमताओ का समाधान अन्त मे आनन्दवर्धन ने ध्वनि सिद्धान्त को स्थापना द्वारा किया। ध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर एक ओर उसने अलङ्कारवादियो की बाह्य साधना का अन्त कर दिया और दूसरी ओर रस-सिद्धान्त की अव्याप्ति का परिहार भी कर दिया। रस-सिद्धान्त के अनुसार तो जहां विभाव, अनुभाव, संचारी आदि के संयोग से रस-निष्पत्ति न हो वहां काव्यत्व की स्थिति मानना भी सम्भव नही है। परन्तु ध्वनिकार ने ध्वनि के रस-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि और अलङ्कार ध्वनि ये तीन विभाग कर दिये—उन्होने यद्यपि मुख्य रस-ध्वनि

को ही माना, तथापि वस्तु और अलङ्कार को भी काव्य में उचित स्थान दिया। इस प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त को रस-सिद्धान्त का विरोधी न मानकर उसका व्यापक रूप ही मानना उचित है। ध्वन्यालोक के उपरान्त अभिनव गुप्त के लोचन की रचना हुई। अभिनव ने अपनी अतलदर्शी प्रतिभा के बल पर रस की स्थिति से सम्बन्ध रखने वाली अनेक भ्रान्तियों का समाधान किया और इस प्रकार रस के महत्व की पूर्ण प्रतिष्ठा की। उन्होने भट्टनायक के भावकत्व और भोजकत्व का प्रामाणिक रूप मे निषेध करते हुए व्यन्जना की मान्यता स्थापित की और यह स्पष्ट किया कि रस के आस्वादन मे व्यन्जना किस प्रकार सभी व्यवधानों का नाश करती है तथा कटु भावो को भी मधुर रस की स्थिति तक पहुंचा देती है। अभिनव साधुवृत्ति के दार्शनिक विद्वान थे, अतएव स्वभावतः शान्तरस के प्रति उनका विशेष अनुराग था। उन्होने शान्तरस का रसत्व ही सिद्ध नही किया, वरन् अन्य सभी रसों का उसके अन्तर्गत समाहार करते हुए उसे प्रधान रस भी घोषित किया। वास्तव में संस्कृत साहित्य शास्त्र मे अभिनव गुप्त का स्थान अद्वितीय है, रस की मनोवैज्ञानिक व्याख्या का पूर्ण श्रेय उन्हीं को है।

अभिनव गुप्त के सिद्धान्तो का महिम भट्ट ने विरोध किया—उन्होंने व्यन्जना की स्थिति का निषेध किया और श्री शकुक के आधार पर रस को अनुमित माना। परन्तु उनका मत लोकप्रिय नही हुआ। रस का सबसे प्रबल पृष्ठपोषण राजा भोज ने किया—उन्होने केवल एक रस—शृङ्गार की ही स्थिति स्वीकार की, अन्य रसो का पृथक् अस्तित्व ही उनको मान्य नही था। उनका सिद्धान्त था कि अहङ्कार ही विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी आदि के द्वारा उद्दीप्त होकर रसत्व को प्राप्त हो जाता है। यह अहंकृति—यह अभिमान ही शृङ्गार है, यही रसत्व को प्राप्त हो जाता है। रति आदि भाव रस मे कभी परिणत नही हो सकते, वे तो केवल रस की श्रीवृद्धि करते हैं जिस प्रकार कि प्रकाश की किरणे अग्निकी द्युति-वृद्धि करती है। भोज के शृङ्गार-प्रकाश मे मौलिकता तो अधिक नही है, परन्तु अपनी व्यापकता और विस्तार के बल पर वह संस्कृत रस-शास्त्र का विश्वकोष कहा जा सकता है।

भोजराज के उपरान्त मम्मट और विश्वनाथ का नाम रस-सम्प्रदाय मे विशेषतया उल्लेखनीय है। मम्मट ने सभी प्रचलित सिद्धान्तो का स्वच्छ रीति से समाहार करते हुए ध्वनि और रस का समुचित व्याख्यान और प्रचार किया। रस-परम्परा मे विश्वनाथ का योग मम्मट की भी अपेक्षा अधिक है—उन्होने रस को ध्वनि से भी अधिक महत्व दिया—ध्वनिकार के विरुद्ध उन्होंने ध्वनि को रस के अन्तर्गत ग्रहण किया। ध्वनिकार ने रस को महत्व देते हुए भी उसे काव्य के

लिए सर्वथा अनिवार्य नहीं माना था; उसकी अनुपस्थिति मे भी मध्यम — या कम से कम अधम काव्य की स्थिति सम्भव थी। परन्तु विश्वनाथ ने मध्यम आदि काव्यों में भी काव्यत्व रस के कारण ही माना—उनमें भी रस का क्षीण से क्षीण आभास अवश्य होना चाहिये अन्यथा वे काव्य नहीं माने जा सकते। इसी सिद्धांत के अनुसार उन्होने चित्र को काव्य की कोटि से बहिष्कृत कर दिया। रस मे, परतु, उन्होने चित्र की विद्रुति की अपेक्षा चित्र के विस्तार को अधिक महत्व दिया और चमत्कार को उसका मूल तत्व माना—इसीलिए रसो में अद्भुत को उन्होंने प्रधानता दी।—विश्वनाथ के इस उग्र रस-सिद्धांत का विरोध अठारहवीं शताब्दी मे पंडित-राज जगन्नाथ ने किया — और फिर से ध्वनिकार की ही स्थापना को सर्वमान्य घोषित किया। विश्वनाथ के 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' को संकीर्ण कहकर उन्होंने काव्य को 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः' माना, और इस प्रकार भाव के अतिरिक्त कल्पना और बुद्धितत्वो को भी काव्य मे उचित स्थान दिया। पण्डितराज संस्कृत के दिग्गज विद्वानों मे से थे। उनके उपरांत संस्कृत साहित्य-शास्त्र की परम्परा में कोई उल्लेखनीय नाम नहीं मिलता। बस, फिर रस-परम्परा भी, जो उनके पूर्व से ही नायिका-भेद की संकुचित सरणि पर चलने लग गई थी, हिन्दी के रीतिकवियो के हाथ मे आ गई।

रस की परिभाषा :—रस की व्याख्या करनेवाला भरत का प्रसिद्ध सूत्र इस प्रकार है—'विभानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः—अर्थात् विभाव, अनु-भाव और व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। विभाव का अर्थ है रति, करुणा आदि भावो के कारण—ये दो प्रकार के होते हैं—( १ ) आलम्बन जिनके आधार से भाव जागृत होते हैं। जैसे—नायक-नायिका आदि और ( २ ) उद्दीपन जो भावो को उद्दीप्त अर्थात उत्तेजित करते हैं। उदाहरण के लिए वसन्त, उपवन, चाँदनी आदि। अनुभाव भावानुभूति के अनुकर्म हैं, अर्थात् उसके व्यक्त प्रभाव हैं, जैसे—भ्रूक्षेप, स्मिति, कटाक्ष आदि। व्यभिचारी अस्थायी भाव है जो क्षण क्षण में उठ गिर कर स्थायी भाव की पुष्टि करते हैं। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावो का संयुक्त रूप मे साक्षात्कार कर दर्शक के मन में एक उत्कट आनन्दमयी भावना का संचार होता है—यही रस या काव्यानन्द है। एक स्पष्ट उदाहरण लीजिए—"कुशल नट और नटी दुष्यन्त और शकुन्तला के रूप मे हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। ये पहले-पहल तपोवन की रमणीय कुन्जो में मिलते है [विभाव]। दोनो एक दूसरे के आल्हादकर सौन्दर्य को देखकर चकित हो जाते हैं और तृषित उत्सुक नेत्रो से एक दूसरे की ओर देखते है—अनिच्छा-पूर्वक जाती हुई शकुन्तला चोरी-चोरी एक दृष्टि-पात करती है [ अनुभाव ]। वियोग मे

कभी उत्कण्ठा और कभी निराशा से व्यग्र होकर वे एक दूसरे से मिलने को आतुर हो उठते है व्यभिचारी भाव']। सौभाग्य से शकुन्तला सखी की सहायता से प द्वारा दुष्यन्त पर अपना प्रेम प्रकट करने का अवसर प्राप्त करती है। इतने ही में दुष्यन्त वहाँ आकर सहसा उपस्थित हो जाता है—और इस प्रकार दोनों प्रेमियों का संयोग हो जाता है। जब यह सब ( विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव आदि का संयोग ) कविता, संगीत, रंग-वैभव आदि की सहायता से, जिनको भरत ने नाट्य-धर्मी कहा है, मञ्च पर प्रदर्शित किया जाता है तो प्रेक्षक के हृदय में वासना रूप से स्थित रति स्थायी भाव जागृत होकर उस चरम सीमा तक उद्दीप्त हो जाता है जहाँ प्रेक्षक व्यक्ति और देशकाल का अन्तर भूलकर सामने उपस्थित घटना में तन्मय हो जाता है,और चरमावस्था को प्राप्त उसका यह भाव उसे एक आनन्दमयी चेतना मे विभोर कर देता है। यही आनन्दमयी चेतना रस है।" [ संकरन के एक उद्धरण का अनुवाद ] ❀ और स्पष्ट शब्दो मे, आलम्बन विभाव से उद्बुद्ध, उद्दीपन से उद्दीप्त, व्यभिचारियो से परिपुष्ट, तथा अनुभावो से परिव्यक्त सहृदय का स्थायीभाव ही रस-दशा को प्राप्त होना है—

> "विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
> रसतामेति रत्यादि· स्थायिभावाः सचेतसाम्॥'

आगे चलकर रसमग्न करने की क्षमता रूपक और काव्य तक ही सीमित नही रही—स्फुट रचनाओ मे भी मान ली गई—और फिर इसकी परिधि गीत, नृत्य तथा चित्र आदि कलाओ तक विस्तृत होगई। संगीत, नृत्य आदि के द्वारा भी रस के प्रदर्शन और अभिव्यक्ति आदि की चर्चा परवर्ती शास्त्रो मे मिलती है।—रूपक या काव्य ही नही स्फुट छन्द यहाँ तक कि गीत, नृत्य और चित्र भी सहृदय को रस-विभोर कर सकते है। इस प्रकार पारिभाषिक शब्दो के फेर मे न पडकर यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि रस एक आनन्दमयी चेतना है। परन्तु यह जागृत किस मे होती है, और किस प्रकार की होती है—अर्थात काव्य से उद्बुद्ध इस आनन्दमयी चेतना मे और अन्य निमित्तो से उद्बुद्ध आनन्दमयी चेतना मे क्या अन्तर है? ये प्रश्न उठते है। दूसरे शब्दो में रस की मूल स्थिति किस मे है? और रस का स्वरूप क्या है!

## रस की स्थिति

रस की स्थिति के विषय मे संस्कृत आचार्यों में बहुत मतभेद रहा है। भरत ने रस की व्याख्या मे एक सूत्र देकर छोड दिया है 'विभावानुभावव्यभिचारि-

---

[Some aspects of Literary Criticism in Sanskrit 1929 पृष्ठ १९]

संयोगाद्रसनिष्पत्तिः'; अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। निष्पत्ति से उनका क्या तात्पर्य है और वह किस प्रकार होती है इसका विवेचन उन्होने सम्यक् रूप से नहीं किया। इस प्रसंगमे उन्होंने आगे भी कुछ वाक्य दिये है, जैसे "यथा गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यन्जनैरोषदिधिभिश्च षड्रसा निवर्त्यन्ते, एवं नानाभावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति।" अर्थात् जिस प्रकार गुड़ आदि द्रव्यों, व्यंजनो और औषधियों से षट्रस बनते हैं इसी प्रकार नाना भावो से घिरे हुए स्थायी भाव रसत्व को प्राप्त होते हैं. "प्रपाणक-रसन्यायात् चर्व्यमाणो रसो मतः।" परन्तु इससे भी समस्या कुछ सुलझ नही सकी—इसलिए परवर्ती आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से उसकी पृथक्-पृथक् व्याख्या की। यहाँ स्पष्ट ही साहित्य का एक अत्यन्त मौलिक प्रश्न उठता है—रस का मूल भोक्ता कौन है? कवि या नाटककार, अथवा श्रोता या दर्शक या फिर काव्य या नाटक के पात्र अथवा इन काव्यगत पात्रो के मूल रूप ऐतिहासिक अथवा पौराणिक स्त्री-पुरुष और या फिर नट-नटी? इनमे श्रोता या दर्शक का तो किसी न किसी रूप मे इसका भोक्ता होना सर्वथा स्पष्ट है और सभी ने उसको स्वीकार भी किया है–किस रूप मे स्वीकार किया है यह दूसरी बात रही। वास्तव मे यह बात इतनी प्रत्यक्ष और स्वतःसिद्ध है कि इसका निषेध धोखे से भी नही किया जा सकता। नाटक या काव्य का अस्तित्व क्यो है? देखने या पढने के लिए। कोई उसे क्यो देखे, पढे या सुने? आनन्द के लिए। अब यहाँ भी कोई यह प्रश्न उठा बैठे कि किसके आनन्द के लिए, तो आप प्रश्नकर्ता के दुराग्रह अथवा उसकी 'मूर्खता' पर कुछ झुँझला कर यही उत्तर देगे कि स्पष्टतः अपने आनन्द के लिए। जो कोई कुछ भी करता है, अपने आनन्द के लिए ही करता है। दूसरो के आनन्द के लिए भी वह जो कुछ करता है उसकी प्रेरणा उसके अपने आनन्द मे ही निहित रहती है।

भरत-सूत्र के सब से पहले जिस व्याख्याकार का मत अभी तक प्राप्त हो सका है, वह लोल्लट है। वह सामाजिक के आनन्द को तो अस्वीकृत नही करता, परन्तु उसकी धारणा है कि रस का वास्तविक आस्वादन नायक-नायिका ही करते है—सामाजिक के हृदय मे तो नट-नटी के माध्यम से उनके रस की प्रतीति कर रस उत्पन्न होता है। अर्थात् नायक-नायिका का रस है वास्तविक, सामाजिक का है प्रतीति-जन्य, अपरागत (second hand)। और इस प्रतीति के माध्यम है नट-नटी। सामाजिक नट-नटी मे नायक-नायिका का आरोप कर (उनके नाट्य-कौशल के कारण उन्हीं को नायक-नायिका समझता हुआ) नाटक का आनन्द लेता है। यहाँ दो-तीन प्रश्न उठते हैः (१) नायक-नायिका (दुष्यंत-शकुन्तला) से क्या आशय है? मूल ऐतिहासिक दुष्यंत और शकुन्तला का या नाटक मे वर्णित दुष्यंत और

शकुन्तला का ? (२) नट-नटी का इनसे क्या सम्बन्ध है ? (३) दूसरे के रस की प्रतीति से सामाजिक के हृदय मे रस कैसे उत्पन्न होता है ? भट्ट लोल्लट अपना आशय शायद इस प्रकार स्पष्ट करते : एक दिन अचानक ही दुष्यंत और शकुन्तला तपोवन की रम्य कुंजस्थली में मिलते हैं और एक दूसरे के अपूर्व सौंदर्य को देख मुग्ध-चकित हो जाते है। दोनो के हृदय मे स्थित वासना-रूप रति जागृत हो जाती है। दुष्यंत शकुन्तला की ओर विस्फारित नेत्रो से देखता रह जाता है—शकुन्तला भी चोरी-चोरी सलज्ज दृष्टि उसकी ओर डालती है। ये अनुभाव उनकी जागृत रति को व्यक्त करते हैं। दोनो के मन मे अनेक तर्क-वितर्क उठने लगते हैं, और वे वियोग-जन्य ताप मे जलने लगते हैं। इन संचारियो से रति परिपुष्ट होती है अंत मे दुष्यंत स्वयं ही वहाँ प्रकट हो जाता है। इस प्रकार दोनो का संयोग होने पर रति-भाव पूर्णत: उद्बुद्ध होकर शृंगार रस मे परिणत हो जाता है और वे उसका आनन्द लेते हैं। अतएव, रस का वास्तविक अनुभव करते हैं नायक-नायिका। अब प्रश्न यह उठता है कि इनका नायक-नायिका से लोल्लट का आशय कौन से दुष्यंत-शकुन्तला से है ? ऐतिहासिक महाराज दुष्यंत और मेनकात्मजा कण्वपोष्या शकुन्तला से, जिनका वर्णन हम महाभारत मे पढते हैं और जिसे कालिदास ने भी उसी रूप मे पढा होगा ? अथवा कालिदास द्वारा अंकित दुष्यंत और शकुन्तला से, जो महाभारत के दुष्यंत-शकुन्तला से निश्चय ही कुछ अंशो मे तो भिन्न हैं ही ? भट्ट लोल्लट का अभिप्राय निरसंदेह ही ऐतिहासिक दुष्यंत-शकुन्तला से है। या यों कहें कि वह इतिहास के दुष्यंत-शकुन्तला और 'शाकुन्तलम्' के दुष्यंत-शकुन्तला मे कोई मूलगत अंतर नही मानता। एक तो शायद इसलिए कि नियम के अनुसार नाटक के नायक-नायिका प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति ही होते है; दूसरे इसलिए भी कि उस समय तक काव्यगत पात्रो मे कवि के आत्मांश को स्वीकार करने की क्षमता आलोचक को प्राप्त नही हो सकी थी। वैसे भी भारतीय साहित्य-शास्त्र की वाह्यार्थ-निरूपणी दृष्टि कवि के आत्मांश की उपेक्षा ही करती आई है। थोडी गहराई मे जा कर देखा जाये तो महाभारत के दुष्यंत-शकुन्तला भी मूल ऐतिहासिक दुष्यंत-शकुन्तला नही है। ख़ैर, यह एक लम्बा प्रसंग है जिसका विवेचन आगे किया जायगा। यहाँ केवल यही निर्देश करना है कि भट्ट लोल्लट रस की स्थिति ऐतिहासिक दुष्यंत-शकुन्तला मे ही मानता है। कवि-अंकित दुष्यंत-शकुन्तला को या तो वह उनमे एकरूप कर देखता है। या फिर, जैसा कि कुछ विद्वानो का मत है, नट-नटी की भांति माध्यम मात्र मानता है। प्रेक्षक सामने नट-नटी को उनका अभिनय करते हुए देखता है, और उनकी कुशलता एवं सजीवता के कारण उनमें ही दुष्यंत-शकुन्तला का आरोप कर लेता है—अर्थात् उन्ही को दुष्यंत-शकुन्तला समझ लेता है। रंग-मंच पर उनको रस-ग्रहण करते हुए देख वह यही समझता है कि

वास्तविक दुष्यंत-शकुन्तला रस-ग्रहण कर रहे है और उनकी रस-दशा को देखकर स्वयं भी रसानुभव करने लगता है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि दूसरे के रस को देखकर प्रेक्षक रसानुभव कैसे कर सकता है? बाद के व्याख्याकारो को इसके साथ ही कई मनोवैज्ञानिक और नैतिक आक्षेप उठाये है : (१) दूसरे को इस दशा मे देखना, विशेषकर यदि रस शृङ्गार है, अनुचित है, अनैतिक है। अनुचित या अनैतिक कर्म करने की शास्त्र कैसे आज्ञा दे सकता है? और उससे आनंद कैसे सम्भव है? मनोविज्ञान की दृष्टि से भी तो यह आवश्यक नही कि दूसरे के प्रेम-मिलन का आनंद देखकर हमें प्रेम का आनन्द ही प्राप्त हो—ईर्ष्या हो सकती है, लज्जा, विरक्ति और क्रोध तक हो सकता है।

भट्टलोल्लट को उत्तर देने का अवसर नही मिला, वह इन आक्षेपो का क्या उत्तर देता, यह नही कहा जा सकता। पर आज का समालोचक बड़ी सरलता से कह सकता है कि हम मानव-सुलभ सहानुभूति के द्वारा दूसरे के आनन्द से आनंदित हो सकते हैं। आनंद के अतिरिक्त भी जो प्रतिक्रिया होगी, वह भी सहानुभूति के ही द्वारा होगी और आनंद का ही कोई रूप होगी, चाहे विपरीत रूप ही क्यो न हो। दुष्यंत और शकुंतला का संयोग-सुख देखकर यदि हमे ईर्ष्या होती है तो यह न समझना चाहिए कि हमारी ईर्ष्या की भावना उनके संयोग-सुख से सर्वथा भिन्न है। यह भी उसी का रूप है, पात्र और परिस्थिति के वैपरीत्य से उसका रूप-मात्र बदल गया है और यह रूप-परिवर्तन तो किसी भी दशा मे संभव है।

संक्षेप मे भट्टलोल्लट-कृत विवेचन की शक्ति और सीमायें इस प्रकार हैं:—

शक्ति—(१) उसने रसास्वादन के मूल-तत्व सहानुभूति की ओर सफल संकेत किया है। (२) उसने ऐतिहासिक व्यक्तियो मे रस की स्थिति मान कर सौंदर्य या रस को विषयगत माना है, और इस प्रकार काव्य-विषय की महत्ता का प्रतिपादन किया है। यह सिद्धान्त आत्यंतिक रूप से सत्य न होते हुए भी सर्वथा अनर्गल नही है। हमारे हृदय मे कुछ विषय अन्य विषयो की अपेक्षा रस की उद्बुद्धि अधिक मात्रा मे तथा अधिक सरलता से कर सकते हैं, और इसका कारण यह है कि इन विषयो पर हमारे अपने, हमारी जाति के, हमारे देश के, और आगे बढ़ कर संपूर्ण मानवता के परंपरागत संस्कारो के पर्त चढ़े हुए है। इसलिये विशेष कठिनाई के बिना हमारी वासना, जो स्वयं संस्कार-रूप है, जागृत की जा सकती है। यह रसानुभूति अपेक्षाकृत कही अधिक गहरी भी होती है, क्योकि इसमें परिस्थिति-विशेष के ही नहीं वरन् युग-युग के, और उधर हमारे एक व्यक्ति के ही नही वरन् समग्र जाति के संस्कार एक साथ जग उठते है। हिटलर पर स्टालिन की विजय का चित्र देख कर साधारणतः हमारे आज के (राजनीति से प्राप्त) संस्कार ही झंकृत होते

हैं, परन्तु रावण पर राम की विजय का वर्णन पढ़ कर युग-युग तक प्रसरित संस्कारों का जाल झंकृत हो उठता है। स्पष्टतः यह दूसरी झंकार पहले की अपेक्षा कहीं अधिक गहरी और सबल होगी। संचारियों से स्थायी भावों को अथवा एक रस से दूसरे को अधिक महत्त्व देने का भी यही कारण है। आलोचना के इस समृद्ध युग में भी हम मैथ्यू आर्नल्ड और आचार्य शुक्ल को इसी सिद्धांत को स्वीकार करते हुए पाते हैं। आज का पदार्थवादी दृष्टिकोण भी हीगेल के आदर्शवाद का (अर्थात् ज्ञान से पदार्थ की उत्पत्ति का) निषेध कर वस्तु या पदार्थ से ही ज्ञान की उत्पत्ति मानता हुआ बहुत कुछ इसी वस्तु-परक सिद्धान्त की ओर लौट आया है। हमारे यहाँ मीमांसकों का दृष्टिकोण यही था—और लोल्लट मीमांसक ही तो था।

(३) उसने नट में भी रसानुभूति की स्थिति को स्वीकार किया है। वास्तव में नट के लिये भी रसानुभुति अनिवार्य है—उसके बिना सफल अभिनय नहीं हो सकता। कोई भी कला बिना अनुभूति के सफल कैसे हो सकती है, वह कोई यन्त्र-परिचालित कर्म तो है नहीं। नट का लक्ष्य चाहे धन हो या और भी कुछ, परन्तु अभिनय के समय उसे तन्मय, रस-मग्न होना ही पड़ेगा नहीं तो अभिनय सफल नहीं हो सकता।

सीमा :— (१) वह ऐतिहासिक व्यक्तियों और कवि द्वारा अंकित उनके-प्रतिरूप व्यक्तियों का अंतर स्पष्ट नहीं कर पाया और न यह स्पष्ट कर पाया है कि ऐतिहासिक नायक-नायिका की काव्य में कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। काव्य में तो उनके प्रतिरूप नायक-नायिका की ही सत्ता है जो कविकी अपनी अनुभूतिके मूर्तरूप मात्र है। अतएव नायक-नायिका में रस की स्थिति मानना वास्तव में कोई अर्थ नहीं रखता। इस प्रकार भट्ट लोल्लट वास्तव में यह नहीं जान सका कि जिस प्रकार दर्शक नाटक देखने के समय रसानुभव करता है और नट अभिनय के समय, इसी प्रकार कवि स्वयं भी नाटक या काव्य का सृजन करते समय रसका अनुभव करता है। उसके विवेचन की सब सेबड़ी सीमा यही थी क्योंकि इस प्रकार कल्पित पात्र और कल्पित घटना वाले उपन्यास, कथा, आख्यायिका आदि के रसास्वादन का कोई समाधान नहीं रह जाता।

(२) उसने सामाजिक के रसास्वादन को सर्वथा गौण स्थान दिया है।

भरतसूत्र का दूसरा व्याख्याता हुआ, शंकुक। उसने भट्टलोल्लट का विरोध करते हुए निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति किया। अर्थात् उसने प्रतिपादित किया कि रस उत्पन्न नहीं होता, अनुमित होता है। रस की मूलस्थिति वह भी ऐतिहासिक नायक-नायिका में ही मानता है। प्रेक्षक उसको ( आरोप के द्वारा ) प्रत्यक्ष देख कर प्राप्त नहीं करता, वरन् अनुमान से प्राप्त करता है। उसका आक्षेप है कि दूसरे को रस-दशा में देखकर, पहले तो प्रेक्षक को रस-प्रतीति ही नहीं हो सकती और

यदि कुछ उत्तेजना होती भी है, तो यह आवश्यक नहीं कि वह अनुकूल ही हो प्रतिकूल न हो। उदाहरण के लिए, नायक-नायिका की प्रत्यक्ष शृङ्गार-रसानुभूति सहृदय में संकोच, ईर्ष्या, विरक्ति आदि की भावना भी तो जागृत कर सकती है। परन्तु इस आक्षेप के द्वारा शंकुक एक प्रकार से सहानुभूति तत्व का निषेध करता है जो मनोविज्ञान की दृष्टि से असंगत है। उसका दूसरा आक्षेप यह है कि जिन नायक-नायिका को हमने कभी देखा नहीं, उनके रसास्वादन की अनुभूति हम को कैसे हो सकती है? आज का आलोचक उसका भी उत्तर देने मे असमर्थ नहीं है। वह कहेगा 'कल्पना के द्वारा'। पहले नाटककार स्वयं सहानुभूति और कल्पना के द्वारा (जिसमे कि ये दोनों गुण असाधारण मात्रा मे मिलते हैं) अपने को नायक अथवा नायिका से तद्रूप कर देता है, और फिर उसकी सहायता से प्रेक्षक भी इन्हीं दो गुणों के द्वारा उसका साक्षात्कार कर लेता है। परन्तु शंकुक इस समाधान तक नहीं पहुच सका और इसका भी कारण यही था कि संस्कृत के आचार्य रसा-स्वादन मे कवि के व्यक्तित्व को लगभग छोड़कर चले हैं। निदान शंकुक ने रस की प्रतीति न मान कर, 'चित्र-तुरग न्याय' के आधार पर इसका अनुमान ही सम्भव माना है। शंकुक का सिद्धान्त कुछ इस प्रकार है: भरत ने स्थायी भाव और रस मे कोई अंतर नहीं माना। स्थायी भाव की मूल अनुभूति तो ऐतिहासिक नायक-नायिका को ही होती है। परन्तु रंगमंच पर नट-नटी इतना सफल अभिनय करते हैं कि प्रेक्षक चित्र-तुरग न्याय से उन्ही को नायक-नायिका समझ लेता है और उनके अभिनय का आनन्द लेता हुआ मूल भाव का अनुमान करता है। यह अनु-मित (स्थायी) भाव ही रस है और वास्तविक (स्थायी) भाव से भिन्न न होकर उसका अनुकृत रूप ही है। अतएव मूल भाव का अनुभव करते हैं नायक-नायिका, उसके अनुकृत भाव (रस) का अनुमान द्वारा अनुभव करते हैं प्रेक्षक, और इस अनुमान का माध्यम है नट-नटी जिनका अभिनय-सौंदर्य (अपूर्व-वस्तु-सौंदर्य) इस अनुमान को सम्भव बनाता है। परन्तु मनोविज्ञान की दृष्टि से अनुमान द्वारा रसानुभूति की बात मिथ्या है, लोक-अनुभव के विरुद्ध है। अनुमान बुद्धि की क्रिया है मन की नहीं, अनुमान से ज्ञान होता है, अनुभूति नहीं। किसी प्रणयी-युग्म को एकांत उपवन-गृह की ओर जाते हुए देखकर हमको अनुमान के द्वारा तो केवल यह ज्ञान ही होता है कि वे प्रणयानुभव करेंगे, या कर रहे होंगे। इसके आगे यदि हमें भी वैसी उत्तेजना होती है तो वह इसलिए नहीं होती कि हमने एक उसका अनुमान लगा लिया है, वरन् इसलिए कि हमने एक क़दम और आगे बढ़कर कल्पना और सहानुभूति के द्वारा अपने को उस स्थिति में डालकर उनके प्रणयानंद का मनसा साक्षात्कार कर लिया है। —शंकुक ने वास्तव में रसास्वादन के विवेचन मे विशेष योग नहीं दिया। भट्टलोल्लट की सीधी बात को उसने और उलझा दिया है और

सहानुभूति-तत्व का निषेध कर अनुमान के सिद्धान्त द्वारा उलटा भ्रम पैदा कर दिया है। उसकी देन बस एक है। वह यह कि नट-नटी के अभिनय-कौशल का आनन्द भी रसानुभव में महत्वपूर्ण योग देता है—इस तथ्य का उसने असंदिग्ध शब्दों मे निर्देश किया है। अप्रत्यक्ष रूप से उसका योग यह है कि उसने रस-सिद्धान्त को पूर्णतः वस्तु-परक स्थिति से हटाकर व्यक्ति-परक स्थिति की ओर एक पग आगे बढाया।

इस समस्या को भट्टनायक ने बहुत कुछ सुलझाया है। लोल्लट, शंकुक और इधर ध्वनिकार के मतों का खण्डन करते हुए उसने लिखा है कि रस का न तो ज्ञान होता है न उत्पत्ति, और न अभिव्यक्ति। उसने दो अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न उठाये हैं: एक तो यह कि यदि रस दूसरे के भाव के साक्षात्कार अथवा ज्ञान से उत्पन्न होता है तो शोक से शोक की उत्पत्ति होनी चाहिये न कि आनंद या रस की। और शोक-प्राप्ति के लिए कोई क्यों नाटक देखेगा या काव्य पढ़ेगा ? दूसरे, अगर सहृदय के हृदय मे ही रस स्थित रहता है और विभाव, अनुभाव तथा संचारी के संयोग से अभिव्यक्त हो जाता है, तो प्रश्न यह उठता है कि एक का भाव अर्थात् नायक का व्यक्तिगत भाव, दूसरे के अर्थात् प्रेक्षक के वैसे ही व्यक्तिगत भाव को कैसे अभि-व्यक्त कर सकता है ? फिर रति, शोक आदि की अभिव्यक्ति संभव भी हो सके, परन्तु समुद्र-लंघन जैसे असाधारण भावों की अभिव्यक्ति साधारण पाठक मे कैसे हो सकती है ? किन्तु यह प्रश्न मौलिक होते हुए भी अकाट्य नही है। पहले प्रश्न का उत्तर आज का आलोचक यह देगा कि एक तो प्रेक्षक या पाठक को शोक का प्रत्यक्ष ज्ञान या साक्षात्कार नहीं होता केवल मनसा ( कल्पना-द्वारा ) साक्षात्कार होता है, और मानसिक रूप धारण करने मे कटु से कटु अनुभव भी क्रमशः अपनी कटुता खो देता है। स्मृति इसका एक साधारण प्रमाण है। कटु से कटु स्मृति मे भी कटुता की क्षति और एक प्रकार के अपनेपन की उद्भूति हो जाती है। इसके अतिरिक्त, कवि या नाटककार का अपना सृजन-अनुभव या सहजानुभूति—और स्पष्ट शब्दों में अनुभूति की सफलता का आनंद भी तो इस शोक को अपने रंग मे रँगकर हमारे सामने उपस्थित करता है। कवि का अनुभव दूसरे के शोक का प्रत्यक्ष अनुभव नही है, उस शोक के सफल भावन का अनुभव है जो स्वभा-वतः आनंदमय होता है। प्रेक्षक या पाठक को कवि के इस सफल ( आनंदमय ) भावन ही अनुभूति होती है, अतएव उसका अनुभव भी आनद-रूप ही होता है चाहे नाटक का विषय सुखात्मक हो या दुःखात्मक। यह समाधान उस समय प्राप्त नहीं हो सका; और इसका कारण भी यही था कि संस्कृत के आचार्यों ने कवि के व्यक्तित्व को लगभग छोड़ ही दिया था।

भट्ट नायक के दूसरे प्रश्न का उत्तर भी सरल है। पहले तो काव्यगत 'भाव' सामान्यतः असाधारण नहीं हो सकता क्योंकि कोई भी अनुभव 'भाव'-संज्ञा को तभी प्राप्त कर सकता है जब कवि को स्वयं उसकी सहजानुभूति हो गयी हो। और कवि के लिए जब उसकी अनुभूति संभव है तो प्रेक्षक या पाठक के लिए भी सर्वथा सम्भव ही होनी चाहिए; क्योंकि कवि की प्रतिभा कितनी ही लोकोत्तर अथवा असाधारण क्यों न हो, उसके मन की स्थिति तो साधारण ही होती है। और यदि ऐसा नहीं है, यदि कवि अलौकिक रहस्य-द्रष्टा है या विक्षिप्त है, तो न तो वह अपने अनुभव को प्रेषणीय बना सकता है और न पाठक ही उस असाधारण अनुभव की सहजानुभूति कर सकता है। उसकी कृति फिर काव्य की परिधि से बाहर पड़ेगी। इस प्रकार काव्यगत किसी भी भाव या अनुभूति की स्थिति प्रेक्षक या पाठक में असंभव नही मानी जासकती। हनुमान के समुद्र-लंघन का उत्साह सर्वथा अलौकिक या अमानवीय, असाधारण या विशिष्ट नही है। साधारण उत्साह से मूलतः यह भिन्न नहीं है। एक शब्द में (जैसा कि बाद में अभिनवगुप्त ने कहा भी), काव्यगत कोई 'भाव' विशिष्ट नहीं होता, साधारणीकृत होता है और हृदय में उसकी स्थिति सर्वथा स्वाभाविक है।

पर भट्ट नायक ने इन शंकाओं का समाधान दूसरे प्रकार से किया। उसने रस की स्थिति न तो नायक-नायिका में मानी, न नट-नटी में। रस की स्थिति उसने सीधी सहृदय में मानी। भट्ट नायक के अनुसार काव्य में तीन शक्तियाँ निसर्ग-सिद्ध है: (१) अभिधा, (२) भावकत्व और (३) भोजकत्व। अभिधा वह शक्ति है जिसके द्वारा पाठक या प्रेक्षक काव्य के शब्दार्थ का ग्रहण करता है, यह प्रत्येक शब्द-रूप ज्ञान में होता है। दूसरी शक्ति है भावकत्व जिसके द्वारा उसे उस अर्थ का भावन होता है। भावन होने पर भाव की वैयक्तिता का नाश होकर साधारणीकरण हो जाता है और भाव विशिष्ट न रहकर साधारण बन जाता है। उदाहरण के लिए दुष्यंत की शकुन्तला के प्रति रति, दुष्यंत का शकुन्तला के प्रति भाव नही रह जाता, न नट का नटी के प्रति, न प्रेक्षक का अपनी प्रेमिका के प्रति। वह पुरुष का स्त्री के प्रति सहज साधारण रति-भाव ही रह जाता है। इस प्रकार भावकत्व के द्वारा नायक-नायिका, नट-नटी, प्रेक्षक और उसकी प्रेमिका, सभी का वैयक्तिक तत्व अंतर्हित हो जाता है, और शुद्ध साधारणीकृत अनुभव रह जाता है। ऐसा होने से आप से आप रजोगुण और तमोगुण का लोप होकर सतोगुण का आविर्भाव हो जाता है। बस यहाँ काव्य की तीसरी शक्ति भोजकत्व काम करती है और प्रेक्षक या पाठक आनंद का उपभोग करता है। इस प्रकार रस की अभिव्यक्ति नही भुक्ति होती है।

भट्ट नायक संस्कृत के बड़े मेधावी आलोचकों में से है। उसके विवेचन से रस-शास्त्र अत्यंत समृद्ध और समुन्नत हुआ, इसमें संदेह नही। उसने अभिनव से

पूर्व रस को विषयगत न मानकर विषयीगत माना। उसका साधारणीकरण का सिद्धांत काव्य-शास्त्र के लिए अमर वरदान सिद्ध हुआ, जिसके बिना रस की समस्या सुलझ ही नहीं सकती थी।

## साधारणीकरण

साधारणीकरण का अर्थ है काव्य के भावन द्वारा पाठक या श्रोता का 'भाव की सामान्य भूमि पर पहुँच जाना'—दुष्यन्त को शकुन्तला के प्रति रति का भावन करते हुए भाव की उस अवस्था पर पहुँच जाना जहाँ यह रति शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त की रति न रह कर पुरुष की स्त्री के प्रति साधारण रति-मात्र रह जाती है। जो कोई भी शाकुन्तलम् के इस दृश्य को देखता है या पढ़ता है वही उसमें अपने हृदय में स्थित रति का अनुभव करता है। यह किस प्रकार संभव होता है? इसका विवेचन करते हुए आचार्य शुक्ल लिखते हैं—"जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। (विषय का) इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है। (चिंतामणि, साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्य वाद)।" इस प्रकार साधारणीकरण से शुक्लजी का आशय आलम्बन का साधारणीकरण है।

"तात्पर्य यह है कि आलम्बन-रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण, सबके भावों का आलम्बन हो जाता है।" इसका अनुवर्ती परिणाम स्वभावतः यह होता है कि पाठक का अपना तादात्म्य आश्रय के साथ हो जाता है। "साधारणीकरण के प्रतिपादन में पुराने आचार्यों ने श्रोता (या पाठक) और आश्रय (भाव-व्यंजना करने वाले पात्र) के तादात्म्य की अवस्था का ही विचार किया है।"

इसका संकेत विश्वनाथ में मिलता है। परन्तु यह भट्ट नायक और अभिनव का मत नहीं है। उन दोनों ने शब्द भेद से स्थायी भाव तथा विभावादि सभी का साधारणीकरण माना है। केवल विभाव का साधारणीकरण और तदनुसार आश्रय के साथ तादात्म्य उनको मान्य नहीं है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि शकुन्तला, सीता आदि पूज्य व्यक्तियों में सहृदय के लिए रति भावना करना अनुचित होगा। इसीलिए सहृदय न आलम्बन से प्रेम करता है और न आश्रय से तादात्म्य, क्योंकि उसका यह प्रेम अपना व्यक्तिगत प्रेम नहीं होता। 'न ममेति न परस्येति।' आगे चलकर शुक्ल जी कहते हैं कि "कभी-कभी ऐसा होता है कि पाठक या श्रोता की मनोवृत्ति या संस्कार के कारण वर्णित व्यक्ति विशेष के स्थान पर कल्पना में उसी

के समान धर्म वाली कोई मूर्ति विशेष आ जाती है। जैसे यदि किसी पाठक या श्रोता का किसी सुन्दरी से प्रेम है तो श्रृङ्गार रस की फुटकल उक्तियाँ सुनने के समय रह-रहकर आलम्बन रूप में उसकी प्रेयसी की मूर्ति ही उसके सामने आयगी।' भट्ट नायक और अभिनव गुप्त इसका भी निषेध करते हैं कि हम दुष्यन्त के स्थान पर अपने को और शकुन्तला के स्थान पर अपनी प्रेयसी को देखने लगते हैं। क्योंकि एक तो अपनी रति का प्रकाशन लज्जास्पद है, दूसरे यह भी सम्भव है कि हमारा किसी व्यक्ति विशेष से प्रेम ही न हो। उस समय शुक्ल जी कहते है कि हमारे सामने किसी कल्पित सुन्दरी का चित्र आयगा, परन्तु किसी कल्पित सुन्दरी का चित्र आना व्यक्तिगत रति का नही साधारण रति का रूप है। दूसरे यदि भाव मधुर न होकर कटु है—जैसे राम का रावण पर क्रोध देखकर मेरा भी अपने शत्रु के प्रति क्रोध जागृत हो जाता है, तो मेरा यह अनुभव प्रत्यक्ष होने के कारण कटु ही होगा, रस इसे नही कह सकते। वास्तव मे यह सब-कुछ होता तो साधारणीकरण की आवश्यकता ही क्या होती?

अब प्रश्न यह उठता है कि साधारणीकरण किसका होता है? 'मानस' में पुष्प-वाटिका के प्रसंग को पढ़ते हुए मुझे तीन व्यक्तियों की चेतना है—अपने (सहृदय की) राम (आश्रय) की और सीता (आलम्बन) की। इनके अतिरिक्त एक अव्यक्त व्यक्तित्व और है—कवि का। मेरे (सहृदय के) व्यक्तिगत आलम्बन का भी एक अव्यक्त व्यक्तित्व हो सकता है। परन्तु यह चूंकि सभी दशाओं मे सम्भव नही है, इसलिए इसे छोड देते है। साधारणीकरण की संभावना दो की ही हो सकती है (क्योंकि मै तो साधारणीकृत रूप का भोक्ता हूं) १ आश्रय की और २. आलम्बन की। क्या साधारणीकरण आश्रय का होता है? अर्थात् क्या राम का व्यक्तित्व सभी सहृदयों का व्यक्तित्व हो जाता है—और स्पष्ट शब्दों मे, क्या सभी सहृदय अपने को राम समझकर रति का अनुभव करते है? नही। यहाँ शायद आश्रय का व्यक्तित्व प्रेय होने के कारण और भाव मधुर होने के कारण आपको 'हां' कहने का लोभ हो जाय। परन्तु जहाँ आश्रय अप्रिय है और भाव कटु है वहां इसकी संभावना कैसे हो सकती है? उदाहरण के लिए आश्रय रावण है और वह सीता के प्रति क्रोध प्रदर्शित कर रहा है। वास्तव मे आश्रय तो घृणित, क्रूर, नीच, आपके व्यक्तित्व के ठीक विपरीत भी हो सकता है—आप उसके साथ कहां तक तादात्म्य करते फिरेंगे? अच्छा आश्रय को छोडिए। साधारणीकरण नायक का होता है "नायकस्य कवे. श्रोतु समानोऽनुभवस्तत." (भट्टतौत) इसमे क्या आपत्ति है? आपत्ति स्पष्ट है। संस्कृत काव्य का नायक, ऐसे गुणों से विभूषित होता था कि उसके साथ तादात्म्य करना प्रत्येक सहृदय को सहज और स्पृहणीय था, परन्तु आज तो काव्य

पर यह प्रतिबन्ध नहीं है। आज अनेक प्रथम श्रेणी के उपन्यासों में नायक का रूप उक्त आदर्श के बिलकुल विपरीत मिलता है जिसके साथ तादात्म्य आपके लिए न सहज होगा, न स्पृहणीय। उदाहरण के लिए, एक साम्यवादी उपन्यासकार किसी हृदयहीन पूँजीपति को नायक के रूप मे हमारे सामने लाकर पूँजीवाद के प्रति अपनी सम्पूर्ण घृणा को उसके व्यक्तित्व मे पुञ्जीभूत कर देता है। उपन्यास व्यक्ति-प्रधान है क्योंकि उसका उद्देश्य पूंजीवाद की मूल चेतना व्यक्तिवाद के प्रति घृणा जगाना है : नायक असंदिग्ध रूप में वही घृणित व्यक्ति है। परन्तु क्या आप उससे तादात्म्य कर सकेंगे ? यदि ऐसा कर सकेंगे तो यह उपन्यासकार की घोर विफलता होगी। इस प्रकार मूलत: नायक का भी साधारणीकरण नहीं होता। अब रह जाता है आलम्बन का प्रश्न। क्या आलम्बन का साधारणीकरण होता है? अर्थात् पुष्प-वाटिका के प्रसग मे जिस सीता के प्रति राम की रति का अंकुर प्रस्फुटित हुआ, उसके प्रति क्या प्रत्येक सहृदय की भी रति जागृत हो जाती है। क्या राम की क्रिया विश्व-क्रिया बन जाती है ? हमारा आस्तिक आचार्य (भट्टनायक आदि) "शांतं पापं, शांतं पापं," कह उठता। और उसने स्पष्ट शब्दों तिरस्कार भी किया है। परन्तु क्या ऐसा होता नहीं ? क्या पुष्प-वाटिका की भी सीता हमारी माता ही बनी रहती है। अगर माता ही बनी रहती है तो यह कहना मिथ्या है कि हम अमिश्रित शृंगार रस का अनुभव कर रहे है। हम उसे जब तक प्रेयसी के रूप मे नही देखेंगे शृंगार रस की दशा मे दूर रहेंगे। और इसमें कोई अनौचित्य नही है, क्योंकि यह सीता उस वास्तविक सीता से, जिसमें हम मातृ-बुद्धि रखते हैं, सर्वथा स्वतन्त्र हैं, जब तक कि कवि की प्रेरक अनुभूति में ही मातृ-भावना का मिश्रण न रहा हो। पर ऐसी दशा मे जैसा कि तुलसी के शृंगार-चित्रों से स्पष्ट है हमे अमिश्रित शृंगार नहीं मिलता। हम काव्य की सीता से प्रेम करते हैं और काव्य की यह आलम्बन रूप सीता कोई व्यक्ति नही है, जिससे हमको किसी प्रकार का संकोच करने की आवश्यकता हो, वह कवि की मानसी सृष्टि है अर्थात् कवि की अपनी अनुभूति का प्रतीक है। उसके द्वारा कवि ने अपनी अनुभूति को हमारे प्रति संवेद्य बनाया है। बस, इसलिए जिसे हम आलम्बन कहते हैं वह वास्तव मे कवि की अपनी अनुभूति का संवेद्य रूप है। उसके साधारणीकरण का अर्थ है कवि की अनुभूति का साधारणीकरण जो भट्ट नायक और अभिनवगुप्त का प्रतिपाद्य है। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति की इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह सभी के हृदयों मे समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली मे हम कहते है कि उसमे साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है। अनुभूति सभी मे होती है, सभी व्यक्ति उसे यत्किंचित् व्यक्त भी कर

लेते हैं, परन्तु साधारणीकरण करने की शक्ति सब मे नही होती। इसीलिए तो अनुभूति और अभिव्यक्ति के होते हुए भी सब कवि नही होते। कवि वह होता है जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर सके, दूसरे शब्दो मे "जिसे लोक-हृदय की पहचान हो।" यहाँ आकर ये सभी बाधाएं आप दूर हो जाती है कि किसी आश्रय का व्यक्तित्व हमारे विपरीत है, या कोई नायक हमारे घृणा और क्रोध का विषय है, अथवा किसी आलम्बन के प्रति हमारा भाव-विशेष अनुचित है। आश्रय-रूप रावण यदि कहीं राम की भर्त्सना करता है तो क्या हुआ? हमारी रसानुभूति में कोई बाधा नहीं आती क्योंकि हमारे अन्तर मे तो वही अनुभूति जागेगी जो कवि ने इस प्रतीक द्वारा व्यक्त की है। माईकेल को रावण से सहानुभूति है इसीलिए मेघनाद-वध का यह प्रसंग हमारे हृदय मे रावण के लिए सहानुभूति और राम के प्रति तुच्छ भाव जागृत करेगा। तुलसी को यदि राम के प्रति भक्ति और रावण के प्रति घृणा है तो, यह प्रसंग उसी के अनुकूल हमारे लिए रावण को उपहास या तुच्छ भाव या घृणा का विषय बना कर राम के प्रति हमारी भक्ति जागृत करेगा। हम को रस दोनों ही अवस्थाओं मे आयेगा। इसी प्रकार यदि साम्यवादी लेखक के उपन्यास का पूँजीपति नायक अपनी कुत्साओं मे जघन्य है, तो हुआ करे, हम उससे तादात्म्य थोडा ही स्थापित करते है। हम (हमारी अनुभूति) लेखक (की अनुभूति) से तादात्म्य स्थापित करते हैं, अतएव हम लेखक की तरह ही उसकी जघन्यता के प्रति अपनी घृणा और क्रोध जागृत कर उपन्यास का रस लेंगे। ठीक इसी तरह यदि सीता मे हमारी परम्परागत पूज्यबुद्धि है तो हो। यह सीता नही है, यह तो कवि की अनुभूति का प्रतीक है। तुलसी को यदि उसके प्रति अमिश्रित रति की अनुभूति न होकर श्रद्धा-मिश्रित रति की अनुभूति होती है तो हमको भी वैसी ही होगी। हम राम से तादात्म्य न कर तुलसी से ही तादात्म्य कर पायेंगे। ऐसी दशा मे हमको रसानुभूति तो होगी पर अमिश्रित श्रृंगार की नही। इसके विपरीत 'कुमार-सम्भव' या रीतिकालीन राधाकृष्ण प्रेम-प्रसंगों को पढकर यदि हमे अमिश्रित श्रृंगार की अनुभूति होती है तो उसका कारण यही है कि तुलसी के विपरीत कालिदास या रीति-युग के कवि की तद्-विषयक अनुभूति अमिश्रित रति की ही अनुभूति थी। उसमे कोई मानसिक ग्रन्थि नही थी। यह सीधा सत्य है। जिसे एक ओर साधारणीकरण के आविष्कार भट्टनायक और अभिनव गुप्त भारत की अव्यक्तिगत काव्य-परम्परा के कारण, दूसरी ओर आधुनिक आलोचना मे इसके सबसे प्रबल पृष्ठपोषक शुक्लजी अपनी वस्तु-परक दृष्टि के कारण स्पष्ट रूप मे व्यक्त नही कर पाए।

अगर आप ऊब न गए हो तो आइए एक और आवश्यक प्रश्न का समाधान कर लिया जाय। साधारणीकरण कवि के लिए किस प्रकार संभव होता है? वह

किस प्रकार अपनी अनुभूति का साधारणीकरण करता है ? स्वदेश-विदेश के पंडितों ने इसके दो उत्तर दिए है—१. साधारणीकरण भाषा का धर्म है । २. साधारणीकरण का मूलाधार मानव-सुलभ सहानुभूति है जो सभी मनुष्यो के हृदय में एक-तार अनुस्यूत है ।

पहले उत्तर मे भट्ट नायक और अभिनव गुप्त की ध्वनि है । भट्ट नायक काव्य ( काव्यमय शब्द मे ) ही एक ऐसी 'भावकत्व' शक्ति मानते है जिससे कि भाव का आप-से-आप साधारणीकरण हो जाता है। अभिनव गुप्त शब्द मे भावकत्व की कल्पना को निराधार मानते हुए शब्द की सर्वप्रधान शक्ति व्यंजना मे साधारणीकरण की सामर्थ्य मानते हैं । विदेश के पण्डित भी भाषा को ऐसे ज्ञान और भाव-प्रतीको का समूह मानते हैं, जो उन विशेष ज्ञान-खण्डो और भावो को समान रूप से सबकी चेतना मे जगा सके । ज्ञान और भाव वास्तव मे एक दूसरे के विपरीत न होकर चेतना के दो संस्थान है : ज्ञान पहला संस्थान है, भाव दूसरा । कभी तो ऐसा होता है कि कोई प्रतीक विशेष, हमारी चेतना मे किसी वस्तु का ज्ञान-मात्र ही जगाकर रह जाता है, और कभी ज्ञान के आगे उसका 'भावन' भी करा देता हैं । भाषा के ये ही दो प्रयोग है । एक वह जिसमे प्रतीक केवल ज्ञान जगाते है, दूसरा वह जिसमे भाव भी जगाते है । पहला प्रयोग हम सभी साधारणतः व्यवहार मे लाते हैं, दूसरा केवल भाव-दीप्त क्षणो मे—जब हमारे अपने भाव-प्रतीको पर आरूढ होकर उन्हे इतना भावमय बना देते है कि उनमे सुनने वालो के हृदयो मे भी समान भाव उद्बुद्ध करने की शक्ति आ जाती है । तात्पर्य तो यह है कि शब्दो को भावोद्दीपन करने की शक्ति मूलतः हमारे भावो से ही प्राप्त होती है । अब यदि आप पूछे कि एक व्यक्ति का भाव दूसरो के हृदयो मे समान भाव कैसे उत्पन्न कर देता है तो इसका उत्तर यही है कि मूलतः सम्पूर्ण मानवता एक चेतना से चैतन्य है । मानव मानव के हृदय मे—भारतीय दर्शन तो चराचर को भी अपनी परिधि मे समेट लेता है—चेतना का ऐसा एक तार अनुस्यूत है जो एक स्थान पर भी स्पर्श पाकर समग्रतः झंकृत हो जाता है । आपको चाहे इस कथन मे रहस्यवाद की गन्ध आये, परन्तु मनोविज्ञान, शरीर-शास्त्र और अध्यात्म अभी इससे आगे नही बढ पाये हैं ।

अतएव साधारणीकरण का कारण है भाषा का भावमय प्रयोग, भाषा का भावमय प्रयोग प्रयोक्ता की अपनी भावशक्ति पर निर्भर रहता है । और प्रयोक्ता के भावों की संवेदन शक्ति का आधार है, मानवसुलभ सहानुभूति ।

भाव-शक्ति थोडी-बहुत सभी मे होती है । इसलिए साधारणीकरण की भी शक्ति थोडी-बहुत सभी मे होती है, अन्यथा जीवन की स्थिति ही सभव नही । परन्तु साधारणीकरण की विशेष शक्ति उसी व्यक्ति मे होगी जिसकी भाव-शक्ति

विशेष रूप से समृद्ध हो, जिसकी अनभूतियां विशेष रूप से सजग हों। ऐसा ही व्यक्ति भाषा का भावमय प्रयोग कर सकता है, अर्थात् अपने समृद्ध भावों के बल पर उनके प्रतीकों को सहज ही ऐसी शक्ति प्रदान कर सकता है कि वे दूसरों के हृदयो मे भी समान भाव जगा सकें। ऐसा ही व्यक्ति कवि है।

इतना होते हुए भी भट्टनायक का सिद्धान्त सर्वथा निर्भ्रांत नही है। उसकी सबसे बडी भ्रान्ति है काव्य-शब्द मे भावकत्व और भोजकत्व नामक विशिष्ट शक्तियों की कल्पना जो पूर्णतः निराधार है। व्याकरण, मीमांसा आदि किसी मे भी इनका संकेत नही मिलता।

इस त्रुटि का संशोधन अभिनवगुप्त ने किया जो भरत-सूत्र का चौथा व्याख्याकार था। उसने इस समस्या को बडे अच्छे ढंग से सुलझा दिया। उसका सिद्धात इस प्रकार है—मानव आत्मा शाश्वत है। सभी आत्माओ मे विशेषकर सहृदयों की आत्माओ मे, स्वभाव से सांसारिक अनुभव, पूर्व जन्म अथवा पठन-पाठन आदि के फलस्वरूप कुछ मूलगत वासनाएँ संस्कार रूप मे स्थित रहती हैं। ये वासनाएँ ही परिभाषिक शब्दावली मे स्थायीभाव कहलाती है। विभाव, अनुभाव और संचारी के कुशल प्रदर्शन से ये गुप्त वासनाएँ या स्थायी भाव ही उद्बुद्ध होकर रस रूप मे परिणत हो जाते है, अर्थात् उस अवस्था को प्राप्त होजाते हैं जहाँ एक आनन्दमयी चेतना के रूप मे उनका अनुभव होता है। यहाँ आकर भाव की वैयक्तिकता नष्ट हो जाती है। वह मेरा या दूसरे का न रह कर साधारण भावमात्र रह जाता है और इस प्रकार सर्वग्राह्य बनकर एक साथ इतना तीव्र हो जाता है कि उसका भावत्व भी नष्ट हो जाता है। केवल एक आनन्दमयी चेतना रह जाती है। कालिदास ने 'शाकुन्तलम्' मे इसी की ओर स्पष्ट संकेत किया है—

> रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
> पर्युत्सुकीभवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।
> तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम्
> भावस्थिराणि जन्मान्तरसौहृदानि ॥
>
> [ अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक ५ ]

अर्थात रम्य दृश्यो को देखकर या मधुर शब्दो को सुनकर यदि कोई सुखी व्यक्ति भी उन्मना हो उठता है तो इसका कारण यही समझना चाहिये कि उसे अपने पूर्व के जन्मो के स्नेह-सम्बन्धो की, जो उसके अचेतन मन मे स्थिर [स्थायी] भावों के रूप मे स्थित हैं, अनायास ही सुधि आ रही है।

कालिदास के छन्द मे 'भावस्थिराणि' तो स्पष्टतः स्थायी भाव हैं ही और सुधि आने का तात्पर्य है अचेतन मन से चेतन मन में आ जाना—ठीक वही जो अभिनव गुप्त की अभिव्यक्ति का तात्पर्य है। इस समय चित्त की एकाग्रता के कारण तमोगुण और रजोगुण के ऊपर सतोगुण का प्राधान्य रहता है और आत्मा का स्व-प्रकाश या स्वाभाविक आनन्द झलकने लगता है [दे० 'नवरस', गुलाबराय]। इस प्रकार रस की न तो उत्पत्ति होती है और न अनुमिति और न भुक्ति; इसकी केवल अभिव्यक्ति होती है। रस बाहर से प्राप्त नहीं होता सहृदय की अपनी आत्मा में से आविर्भूत होता है। वह वस्तुगत या विषयगत न होकर सर्वथा विषयीगत है। अभिनव वास्तव में आभासवादी वेदान्ती है जो वस्तु की स्थिति न मानकर केवल चिदानंद ब्रह्म की ही सत्ता को स्वीकार करता है। विदेश मे हीगेल, ह्यूम आदि दार्शनिकों का भी यही सिद्धांत है। वे भी सौन्दर्य को विषयीगत मानते हैं विषयगत नहीं।

अभिनवगुप्त का सिद्धान्त भट्टनायक से सर्वथा भिन्न नहीं है। भट्टनायक के साधारणीकरण को उसने ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है। यह सिद्धान्त भी कि काव्यानन्द के उद्रेक के समय तमोगुण और रजोगुण के ऊपर सतोगुण का प्राधान्य हो जाता है वह बिना संशोधन के स्वीकार कर लेता है। अन्तर केवल यह है कि अभिनवगुप्त भावकत्व और भोजकत्व को निराधार घोषित करता हुआ उनके स्थान पर व्यञ्जना और ध्वनि की सत्ता को स्वीकृत करता है। भट्टनायक का मत है कि काव्य की प्रकृति ही ऐसी है कि सहृदय को पहले इसका अर्थग्रहण, फिर भावन अर्थात् निर्विशेष रूप से चिंतन, और उसके उपरांत तुरन्त ही आनन्द-प्राप्ति सहज में हो जाती है; परन्तु अभिनव यह मानता है कि रस की स्थिति सहृदय की आत्मा में ही है, काव्य उसकी अभिव्यक्ति मात्र कराता है। मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने सामान्यतः अभिनवगुप्त के सिद्धांत को ही स्वीकृत किया है।

अभिनवगुप्त का सिद्धान्त भारतीय साहित्य-शास्त्र मे सर्वमान्य-सा ही हो गया है, और वास्तव मे वह बहुत अंशों मे पूर्ण भी है। रस सर्वथा विषयीगत है। सहृदय की आत्मा में ही इसकी स्थिति है, वस्तु मे नहीं, वस्तु तो केवल इसको उद्बुद्ध करती है। काव्य के आस्वादन में हमारे सामने मूलतः तीन सत्ताएँ आती हैं—कवि, वस्तु और सहृदय। आधुनिक आलोचना की शब्दावली में हम कह सकते हैं कि कवि वह व्यक्ति है जो अपनी अनुभूति को संवेद्य बनाता है; वस्तु तत्वतः उसकी अनुभूति है, और सहृदय वह व्यक्ति है जो कवि की इस संवेद्य अनुभूति को ग्रहण करता है। वस्तु को मैंने तत्व रूप मे कवि की अनुभूति कहा है

जिस पर आपत्ति उठ सकती है। संस्कृत साहित्य-शास्त्र में तो जैसा कि वस्तु शब्द से ही स्पष्ट है, उसको कवि की अनुभूति से पृथक् सत्ता मानी ही गई है। आज भी प्रश्न हो सकता है कि ऐतिहासिक वृत्त या लोक-प्रचलित कहानी या घटना, जिसको कवि अपनी मूल सामग्री के रूप में प्रयुक्त करता है, कवि की अनुभूति कैसे कही जा सकती है? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि कवि का उद्देश्य उस कथा या वृत्त को कहना कभी नहीं होता, उसके व्याज से अपनी अनुभूति को ही अभिव्यक्त करना होता है। उस कथा का महत्व उद्दीपन, या फिर, माध्यम से अधिक नहीं होता क्योंकि सर्वत्र कवि की अनुभूति ही है कथा का एक अणु भी नहीं। दूसरे की कही बात को केवल दुहराने के लिए ही कोई क्यों दुहरायेगा? साधारणतः यदि किसी दूसरे की बात को हम अक्षरशः दुहराते भी हैं, तो उसके द्वारा वास्तव में हम अपनी ही बात कहते हैं। हमारा उद्देश्य अपना आशय प्रकट करना होता है, दूसरे की बात को दुहराना नहीं। इस प्रकार तत्व रूप में वस्तु की सत्ता कवि के व्यक्तित्व से स्वतन्त्र नहीं है। अतएव वस्तु या विषय में रस खोजना अर्थवादसे अधिक नहीं है। वस्तु के अंतर्गत भट्टलोल्लट के नायक-नायिका भी आ जाते हैं। ये नायक-नायिकायें भी, चाहे वे ऐतिहासिक हों या पौराणिक किंवा कल्पित, काव्य में कवि से पृथक अपनी सत्ता नहीं रखते। उनका ऐतिहासिक अस्तित्व एक व्याज मात्र है, और उनका व्यक्तित्व सर्वथा निर्विशेष है। देश और काल की सीमा में बँधे हुए शकुंतला और दुष्यन्त व्यक्तियों की हमारे लिए [नाटक-काव्य के श्रोता-प्रेक्षक के लिए] इस समय कम से कम कोई सत्ता नहीं है। इसका प्रमाण यह है कि दुष्यन्त और शकुन्तला के नाम बदलकर चन्द्रमोहन और जयश्री कर दिये जायें, या हमें इतिहास [महाभारत] का ज्ञान ही न हो, अथवा कोई पुरातत्ववेत्ता असंदिग्ध रूप में यह प्रमाणित कर दे कि महाभारत का शकुन्तलोपाख्यान प्रक्षिप्त है,तो भी 'शाकुन्तलम्' पढ़कर हमें काव्य-रस की अनुभूति अवश्य होगी। मान लीजिए कि वाल्मीकि के राम वास्तव में ऐतिहासिक है [ यद्यपि ऐसा हो नहीं सकता ]। अब देखिये कि जब वाल्मीकि के ऐतिहासिक राम, तुलसी के इतिहास-भिन्न ईश्वरावतार राम, मैथिलीशरण के आधुनिक लोकनायक राम और माइकेल मधुसूदन दत्त के इतिहास-विपरीत राम सभी हमें रस-दशा तक पहुंचा सकते हैं, तो रस की दृष्टि से ऐतिहासिक राम का क्या रामत्व रहा? इस प्रकार मैथिलीशरण गुप्त की यह उक्ति—

> राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है।
> कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है॥ [ साकेत ]

मूल में जाकर उनकी भक्ति-भावना की ही व्यंजक है, राम के रामत्व की नहीं। राम का जो एक स्वतन्त्र रूप हमें प्रतीत होता है वह वास्तव में हमारे

अन्तर्मन में पड़ा हुआ वाल्मीकि, तुलसी आदि के काव्यों से प्राप्त संस्कारों का संघात मात्र ही है, वह स्वतंत्र अस्तित्ववान नहीं है। यहाँ इसका निषेध नहीं है कि ऐतिहासिक राम थे—वह अवश्य थे। पर एक तो उनके वास्तविक रामत्व की अनुभूति हमें रामायण, रामचरित-मानस, साकेत आदि पढ़कर कदापि नहीं हो सकती (इसलिए काव्य के रसानुभव में वह हमारे लिए निरर्थक है); दूसरे उन्होंने रस का नहीं, प्रकृत भाव का ही अनुभव किया होगा। राम ने सीता के शील-सौंदर्य पर मुग्ध होकर प्रेमानन्द का अनुभव अवश्य किया होगा, पर वह रति-भाव का अनुभव था, 'शृंगाररस' का नहीं। यह संयोग मात्र है कि वह अनुभव भी मधुर था और 'रस' भी मधुर होता है। परन्तु यह समानता सभी दशाओं में सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए, जब राम रावण के प्रति क्रुद्ध हुए होंगे अथवा सीता-वियोग में विषण्ण या लक्ष्मण के शक्ति लगने पर क्रोध-मूर्छित तब उनका अनुभव मधुर न होकर कटु ही हुआ होगा। फिर उनका अपना अनुभव रस कैसे हो सकता है? परंतु उनके इसी अनुभव को काव्य में पढ़कर हम 'रस' लेते हैं। अतएव नायक में रस की स्थिति साधारणतः विश्वसनीय-सी लगती हुई भी अन्त में मिथ्या ही ठहरती है।

अब दो सत्ताएं रह जाती हैं—कवि और सहृदय की। कवि अपनी अनुभूति को सहृदय के प्रति इस प्रकार प्रेषणीय बनाता है कि उसको ग्रहण कर सहृदय को आनन्द की उपलब्धि होती है। जैसा मैंने पहले कहा है सहृदय की रसानुभूति में तो किसी को संदेह हो ही नहीं सकता। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि इस रस की स्थिति दोनों में से किस में है? इसका उत्तर ठीक वही है जो अभिनव गुप्त ने दिया है—अर्थात् 'सहृदय में'। क्योंकि जब हम प्रसन्न होते हैं तो अपने हृदय-रस का, अपने आनन्द का ही अनुभव करते हैं। आनन्द की स्थिति तो हमारे अपने अन्तर में ही है। इसको स्वदेश के अध्यात्मदर्शी और विदेश के मनोवैज्ञानिक दोनों ही समान रूप से मानते हैं। भारतीय दर्शन सुख को अपनी ही आत्मा का विस्तार मानता है; (सु = सुलभ + ख = आकाश, व्याप्ति)। उसमें आनन्द को अपनी ही अस्मिता वृत्ति का आस्वादन कहा गया है—आत्म का किसी अनात्म के बहाने से आस्वादन ही रस है। "मैं हूँ" यही रस का सार तत्व है। (डा० भगवानदास, 'रस-मीमांसा'—द्वि० अ० अं०)। विदेश का मनोवैज्ञानिक भी आनंद को 'अंतर्वृत्तियों का सामंजस्य' ही मानता है।

यह निश्चित हो जाने पर कि रस की स्थिति सहृदय के अन्तर में ही है, एक दूसरी समस्या सामने आती है:—फिर कवि किस प्रकार अपनी अनुभूति को ऐसी संवेद्य बना पाता है कि उसको ग्रहण कर सहृदय की रस-चेतना जागृत हो

जाती है ? इसका उत्तर होगा—'अपने हृदय-रस मे डुबाकर'। कवि जब अपनी अनुभूति को व्यक्त कर पाता है तो उसे भी आत्माभिव्यक्ति का, अस्मिता के आस्वादन का रस मिलता है। अनुभूति को अभिव्यक्त करने में कवि को अपनी अस्मिता के आस्वादन का रस मिलता है, और उस संवेदित अनुभूतिको ग्रहण करने मे सहृदय को अपनी अस्मिता का आस्वदन होता है। इस प्रकार कवि अनुभूतिके साथ अपना रस भी सहृदय के पास भेजता है अतएव रस की स्थिति कवि के हृदय मे मानना उतना ही अनिवार्य है जितना सहृदय के मे क्योंकि यदि कविके कथन मे रस नहीं है तो सहृदय के हृदय में स्थित रस सुप्त पडा रहेगा, और इसी तरह यदि सहृदय के हृदय मे रस नही है तो कवि का संवेद्य निष्फल जायेगा। पहले तथ्य के प्रमाणमे अनेक नीरस छंद उद्धृत किये जा सकते है, और दूसरे के प्रमाण मे अनेक अरसिक व्यक्ति। कविता के प्रथम स्फुरण से सम्बद्ध जनश्रुति जिसके अनुसार आदि कवि का शोक श्लोकत्व को प्राप्त हो गया था; या भट्टतौत का यह सिद्धांत[१] कि 'नायक कवि और श्रोता का अनुभव समान होता है' या फिर अभिनवगुप्त की यह उक्ति [२] कि 'कवि के अंतर्गत भाव को जो वाचिक, आंगिक मुखरागादि, तथा सात्विक अभिनय द्वारा आस्वाद योग्य बनाता है वह भाव कहलाता है' —ये सब इस बात के असंदिग्ध प्रमाण हैं कि संस्कृत का आचार्य कवि के हृदय-रस से परिचित तो अवश्य था परन्तु विधान रूप मे कवि की अनुभूति को संस्कृत साहित्य-शास्त्र मे पृथक ही रखा गया है। भट्टतौत का सिद्धांत भी उपेक्षित-सा ही रहा है।

यह तो हुई श्रव्य काव्य की बात। लेकिन दृश्य काव्य मे नट-नटी की सत्ता और माननी पडेगी। इनका रसास्वादन से क्या सम्बन्ध है ? रस की स्थिति उनके हृदय मे भी माननी पडेगी। नट-नटी भी अनिवार्यतः सहृदय ही होने चाहिये, अन्यथा वे संवेद्य का उचित माध्यम नही बन सकते। जब वे संवेद्य अनुभूति को पहले स्वयं ग्रहण कर सकेंगे, अर्थात् जब वे संवेद्य को ग्रहण कर स्वयं रस-मग्न हो सकेंगे, तभी वे सहृदय तक संवेद्य को पहुँचाने मे सफल हो सकेंगे। इसलिये उनकी सहृदयता के विरुद्ध किये गये संस्कृत आचार्यों के सभी आक्षेप अनुचित है।

अन्त मे निष्कर्ष यह निकलता है : इसमे सदेह नही कि काव्य पढकर या नाटक देखकर सहृदय को जो रसास्वादन होता है उसकी मूल स्थिति उसी के हृदय मे है, अर्थात् मूलतः वह उसी की अपनी अस्मिता का आस्वादन है। परन्तु यह तभी सम्भव है जब कवि अपनी अनुभूति को उस तक पहुँचाने मे स्वयं रस

१—नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः

२—वागङ्गमुखरागेन सत्वेनाभिनयेन च कवेरन्तरगतं भावं भावयन् भाव इत्युच्यते
( देखिये डाक्टर दासगुप्त का 'काव्य-विचार' )

ले सका हो अर्थात् अपनी अस्मिता का रस ले सका हो। नाटक में नट-नटी के विषय में भी यही सत्य मानना पड़ेगा। इसको स्पष्ट करने के लिए एक और अधिक प्रत्यक्ष उदाहरण लीजिये। डांडो-यात्रा पर जाते हुए गाँधी का प्रसंग है। यह अतर्क्य है कि गाँधी जी ने उस समय एक सात्विक उत्साह का अनुभव किया होगा। मैंने उनके उस भव्य रूप को देखा; सहानुभूति के द्वारा मुझ में भी वह भाव जागृत हो गया। कवि सियारामशरण ने पहले एक दर्शक के रूप में उस भाव को ग्रहण किया; फिर बाद में कभी उससे प्रेरित होकर 'बापू' में महामानव गाँधी का यह सात्विक उत्साह शब्द-बद्ध कर दिया। मैंने उसे पढ़ा और एक सात्विक आनंद का अनुभव किया। इस प्रकार हमारे सामने पाँच अनुभव हैं: एक अनुभव स्वयं गाँधी जी का, दो अनुभव सियारामशरण के—एक व्यक्ति का जो गांधीजी के प्रत्यक्ष दर्शन से प्राप्त हुआ था, दूसरा कवि का जो उसे काव्य-रूप देने में प्राप्त हुआ; दो अनुभव मेरे—एक गाँधीजी के प्रत्यक्ष दर्शन से प्राप्त और दूसरा 'बापू' के अध्ययन में प्राप्त। अब यह देखना है कि इनमें रस-संज्ञा किसको दी जा सकती है? गाँधीजी के अनुभव को? नहीं। वह तो भाव (Emotion) मात्र है जो इस प्रसंग में मधुर है अन्यथा कटु भी हो सकता है; उदाहरण के लिए सीतारमैया की हार पर गाँधीजी की खीझ स्पष्टतः ही एक कटु अनुभूति थी। तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष अनुभव रस नहीं हो सकता। इस प्रकार मेरे और सियारामशरण के प्रत्यक्ष अनुभव भी रस की कोटि से बाहर पड़ जाते हैं। केवल दो अनुभव रह जाते हैं—कवि का अनुभव और उसके काव्य का अध्ययन करने वाले सहृदय का अनुभव। कवि का अनुभव (गाँधी के भव्य उत्साह से प्राप्त) उस अनुभूति को, जो बाद में प्रत्यक्ष न रह कर संस्कार मात्र रह गई थी, काव्य-रूप देने का अर्थात् बिंब-रूप में उपस्थित करने का अनुभव है। काव्य रूप देने में वह उस संस्कार-शेष अनुभूति का भावन करता है। भावन की इस प्रक्रिया में एक क्षण ऐसा आता है जब उसके अपने हृदय का भी सात्विक उत्साह उद्बुद्ध हो जाता है। बस तभी कवि के मानस में काव्य-रूप पूर्ण हो जाता है और साथ ही वह रस का अनुभव भी प्राप्त कर लेता है। बाहर से प्राप्त किसी अनुभूति के संस्कार का भावन करते हुए अपने हृदय-स्थित वासना को जगा लेना ही तो रस-दशा को प्राप्त कर लेना है। यही सहृदय करता है और यही कवि। और यदि काव्य का अभिनय किया जाता है तो सहृदय से पहले इसी प्रकार का भावन तथा वासना का उद्बोधन नट के लिए भी अनिवार्य हो जाता है।

अतएव आरंभ में—रचना के समय कवि, और फिर अभिनय के समय नट (यद्यपि उसकी सत्ता अत्यन्त गौण है) अपने हृदय-स्थित रस का

आस्वादन तो करते ही हैं—साथ ही उनका यह रसास्वादन सहृदय के हृदय मे वासना-रूप से स्थित स्थायी भावों को जागृत कर रस-दशा तक पहुंचाने मे अनिवार्य योग भी देता है। इस प्रकार कविता के विषय में यह लोक-परिचित उक्ति कि वह हृदय से हृदय मे पहुंचती है, मनोवैज्ञानिक रूप मे भी पूर्णतः सत्य है।

## रस का स्वरूप

सत्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः
वेद्यान्तर-स्पर्श-शून्यो ब्रह्मास्वाद-सहोदरः।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥

[ साहित्यदर्पण तृ० परिच्छेद ]

उपर्युक्त पद्यो मे कविराज विश्वनाथ ने संस्कृत रस शास्त्र मे वर्णित रस के स्वरूप का सार अङ्कित कर दिया है। यहां सत्वोद्रेक रस का हेतु है, अखण्ड, स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, वेद्यान्तर-स्पर्शशून्य, ब्रह्मस्वाद-सहोदर, लोकोत्तर चमत्कार-प्राण आदि पदो द्वारा रस के स्वरूप का निर्देश किया गया है, स्वाकारवदभिन्न के द्वारा प्रकार का और प्रमाता द्वारा रस के अधिकारी का। परिणामत संस्कृत रस शास्त्र में रस के मुख्य लक्षण इस प्रकार है—

(१) आस्वाद्यते ( रस्यते) इति रसः—जिसका आस्वादन हो वह रसहै—अर्थात् रस आस्वाद रूप है। उसके आस्वादयिता सहृदय ही हो सकते हैं रस सहृदय-संवेद्य है।

(२) यह आस्वाद अनिवार्यतः आनन्दमय ही है और यह आनन्द अखण्ड चिन्मय और वेद्यान्तर-स्पर्श-शून्य है। अखण्ड का अर्थ यह है कि इसमे विभाव, अनुभाव, स्थायी, संचारी आदि की पृथक् या खड चेतना नही होती; वरन् सभी की अखंड चेतना होती है। दूसरे इस समय किसी अन्य विषय की चेतना नहीं होती और तीसरे यह अनुभूति "चिन्मय" है-अर्थात् अनिच्छापूर्वक एव अबुद्धिपूर्वक नहीं इच्छा और बुद्धि सहित होती है। रस का आविर्भाव सत्व की प्रधानता होने पर ही होता है इसका तात्पर्य आज के पाठक के लिए यही है—कि उसमे ऐन्द्रियता नहीं होती। रस-चर्वण आस्वाद से अभिन्न होने के कारण भाव से स्पष्टतः भिन्न है। शृंगार रस का अर्थ रति का अनुभव नही है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार बीभत्स रस का अनुभव जुगुप्सा, या करुण रस का अनुभव शोक का अनुभव नहीं है। "भाव क्षोभ संरंभ, संवेग, आवेग, उद्वेग, आवेश अंग्रेजी मे "इमोशन" का अनुभव

रस नहीं है, किन्तु उस अनुभव का स्मरण, प्रति-संवेदन, आस्वादन रस है।" ( रसमीमांसा— डा० भगवानदास )

(३) यह आनन्द चमत्कार-प्राण है। चमत्कार का अर्थ है चित्त का विस्तार अर्थात् विस्मय। विश्वनाथ ने अपने पितामह का अनुसरण करते हुए चमत्कार को अत्यधिक महत्व दिया है, परन्तु फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि विस्मय या चमत्कार का काव्यानन्द मे यत्किंचित् योग अवश्य रहता है। सुन्दर वस्तु को देख-कर मन मे आनन्द और विस्मय की मिश्र भावना का उद्रेक होता है। सुन्दर प्राकृ-तिक दृश्य अथवा कला-कृति, उदाहरण के लिये ताजमहल, को देखकर मन में जो भावना उत्पन्न होती है वह केवल आनन्द ही नही कही जा सकती उसमें विस्मय का भी अनिवार्य योग रहता है। विदेशके सौंदर्य शास्त्रमे भी सौंदर्य-अनुभूति में विस्मय : Wonder : का तत्व अनिवार्य माना गया है। इसका आशय यही है कि यह अनुभूति स्थूल न होकर सूक्ष्म है, प्रत्यक्षता के अतिरिक्त इसमे बौद्धिकता भी वर्तमान रहती है, कवि की लोकोत्तर सृजन-प्रतिभा के प्रति आदर और विस्मय का भाव भी रहता है, बस। इसके आगे, अद्भुत को ही केवल एक रस मानना या चमत्कार को बौद्धिक व्यायाम अथवा पहेली बुझाना समझ लेना, चमत्कार का अनर्थ करना है। बाद के आचार्यों ने उसे इसी स्थूल अर्थ मे ग्रहण कर पेचीले मज़मूनो के गोरख-धन्धे इकट्ठे कर दिये है।

(४) रस न ज्ञाप्य है, न कार्य, न साक्षात् अनुभव है न परोक्ष, न वह निर्वि-कल्पक ज्ञान है न स-विकल्पक, अतएव किसी लौकिक परिभाषा मे आबद्ध न हो सकने के कारण वह अनिर्वचनीय एवं अलौकिक है। ब्रह्मानन्द-सहोदर है: [सवि-तर्क] ब्रह्मानन्द का सहोदर है, निर्वितर्क समाधि का नहीं। क्योकि उसमे तो अहं-कारमयी वासना का सर्वथा नाश हो जाता है, परन्तु रस मे ऐसा नही होता। संक्षेप मे आज के मनोवैज्ञानिक के सामने तीन प्रश्न है :—

: १ : क्या रस अनिवार्यतः आनन्दमयी चेतना है ?

: २ : क्या रस अनिवार्यतः भावानुभूति से भिन्न है ?

: ३ : क्या यह आनन्द अभौतिक और निराला है ?

आनन्द के विषय मे मनोविज्ञान के दो मत हैं। एक मत यह है कि जीवन की सभी क्रियाओं का लक्ष्य आनन्द प्राप्ति है अर्थात् जीवन की समस्त क्रियाये आनन्दोन्मुख हैं—यह सम्प्रदाय आनन्दवादी ( हेडोनिस्ट )कहलाता है। दूसरे मत के अनुसार ये क्रियाएँ अपने से भिन्न कोई अपर लक्ष्य नहीं रखती, ये अपना लक्ष्य आप ही हैं अर्थात् क्रियाशील होना जीवन का धर्म है जीवन के लिए क्रिया अनि-वार्य है। इस सम्प्रदाय का नाम है सार्थकतावादी ( होरमिक ) इनमे पहला जीवन

को साधन और आनन्द को साध्य मानता है । यह भारतीय आदर्शवादी दृष्टिकोण के अनुकूल है, दूसरा जीवन को ही जीवन का अंतिम साध्य मानता है, यह वैज्ञानिक वस्तुवाद के अनुकूल है। आजकल अधिकतर मनोवैज्ञानिक इस दूसरे मत को ही स्वीकार करते हैं। वे आनन्द की स्थिति स्वीकार तो करते है, परन्तु उसे अनुभूति या भाव की विधि मानते हैं लक्ष्य नही, और इस प्रकार काव्य मे आनन्द को साध्य होने का गौरव वे नही देते—उसकी सत्ता को साधारण रूप मे स्वीकार करते हुए भी अनिवार्य नहीं मानते। उदाहरण के लिए दुःखान्त नाटक का भी आस्वादन आनन्दमय होता है यह वे नही मानते। परन्तु वास्तव मे इस विवेचन मे शाब्दिक सूक्ष्मता के अतिरिक्त कोई विशेष ठोस तथ्य नही है। आनन्द को ये लोग हमारी अंतर्वृत्तियो की क्रिया की सफलता मात्र मानते हैं। इनका कहना है कि जब हमारी वृत्तियो का क्रिया सफल होती—है वे तृप्त हो जाती है, तो हमे आनन्द की चेतना होती हैं। परन्तु इस आनन्द का महत्व कुछ नही है, महत्व है क्रिया का और उसकी सफलता का। आगे जब क्रिया के मूल्य का प्रश्न आता है तो इन लोगो का कहना है कि क्रिया का मूल्य वृत्तियों का संकलन और समन्वय से आंका जाना चाहिये—जो क्रिया जितनी अधिक हमारी वृत्तियो को संकलित और समन्वत करेगी उतनी ही मूल्यवान् होगी। काव्य और कला मे इस संकलन की अत्यधिक शक्ति है, अतएव वे जीवन की अत्यन्त मूल्यवान् सम्पत्ति है। अब प्रश्न यह उठता है कि अतर्वृत्तियो का समन्वय जो उनकी तृप्ति पर अवलम्बित है, आनन्द नही है तो क्या है? ये लोग उत्तर देंगे कि उससे आनन्द की प्राप्ति तो होती है, पर वह केवल आनन्द नहीं है आनन्द से भिन्न है, वह एक वास्तविक अनुभूति है। आनन्द उस अनुभूति की विधि मात्र है। लेकिन यह केवल बात को उलझा देना है। यह पूछा जा सकता है कि इस वास्तविक अनुभूति का आनन्द से विभिन्न रूप क्या है?

---

To read a poem for the sake of the pleasure which will ensur if it is successfully read is to approach it in an inadequate attitude Obviously it is the poem in which we should be interested, and not in a by-product of having managed successfully to read it

× × × This error, here a legacy in part from the criticism of an age which had a still poorer psychological vocabulary than our own, is one reason why Tragedy for example is so often misapproached.

(Pleasure - Principles of Literary Criticism
by - I. A. Richards, P- 96- 97.)

आप अपनी स्थिति का स्मरण करके देखिये, दोनों में विभेद करना असम्भव है। आनन्द की यह प्रकृति है कि वह अपने साथ किसी दूसरी अनुभूति की स्थिति सहन नही कर सकता। अतएव वृत्तियों के संकलन की अनुभूति आनन्द की अनुभूति से अभिन्न ही होगी। इस प्रकार वृत्तियों की पूर्ण संकलित अवस्था में तृप्ति अथवा वृत्तियों के पूर्ण संकलन की अनुभूति अखण्ड आनन्द के अतिरिक्त और क्या हो सकती है? वास्तव मे आनन्द का यह निषेध आनन्द की ही सत्ता का प्रतिपादन करता है। हाँ, स्वस्थ और अस्वस्थ, क्षणिक और स्थायी आनन्द में भेद करता हुआ अन्त में स्वस्थ आनन्द को—जो वास्तविक और जीवन-प्रद है—प्रतिष्ठा यह अवश्य करता है, और इसे मान लेने में किसी को क्या आपत्ति हो सकती है? रस को काव्य की आत्मा मानने वाले आलोचक का सबसे समर्थ विरोधी यही सार्थकतावादी सम्प्रदाय है, इससे समझौता हो जाने के बाद कोई विशेष प्रतिरोध नही रह जाता। भारतीय दर्शन के भी कुछ सम्प्रदाय हैं जो आनन्द से भी ऊपर 'स्वरूप मे अवस्थान' को ही जीवन का साध्य मानते हैं। परंतु उनसे हमारा कोई विरोध नही क्योंकि काव्य जीवन की ही अनुभूति है- उसे निर्वि-तर्क समाधि तक लेजाना हास्यास्पद होगा और जब तक अनुभूति की सत्ता रहती है ये सम्प्रदाय भी आनन्द का तिरस्कार नही करते। अन्तर केवल इतना ही है कि ये आनन्द से भी और ऊपर 'स्वरूप में अवस्थान' की दशा तक जाते हैं। परन्तु वहाँ तो अनुभूति की सत्ता ही नही रहती, निदान वह काव्य के लिए अप्रासंगिक है।

दूसरा प्रश्न यह उठता है कि इस आनन्द का स्वरूप क्या है। इस विषय मे पहली स्थिति तो यही है कि रस का आनन्द भाव (Emotion) से भिन्न है, और उसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि कटु भावों द्वारा भी तो रसकी प्राप्ति होती है। शारीरिक रति के आनन्द और शृङ्गार-रस के आनन्द मे अभिन्नता का भ्रम हो भी सकता है, परन्तु जुगुप्सा की प्रत्यक्ष अनुभूति और वीभत्स-रस अथवा शोक की प्रत्यक्ष अनुभूति और करुण-रस मे अभिन्नता कैसे हो सकती है। यद्यपि इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि इनमे सम्बन्ध अवश्य है—न शृंगार-रस रति की अनुभूति से असम्बद्ध है और न करुण-रस शोक की अनुभूति से–अर्थात् प्रत्येक रस के आनन्द का स्वरूप उसके स्थायी भाव से मूलतः सम्बद्ध है। संस्कृत साहित्य शास्त्र का यह दूसरा दावा (कि रस भाव से पृथक् है) स्पष्टतः प्रामाणिक है और आज के मनो-विज्ञान को उसके विरुद्ध कुछ नही कहना। इसके आगे तीसरा और सबसे महत्व-पूर्ण प्रश्न उठता है :—रस भौतिक अनुभूति है या अभौतिक? आत्मा की स्थिति मान कर यदि हम चलें तो अनुभूति को स्थूलतः तीन रूपो मे विभक्त कर सकते हैं:—
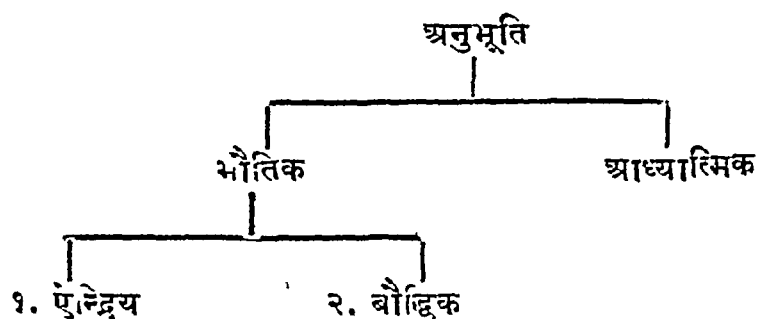
स्पष्ट रूप से, यह विभाजन स्थूल है—आत्यन्तिक नही है क्योंकि ऐन्द्रिय या बौद्धिक अनुभूति बिना आध्मात्मिक अनुभूति के असम्भव है, इसी प्रकार बौद्धिक या अध्यात्मिक अनुभूति ऐन्द्रिय अनुभूति से स्वतन्त्र कैसे हो सकती है। अथवा बुद्धि की क्रिया के बिना ऐन्द्रिय या आत्मिक क्रिया मनुष्य मे कैसे कृतकार्य हो सकती है। अतएव यह विभाजन अनुभूति मे उपर्युक्त किसी एक तत्व की प्रधानता का ही द्योतक है—एकमात्रता का नही। उदाहरण के लिए चुम्बन का आनन्द ऐन्द्रिय आनन्द है, गणित के किसी प्रश्न को सुलझा लेने का आनन्द बौद्धिक है, और ब्रह्मके साक्षात्कार अथवा योग का आनन्द आध्यात्मिक। अस्तु,

अब यह देखना है कि काव्यानन्द इनमे से किसके अन्तर्गत आता है या वह किसी के अन्तर्गत ही नहीं आता, स्वतः-सापेक्ष और स्वतन्त्र है? संस्कृत के आचार्य ने तो उसे अलौकिक और अनिर्वचनीय कह कर मुक्ति पा ली है। उसने तो स्पष्ट कह दिया है कि काव्यानन्द न ऐसा है न वैसा अतएव वह अनिर्वचनीय है। परन्तु विदेश मे उसके स्वरूप का इतिहास रोचक रहा है। वहां का आद्याचार्य प्लेटो बुद्धि और आत्मा को एक मानता हुआ केवल दो प्रकार की अनुभूतियो की सत्ता स्वीकार करता था—आध्यात्मिक (बौद्धिक) अनुभूति, ऐन्द्रिय अनुभूति। काव्यानुभूति को उसने स्पष्टतः सौन्दर्यानुभूति (जिसे वह आत्मा का अनुभव मानता था) से पृथक् ऐन्द्रिय अनुभूति मान कर मिथ्या, निम्न कोटि का तथा अस्वस्थ आनन्द माना है। अरस्तू ने उसे सर्वथा मिथ्या तो नही माना है, परन्तु ऐन्द्रिय अवश्य माना है और सौन्दर्य से पृथक् रखा है। शताब्दियो तक योरोप मे प्लेटो और अरस्तू के मत ही साधारणतः मान्य रहे, परन्तु बाद मे रोमन विद्वान् प्लोटीनस ने उनका स्पष्ट खण्डन करते हुए काव्यानुभूति को आध्यात्मिक अनुभूति घोषित किया। "The beauty of natural objects is the archetype existing in the soul which is the fountain of all natural beauty. Thus was Plato in error (he said) when he despised arts for imitating nature, for nature herself imitates the idea, and

art also seeks her inspiration directly from those ideas whence nature proceeds.

[Aesthetic : Historical Summary—B. Croce]

इसका सारांश यह है : प्रकृति के सौन्दर्य का उद्गम आत्मा है। अतएव प्लेटो का यह निर्णय भ्रांत है कि कला प्रकृति का अनुकरण करती है और प्रकृति स्वयं ज्ञान की अनुकृति है, इसलिए (अनुकृति की अनुकृति होने के कारण) कला मिथ्या और अस्पृहणीय है। कारण यह है कि कला का उद्गम भी वही ज्ञान है जो स्वयं प्रकृति का। इस प्रकार प्लोटिनस ने कला का सौन्दर्य के साथ तादात्म्य करते हुए, उसे आध्यात्मिक अनुभूति का गौरव प्रदान किया और फिर इसी को हीगेल आदि आदर्शवादी दार्शनिकों ने वैधानिक रूप देकर एक स्थिर सिद्धान्त बना दिया। पीछे के दार्शनिक कला को अपने स्वभाव के अनुसार साधारणतः आध्यात्मिक या ऐन्द्रिय मानते रहे और बहुत समय तक इन्हीं दो मतों का आवर्तन होता रहा। अठारहवीं शताब्दी में एडीसन ने काव्यानन्द को कल्पना का आनन्द मानते हुए, उसे इन दोनों से पृथक् रूप में सामने रखा। उसके अनुसार कल्पना का आनन्द वह आनन्द है, जो वस्तु के मूलरूप और कला द्वारा अनुकृत रूप के बीच मिलने वाले साम्य के भावन से प्राप्त होता है। साम्य के भावन द्वारा प्राप्त यह कल्पना का आनन्द प्रत्यक्षतः ही आध्यात्मिक अथवा बौद्धिक आनन्द और ऐन्द्रिय आनन्द दोनों से भिन्न है। वास्तव में इसमें भारतीय रस का थोड़ा सा आभास मिलता है। उन्नीसवीं शताब्दी में रोमान्टिक भाव-स्वातन्त्र्य का प्रभाव इतना अधिक बढ़ा कि बुद्धि की उपेक्षा कर काव्यानन्द का स्वरूप एक साथ अनस्थिर हो गया, प्रत्यक्ष जीवन से काव्य का स्पर्श इतना कम हो गया कि धीरे धीरे लोग काव्यानुभूति को एक निरपेक्ष अनुभूति मानने लगे, जिसकी कि स्पष्ट प्रतिध्वनि बीसवीं शताब्दी के पहले चरण में ब्रैडले और क्लाइव बैल आदि में निश्चित रूप से सुनाई पड़ी। इनके अनुसार काव्यानन्द एक विशिष्ट और अनुपम आनन्द है जो लौकिक अनुभूतियों का विवेचन करने वाली किसी भी शब्दावली द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। इस प्रकार इनका मत भारतीय आचार्यों से मिल जाता है। कुछ ऐसी ही परिस्थितियों में अभिव्यंजनावाद का उदय हुआ और प्रसिद्ध दार्शनिक बेनेडेटो क्रोचे ने बुद्धि की परिधि के बाहर और इन्द्रियों की परिधि के भीतर मानव प्राण-चेतना में, सहजानुभूति की एक पृथक् शक्ति मानते हुए काव्य या कला को इसी शक्ति का गुण माना। इनके सिद्धान्त के अनुसार काव्यानुभूति बौद्धिक अनुभूति और ऐन्द्रिय अनुभूति की मध्यवर्ती एक पृथक् अनुभूति—सहजानुभूति है, जिसका निर्माण बौद्धिक धारणाओं (Conepts) अथवा ऐन्द्रिय संवेदनों (Sensations) से न होकर बिम्बों से होता है। क्रोचे का यह मत कलावादियों

के मत का वैज्ञानिक या वैधानिक रूप है। इस प्रकार संक्षेप में स्वदेश विदेश के साहित्य-शास्त्र मे काव्यानुभूति अथवा काव्यानन्द-विषयक पाँच सिद्धांत मिलते हैं।

१. काव्य का आनन्द प्रत्यक्षतः ऐन्द्रिय आनन्द है। इस मत का प्रवर्तन किया प्लेटो ने और आधुनिक युग मे परिपोषण किया ब्यूवाय ने। इसके अनुसार काव्य या कला मे प्राप्त आनन्द ठीक वैसा ही है जैसा सरकस से मिलता है।

२. काव्य का आनन्द आत्मिक आनन्द है। आत्मा सहज सौंदर्य-रूप है सहज आनन्द-रूप है। काव्य उसी का उच्छलन है अतः वह स्वभावत आध्यात्मिक अनुभूति है। स्वदेश विदेश के आदर्शवादी आचार्य इसी मत को सत्य मानते हैं, हीगेल और रवीन्द्रनाथ का यही मत है।

३. काव्यानन्द कल्पना का आनन्द है अर्थात् मूल वस्तु और उसके काव्यांकित रूप की तुलना से प्राप्त आनन्द है। यह एडीसन का मत है।

४. काव्यानन्द सहजानुभूति का आनन्द है। इस मत के प्रवर्त्तक है क्रोचे।

५ काव्यानन्द सभी प्रकार के लौकिक आनन्दो से भिन्न एक अनुपम और विचित्र आनन्द है जो स्वतः-सापेक्ष है। यह काफी पुराना सिद्धांत है। विदेश में इसका जन्म उन्नीसवी शताब्दी मे हुआ और इस युग मे डा० ब्रैडले*द्वारा इसकी पूर्ण प्रतिष्ठा हुई।

---

*1. "First this experience is an and in it-self, is worth having on its own account, has an intrisic value. Next, its poetic value is this intrinsic worth alone. For its nature is to be not a part, nor yet a copy of the real world (as we commonly understand that phrase but to be a world by itself, independent, complete, autonomous"

(A C. Bradley, Oxford Lectures on Poetry p. 5)

2. "Thus Mr Clive Bell used to maintain the existence of an unique emotion —aesthetic emotion."
(Richards I. A., Principles of Literery Criticism)

3. "To appreciate a work of art we need bring with us noting from life, no knowledge of its ideas and affairs, no familiarity with its emotions".... and to not forget that a knowledge of life can help no one to our understanding.

(Clive Bell, Art p. 75)

उपर्युक्त सभी मत अपना अपना महत्व रखते हुए भी मनोविज्ञान की कसौटी पर पूरे नही उतरते और इसी कारण आज के विद्यार्थी का पूर्ण परितोष करने में असमर्थ रहते है। काव्य की अनुभूति प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय अनुभूति ( direct perception) नही है, यह पहले ही प्रमाणित किया जा चुका है क्योंकि ऐसा मान लेने पर शोक, जुगुप्सा आदि की अभिव्यंजना से प्राप्त अनुभूति शोक और जुगुप्सा-मय ही होगी, जो कि स्पष्टतः असत्य है। काव्य की अनुभूति को आध्यात्मिक अनुभूति मानना भी आज स्वीकार्य्य नहीं क्योंकि एक तो आत्मा की सत्ता ही सहज-मान्य नहीं है, दूसरे काव्यानन्द मे चपलता आदि की स्थिति इतनी स्पष्ट है कि उसे आत्मा के शुद्ध,अचंचल आनन्द का रूप मान लेना हास्यास्पद होगा। ऐडीसन का कल्पना का आनन्द आत्यन्तिक तथ्य नहीं है क्योंकि कल्पना मन (सूक्ष्मेन्द्रिय) और बुद्धि की क्रिया-मात्र है, स्वतंत्र सत्ता नही। अतएव कल्पना का आनन्द ऐन्द्रिय और बौद्धिक आनंद से स्वतंत्र नहीं है। इसी प्रकार क्रोचे द्वारा प्रतिष्ठित सहजानुभूति की शक्ति : Intuition : को भी स्वतन्त्र शक्ति मान लेने के लिये मनोविज्ञान आज तैयार नही है। मनोवैज्ञानिकों ने एक स्वर से कह दिया है कि इस विचित्र शक्ति के लिये मनोविज्ञान मे कोई पृथक् स्थान नहीं है। अंत मे काव्यानुभूति को अनिर्वचनीय कहना या उसको एक विचित्र और स्वतः-सापेक्ष अनुभूति मानना समस्या को सुलझाना नही, उससे भागना है। इस विषय में अनेक युक्तियां दी जा सकती हैं, परन्तु सबसे सीधा और प्रबल तर्क रिचर्ड्स का है। वे कहते हैं कि जब सौंदर्य की अनुभूति के लिए हमारे पास कोई विशिष्ट या पृथक् इन्द्रिय नही है, तो उस अनुभूति को ही विशिष्ट या पृथक् कैसे माना जा सकता है। उसका अनुभव साधारण इंद्रियों द्वारा ही तो होता है। इसलिए उसे साधारणतः ऐन्द्रिय अनुभूति से भिन्न कैसे माने? अतएव मनोविज्ञान की परिधि के भीतर ही अर्थात बौद्धिक और ऐन्द्रिय अनुभूतियों के अंतर्गत ही काव्यानुभूति का स्वरूप निर्णीत करना होगा। हम देखते है कि काव्यानुभूति मे चित्त की द्रुति, विस्तार आदि मानसिक संवेदन तो होते ही है—रोमांच, अश्रु आदि शारीरिक संवेदन भी प्रायः अनुभूत होते हैं, अतएव काव्यानुभूति मे ऐन्द्रिय अनुभूति का अंश अवश्य मानना होगा। यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है, इसमे न भारतीय आचार्य ने और न विदेश के दार्शनिक ने ही कभी संदेह किया है। परन्तु हम यह भी देखते हैं कि प्रत्यक्ष रूप में अपने प्रियजन का स्पर्श कर चित्त में द्रुति और शरीर मे रोमांच का जो अनुभव होता है वह उस अनुभव से स्पष्टतः भिन्न है जो रंगमंच पर इसी प्रकार के प्रसंग को देखकर अथवा उससे भी किंचित् भिन्न नाटक मे पढकर प्राप्त होता है। चित्त मे द्रुति और शरीर मे रोमांच इस समय भी होता है,

पर वह पहले से भिन्न होता है। कैसा होता है ? स्पष्टतः उतना प्रत्यक्ष, अतएव उतना तीव्र नही होता। दोनों मे भिन्नता तो अवश्य है पर यह भिन्नता प्रत्यक्षता, एव तीव्रता की मात्रा की भिन्नता होती है। यह दूसरी अनुभूति अपेक्षाकृत अप्रत्यक्ष और मंद है। और इस अपेक्षाकृत अप्रत्यक्षता का कारण यह है कि यह [काव्य का ] अनुभव प्रत्यक्ष घटना का अनुभव नही है, भावित [ Contemplated ] घटना का अनुभव है। भावन करने मे पहले कवि को, फिर दर्शक या पाठक को बुद्धि का उपयोग करने की आवश्यकता होती है। अतः परिणाम यह निकला कि काव्यानुभूति है तो ऐन्द्रिय अनुभूति ही, परन्तु साधारण नही है, भावित अनुभूति है। अर्थात् उसमे ऐन्द्रिय और बौद्धिक अनुभूति के तत्वों का लवण-नीर-संयोग है। अब, एक शब्द रह गया अनुभूति, जो व्याख्या की अपेक्षा करता है। अनुभूति का विश्लेषण करने पर हमारे हाथ मे केवल सवेदन [ sensations ] रह जाते है। जिनको वास्तव मे हम अपने मनोजगत् के अणु परमाणु कह सकते है शारीरिक रूप मे यह प्रत्यक्ष और स्थूल होते है मानसिक रूप मे ये सूक्ष्म और विम्ब-रूप होते हैं, और बौद्धिक रूप तक पहुँचते पहुँचते इतने सूक्ष्म हो जाते है, अर्थात् इनके विम्ब भी इतने सूक्ष्म हो जाते है कि वे लगभग अरूप ही से लगते है। उनका रूप नही केवल अन्विति-सूत्र ही रह जाता है : जैसे बहुत बारीक जंजीर की कड़ियाँ नही दिखाई पडती केवल सूत्र ही दिखाई पडता है। इस प्रकार वास्तव मे अनुभूति अपने सभी रूपो मे मूलतः संवेदन-रूप ही है उसमे [ शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक सभी रूपो मे ] केवल प्रत्यक्षता की मात्रा का ही अतर है मूलगत प्रकार का नही। अतः काव्य की अनुभूति या आनन्द भी संवेदन रूप ही है परन्तु ये सवेदन स्थूल और प्रत्यक्ष न होकर सूक्ष्म और विम्ब-रूप होते है। साधारण रूप मे प्रत्यक्षता और तीव्रता की मात्रा के विचार से हम क्रमशः तीन प्रकार के संवेदनो की कल्पना कर सकते हैं। १. एक तो शुद्ध प्राकृतिक संवेदन [ये एकांत प्रत्यक्ष तथा स्थूल होते हैं]जो, उदाहरण के लिए, हमे अपने प्रियजन के प्रत्यक्ष स्पर्श आदि से प्राप्त होते हैं। २. दूसरे वे संवेदन जो उस स्पर्श के स्मरण से प्राप्त होते हैं—ये मानो पहले प्रकार के संवेदनो के विम्ब रूप है। स्वभावतः ही ये प्रत्यक्ष अथवा स्थूल कम, और आंतरिक अथवा सूक्ष्म अधिक होते है। ३. तीसरे वे सवेदन जो इस स्मृति के विश्लेषण या बौद्धिक अध्ययन आदि से प्राप्त होते है। ये मानो विम्ब के भी प्रतिविम्ब हैं और स्वभाव से ही अत्यन्त आंतरिक एवं सूक्ष्म होते है। वास्तव मे इनका स्थूल शारीरिक अश प्रायः नष्ट ही होजाता है। इन्हे हम बौद्धिक संवेदन कह सकते है। सभी प्रकार की बौद्धिक क्रियाओं मे हमे इसी प्रकार के सवेदन प्राप्त होते है। प्रत्यक्ष जीवन मे

प्रायः ये ही तीन प्रकार के सवेदन हमारे अनुभव मे आते हैं। परन्तु पिछले दो प्रकार के संवेदनो के बीच एक चौथे प्रकार के संवेदन भी होते है जो स्मृति के भावन से ) क्रोचे के शब्दो मे उसकी सहजानुभूति से और साधारण व्यावहारिक शब्दावली मे उसको काव्य रूप मे उपस्थित या ग्रहण करने से ) प्राप्त होते है। यह भावन का अनुभव न तो स्मृति का प्रत्यक्ष अनुभव होता है और न उसके विश्लेषण आदि का बौद्धिक अनुभव, स्मृति के अनुभव की अपेक्षा यह अधिक सूक्ष्म और बौद्धिक अनुभव की अपेक्षा अधिक स्थूल होता है, और उसी के अनुपात से उसके संवेदन भी एक की अपेक्षा सूक्ष्म और दूसरे की अपेक्षा स्थूल होते है। इस प्रकार काव्य से प्राप्त संवेदनो की स्थिति प्रत्यक्ष मानसिक संवेदनो से सूक्ष्मतर और बौद्धिक संवेदनो से अपेक्षाकृत अधिक प्रत्यक्ष एवं स्थूल ठहरती है। इसीलिए तो काव्यानुभूति मे एक ओर ऐन्द्रिय अनुभूति की स्थूलता और तीव्रता ( ऐन्द्रियता और कटुता ) नही होती और दूसरी ओर बौद्धिक अनुभूतिकी अरूपता नही होती, और इसलिए वह पहले से अधिक शुद्ध : परिष्कृत और दूसरी से अधिक सरस होती है। यहाँ यह शंका एक बार फिर उठती है कि यदि काव्यानुभूति संवेदनो से ही निर्मित है तो कटु संवेदनो के काव्य रूप की अनुभूति मधुर क्यो होती है! इसका समाधान करने से पूर्व कटु सवेदन और मधुर संवेदन की परिभाषा करना उचित होगा। वास्तव मे सवेदन न अपने आप मे कटु है और न मधुर, कटुता और माधुर्य तो अनुभूति का गुण है। अनुभूति मे एक पृथक् संवेदन नही होता, संवेदनो का एक विधान होता है। जब संवेदनो मे सामंजस्य और अन्विति स्थापित हो जाती है, तो हमारी अनुभूति मधुर होती है और जब ये विशृंखल और विकीर्ण होते है तो अनुभूति कटु होती है। जैसा मैंने अभी कहा—काव्य से प्राप्त संवेदन प्रत्यक्ष न होकर सूक्ष्म बिम्ब-रूप होते है। एक तो इसी कारण उनकी कटुता अत्यंत क्षीण हो जाती है, दूसरे वे कवि द्वारा भावित होते है इसलिए अनिवार्यतः उनमे सामंजस्य स्थापित हो जाता है क्योंकि काव्य के भावन का अर्थही अव्यवस्था मे व्यवस्था स्थापित करना है—और अव्यवस्था मे व्यवस्था ही आनन्द है। इस प्रकार जीवन के कटु अनुभव भी काव्य मे, अपने तत्वरूप संवेदनो के समन्वित हो जाने से आनन्दप्रद बन जाते हैं।

— ——— —

# भाव का विवेचन

भाव की परिभाषा .—संस्कृत मे भाव का अर्थ है स्थिति—

साधारण रूप मे हम कह सकते है कि "वाह्य जगत् के संवेदनो से मनुष्य के हृदय मे जो विकार उठते है—वे ही मिलकर भाव की संज्ञा प्राप्त करते है।" आधुनिक मनोवैज्ञानिको ने भाव या मनोविकार का वर्णन करते हुए लिखा—है※[1] "(स्थूलत: यह कहा जा सकता है कि) विशेष वाह्य स्थितियो के संवेदन - अथवा स्मृति एवं कल्पना के स्वतन्त्र विचारो द्वारा जागृत मनोदशा ही भाव है—जिसके दो प्रधान गुण है, अनुभूति और प्रयत्न।" और स्पष्ट शब्दो मे डा० मैकडूगल के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हमारी किसी स्वाभाविक वृत्ति के जागृत होते ही—उस वृत्ति की अनुकूल पेशियो और स्नायुओ मे ओज का संचरण होने लगता है। ओज संचरण की यह अवस्था उत्तेजना की अवस्था होती है, और प्रत्येक परिस्थिति मे इस उत्तेजना मे एक ऐसी विशिष्टता वर्तमान रहती है जिसके कारण हम उसे भय, क्रोध, घृणा आदि का पृथक नाम दे सकते है। 'यहाँ स्वाभाविक वृत्ति की जागृति' और 'उत्तेजना मे निहित विशिष्टता, दोनो भाव के मानसिक रूप का वर्णन करते है, और 'स्नायु एवं पेशियो मे ओज का संचरण' उसके शारीरिक रूप का द्योतन। इन मानसिक और शारीरिक रूपो के अतिरिक्त भाव के लिए कुछ स्थितियाँ भी अनिवार्य है—

---

(१)··· We must be satisfied with the merely provisional description of an emotion as a state of mind characterized predominantly by feeling and activity, aroused by the perception of certain specific objective conditions or specific free ideas of memory and imagination.

(Elements of Psychology—Mellone and Drummond)

[ १ ] भाव के विषय की सत्ता अवश्य होगी—क्योंकि भाव वास्तव में व्यक्ति की वस्तु—अर्थात् विषयी की विषय के प्रति मानसिक प्रतिक्रिया होती है।

[ २ ] भाव का सुखात्मक अथवा दुःखात्मक आस्वादन निश्चय रूप में होगा।

[ ३ ] इस मानसिक प्रतिक्रिया के परिणाम-स्वरूप कुछ प्रयत्न भी अनिवार्य्यतः होगा।

[ ४ ] भाव की शारीरिक अभिव्यक्ति अवश्य होगी अर्थात् स्नायु और पेशियों के परिवर्तन स्वरूप शरीर में विकार अवश्य उत्पन्न होंगे।

[ ५ ] किसी एक भाव की स्थिति निरपेक्ष नहीं रह पायेगी—उसमें अनेक विकार उत्पन्न होते रहेंगे।

मनोविज्ञान के पण्डितों में भाव के मानसिक और शारीरिक रूप के पूर्वापर कार्यक्रम को लेकर बहुत कुछ विवाद चला है। जेम्स, मैक्डूगल आदि का कहना है कि भाव का मानसिक रूप शारीरिक रूप का परिणाम है—स्टाउट आदि का विचार है कि ऐसा शारीरिक संवेदनों के लिए तो अवश्य कहा जा सकता है, परन्तु सभी भावों के विषय में यह क्रम नहीं माना जा सकता—उनके मत में प्रायः इसका विपरीत क्रम ही स्वीकार्य्य है। हम इस विचार में न पड़कर यही कह सकते हैं, कि भारतीय दर्शन में यह दूसरा मत ही ग्रहण किया गया है। चेतना की पृथक सत्ता स्वीकार करने वाले के लिए यही मत ग्राह्य हो सकता है।

स्थायी और संचारी का अन्तर—<br>
मनोवृत्ति और मनोविकार का अन्तर— } —संस्कृत साहित्य-शास्त्र का

आचार्य भाव को सिद्ध मानकर चला है—अतएव उसने प्रकृत भाव❀[२] की परिभाषा नहीं की। उसने या तो 'स्थायी' और 'संचारी भाव' की परिभाषा की है, या फिर रस की अपरिपक्व दशा के अर्थ में पारिभाषिक 'भाव' का विवेचन किया है। स्थायी भाव की परिभाषा करते हुए साहित्य-दर्पणकार ने लिखा है—

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः,<br>
आस्वादांकुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः।

अर्थात् अविरुद्ध और विरुद्ध भाव—जिसको न छिपा सके, जो आस्वादन अंकुर का मूल हो वही भाव स्थायी भाव कहलाता है। इसके विपरीत—

विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः<br>
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदाः।

---

❀Emotion

स्थिरता से विद्यमान रत्यादि स्थायी भाव मे उन्मग्न, निर्मग्न अर्थात् आविर्भूत तिरोभूत होने वाले ( स्थायी-भाव रूपी जल मे तरंगो की भांति संचरण करने वाले ) भाव संचारी कहलाते हैं। उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि स्थायी भाव स्थिर होते हैं, सचारी अस्थिर। स्थायी भाव एक स्थिर मनोदशा है, और संचारी एक संचरणशील मनोविकार है। यह अन्तर बहुत कुछ वैसा ही है, जैसा मनोविज्ञान के 'मनोवृत्ति' (Sentiment) और 'मनोविकार' (Emotion) के बीच पाया जाता है। मनोवृत्ति एक स्थिर मनोदशा–एक दृष्टिकोण है; मनोविकार एक अस्थिर संचरणशील विकार मात्र है। *"मनोविकार एक संचरण-शील अनुभव है। मनोवृत्ति एक स्थिर वृत्ति है जिसका कि अनेक मनोविकारों और मानसिक क्रियाओ द्वारा क्रमशः निर्माण होता है। मनोवृत्ति एक प्रकार का मानसिक संस्थान है, अथवा उसका एक अंश है···।" संक्षेपत: मनोविकार और मनोवृत्ति मे दो मुख्य अंतर हैं—

(१) मनोविकार अस्थिर अनुभव होता है, मनोवृत्ति अपेक्षाकृत स्थिर।

(२) मनोविकार स्वभाव, वृत्ति या मात्रा (Instinct) से सम्बद्ध है, मनोवृत्ति विचार (Idea) से; अर्थात् उसमे बौद्धिक तत्व भी अनिवार्यतः विद्यमान रहता है।

संस्कृत का संचारी भाव तो स्पष्टतः मनोविज्ञान का मनोविकार है। यहाँ हम संचारी की परिधि में रति, शोक, हास्य, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद की भी गणना कर रहे है क्योकि ये भाव भी तो सर्वदा स्थायो न होकर समय समय पर संचारी के रूप मे सामने आते हैं।

स्थायी भाव की मनोवैज्ञानिक स्थिति :—अब प्रश्न रह जाता है स्थायी भाव का। स्थायी भाव की मनोवैज्ञानिक स्थिति क्या है ? संस्कृत साहित्य-शास्त्र के अनुसार स्थायी भाव की विशेषतायें हैं—

(१) स्थायी भाव ( अपेक्षाकृत) स्थिर है।

(२) स्थायी भाव अपेक्षाकृत पुष्ट है।

(३) और इसीलिए वही रस दशा को प्राप्त हो सकता है, संचारी नही।

---

*Emotion is a fleeting experience ; Sentiment is an aquired disposition, one gradually built up through many emotional experiences and activities ; it is an organization (or a part of total organization)...... ...... !

[ बयालिस भावों में से ये विशेषतायें केवल नौ में ही हैं और इसी लिए शेष तेतीस से उनको पृथक् कर स्थायी भाव का गौरव प्रदान कर दिया गया है। ]

मनोविज्ञान मे मनोविकार या भाव के केवल तीन रूप ही माने गये है—

(१) मौलिक मनोविकार (Primary Emotion) जो स्वतन्त्र, अमिश्र और एक होता है, जैसे भय।

(२) व्युत्पन्न मनोविकार (Derived Emotion) जो स्वतन्त्र न होकर किसी अन्य मनोविकार के आश्रित रहता है, जैसे आशंका।

(३) मनोवृत्ति (Sentiment) जो मनोविकारों के मिश्रण, उनकी पुनरावृत्ति और क्रमशः बौद्धिक तत्व के समावेश द्वारा निर्मित एक स्थिर मनोदशा है, जैसे—कर्तव्य।

अब आप देखे कि स्थायी भाव को हम एक साथ ही शुद्ध मौलिक मनोविकार नही कह सकते। उदाहरण के लिये निर्वेद या शम् शुद्ध मनोविकार नही है। एक से अधिक मनोविकारों का सम्मिश्रण और बौद्धिक तत्व का प्राधान्य होने के कारण वह एक व्यवस्थित मनोदशा ही है। अद्भुत रस का स्थायी विस्मय भी स्पष्टतः ही एक मिश्र भाव है। व्युत्पन्न मनोविकार का भी प्रश्न नही उठता क्योंकि इनमे से सभी व्युत्पन्न नही है। भय, क्रोध, आदि स्पष्टतः ही मौलिक हैं। अब रह जाती है मनोवृत्ति—तो स्थूलतः स्थायी भाव मनोवृत्ति के बहुत कुछ समरूप होता हुआ भी अन्ततः उससे भिन्न है:—

समता—[१] मनोवृत्ति की भाँति स्थायी भाव भी अन्य (संचारी) भावों की अपेक्षा स्थायी होता है।

[२] मनोवृत्ति की ही भाँति स्थायी भाव एक मनोदशा है, जिसमे अन्य भाव संचरण करते रहते हैं।

विषमता—परन्तु दोनों मे कुछ मौलिक अन्तर भी है—

[१] मनोवृत्ति एक व्याप्त मनःस्थिति मात्र है, जिसके समग्र रूप का अनुभव कभी नही हो सकता। मनोवृत्ति के संचारी का ही आस्वादन हो सकता है मनोवृत्ति स्वयं का नही। उदाहरण के लिए देशभक्ति का आस्वादन कभी नही होता, उसके आश्रित या संचारी भाव उत्साह आदि का ही होता है, परन्तु स्थायी के विषय मे यह बात नही है, उसका संचारी ही नहीं वह स्वयं भी समग्रतः

आस्वाद्य है कर्लव्य मनोविकार का कारण है स्वयं मनोविकार नही है, परन्तु भय स्वयं ही मनोविकार है।

[२] मनोवृत्ति सदैव ही मनोविकार की आवृत्ति से बन जाती है, परन्तु स्थायी भाव के विषय मे यह सत्य नही है। हर्ष की आवृत्ति करते रहिये, पर वह रति नही बन पायेगा।

[३] मनोवृत्ति सदैव विचार-मूलक है, परन्तु स्थायी भाव (शम को छोडकर) विचार-मूलक नही—प्रवृत्ति-मूलक ही है।

इस प्रकार स्वीकृत रूप मे तो साहित्य-शास्त्र के स्थायी भाव का स्वरूप और विवेचन आधुनिक मनोविज्ञान को परिभाषाओ मे पूरी तरह नही घट पाता, परन्तु फिर भी वह अमनोवैज्ञानिक नही है। उसकी भी अपनी संगति है। आरम्भ मे शायद उपलब्ध साहित्य के पर्यालोचन द्वारा उद्‌गमन की विधि से स्थायी-संचारी का वर्गीकरण हुआ हो, परन्तु बाद मे आचार्यों ने मीमांसा आदि के बल पर अतिव्याप्ति और अव्याप्ति को बचा कर इन्ही की व्यापकता सिद्ध करते हुए अपने वर्गीकरण को निर्दोष बनाने का सर्वथा स्तुत्य प्रयत्न किया है। उनकी स्थापना आज इस रूप मे सामने रखी जा सकती है -

[१] मानव हृदय मे उठने वाली तरंगो के योग से जो विभिन्न मनोविकार बनते है उनकी संख्या बयालिस ठहरती है। ये मनोविकार शुद्ध, मिश्र, व्युत्पन्न, मन्द, तीव्र, अस्थायी, स्थायी सभी प्रकार के है। इनमें से केवल रति, हास्य, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद ये नौ मनोविकार ऐसे है जो औरो की अपेक्षा अधिक स्थायी, अधिक प्रभावशाली और पुष्ट होने के कारण रस-परिपाक के योग्य है, अतएव इनको विशेष महत्व दिया गया है और पारिभाषिक-शब्दावली मे स्थायी की संज्ञा दे दी गई है। -

[२] इस प्रकार के अर्थात् रस मे परिणत होने योग्य भाव केवल नौ ही है—अन्य भाव या तो इन्ही के अन्तर्भूत हो जाते है, जैसे दान-शीलता, धर्म-प्रेम आदि भाव उत्साह के अन्तर्गत आ जाते है [ आज के गांधी की अहिंसा और जवाहरलाल की देशभक्ति, भगतसिंह का आतंकवाद तथा राहुल संकृत्यायन की साम्यवाद के प्रति निष्ठा भी स्पष्टत उत्साह के ही अंतर्गत आ जायेगे ]; और या फिर रस दशा तक पहुँचने मे असमर्थ रहने के कारण स्थायीपद के अधिकारी नही बन पाते—उदाहरण के लिए [ शास्त्र के अनुसार ] 'वात्सल्य' या देवादि-विषयक रति भाव ही हैं—'स्थायी भाव' नही है।

यहाँ दो प्रश्न उठते है—

[१] क्या स्थायी और संचारी का यह भेद मनोविज्ञान की दृष्टि से उचित है ?

[२] क्या स्थायियो की संख्या नौ ही हो सकती है और संचारियों की तेंतीस ही ? पहले प्रश्न का उत्तर तो उपर्युक्त विवेचन मे ही दिया जा चुका है कि मनोविज्ञान मे इस प्रकार का वर्ग-विभाजन नही मिलता। वहाँ तो दो ही प्रकार का वर्गीकरण स्वीकृत है। एक मौलिक [ शुद्ध ] और व्युत्पन्न मनोविकार का; दूसरा मनोविकार और मनोवृत्ति का। स्थायित्व, तीव्रता और प्रभाव के आधार पर मनोविज्ञान वर्गीकरण नही करता।

मनोविज्ञान विज्ञान है जो उपयोगी और अनुपयोगी, सुन्दर और असुन्दर, साधु और असाधु, तीव्र और मन्द के आधार पर वर्गीकरण नही करता। परन्तु फिर भी जीवन मे इस प्रकार का भेद और विभाजन तो है ही—और रहेगा भी। विज्ञान इस पचडे मे नही पड़ता क्योंकि यह सब उसकी परिधि से बाहर है; परन्तु जब जीवनगत उपयोग का प्रश्न आता है, तो इसका निषेध कैसे किया जा सकता है ? इसी प्रकार भाव क्षेत्र मे भी एक भाव दूसरे की अपेक्षा अधिक स्वस्थ और कोमल है—अथवा तीव्र एवं स्थायी है—अथवा अधिक प्रभावशाली है, यह मानने मे कोई विशेष कठिनाई नही होनी चाहिये। मनोविज्ञान इसका विवेचन नहीं करता, परन्तु साहित्य के लिए जिसका सम्बन्ध भाव के जीवनगत उपयोग से है इस प्रकार का वर्गीकरण सर्वथा स्वाभाविक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने नैतिक-मूल्य के आधार पर स्थायी भावों का औचित्य-विधान किया है। वह भी एक दृष्टिकोण है, परन्तु जीवन के अधिक व्यापक दृष्टिकोण से भी इसका समाधान किया जा सकता है। उदाहरण के लिए चिंता की अपेक्षा शोक अधिक तीव्र है—चिंता का तीव्रतम चित्रण शोक के तीव्रतम चित्रण की अपेक्षा क्षीण ही रहेगा। इसी प्रकार चिंता की अपेक्षा शोक मे स्थायित्व भी स्पष्टत: अधिक है—शोक मे चिंता निमग्न हो जाती है, परन्तु चिंता मे शोक निमग्न नहीं हो सकता। चिंता की अपेक्षा शोक वास्तव मे अधिक व्यापक है ही। जो भाव अधिक तीव्र, अधिक स्थायी और अधिक व्यापक है, वह निश्चय ही अधिक प्रभावशाली भी होगा। यही गर्व और उत्साह, शंका और भय अथवा इसी प्रकार के अन्य भावो के विषय मे भी कहा जा सकता है।

संक्षेप मे यद्यपि आधुनिक मनोविज्ञान मे इस प्रकार का विभाजन नही मिलता, परन्तु फिर भी हम इसे मिथ्या एवं अमनोवैज्ञानिक नही कह सकते। स्थायी भाव की स्थिति वास्तवमे जीवनके उन तीव्र और व्यापक मनोविकारोंकी

है,जो मानव-स्वभाव के मूल अंग हैं, पाश्चात्य दर्शन मे जिन्हे साधारणतःमौलिक मनोवेग [Elemental Passions] कहा गया है। इन मनोवेगोका सीधा संबन्ध मानव-आत्मा के मूलभूत गुण राग-द्वेष से है। आत्मा की प्राथमिक अभिव्यक्ति है अस्मिता—अहंकार जिसे आज के मनोविश्लेषण ने अह [ ego ] या आत्माभिव्क्ति [self-assertion] के रूप मे निर्विरोध स्वीकार कर लिया है। अहंकार की अभिव्यक्ति की दो सरणियां है राग और द्वेष—जो मानव-जीवन के दो मौलिक अनुभवों—सुख और दुःख के वैज्ञानिक पर्याय-मात्र है—'सुखात् रागः, दुःखात् द्वेष.।' आधुनिक मनोविश्लेपण-शास्त्र मे इन्हें ही प्रेम करने की प्रवृत्ति [Libido] और नाश करने की प्रवृत्ति [Thanatos] कहा गया है। और गहरे मे जाएँ तो फ्रायड का 'काम' मूलतः राग ही है, और आडलर का 'हीन भाव' द्वेष। आधुनिक मनोविश्लेपको के इस विषय मे तीन मत है—एक फ्रायड का—जो काम को जीवन की मूल वृत्ति मानता है, दूसरा आडलर का जो हीन-भाव या क्षतिपूर्ति को लेकर चलता है, और तीसरा युंग का जो इन दोनो को जीवनेच्छा [या स्वत्व-रक्षा]—हमारे शब्दो मे अस्मिता के पोषण की—शाखाएँ मानता हुआ उसी को मूल मानता है। आज यही सिद्धांत सामान्यतः स्वीकृत है।

उत्तम, सम और अधम के आधार पर राग प्रश्रय, प्रेम और करुणा का रूप धारण कर लेता है, और द्वेष भय, क्रोध और घृणा का। इस प्रकार भाव-जगत का विस्तार होता जाता है। जैसा कि डा० भगवानदास ने अत्यन्त मौलिक ढङ्ग से प्रदर्शित किया है, संस्कृत-साहित्य के सभी स्थायी भावो का इन्ही मूलभावो के अन्तर्गत समाहार हो जाता है। रति, हास, उत्साह और विस्मय साधारणत· अस्मिता के उपकारक होने के कारण राग के अन्तर्गत आजाते है,—और शोक, क्रोध, भय और जुगुप्सा अस्मिता के अपकारक होने के कारण द्वेष के अन्तर्गत,—निर्वेद मे इन दोनो का सामञ्जस्य हो जाता है। उसमे अस्मिता की समरसता की अवस्था होती है। पहले चार भाव मधुर होने के कारण सुख की अभिव्यक्ति है, दूसरे कटु होने के कारण दुःख की। निर्वेद मे दोनो का समन्वय है। कहने की आवश्यकता नही कि यह विभाजन आत्यन्तिक नही है—तत्वत: तो कोई भी प्रवृत्ति न तो शुद्ध राग हो सकती है और न अमिश्रित द्वेष। वास्तव मे जैसा कि मनो-विश्लेपक कहता है राग और द्वेष [Libido and Thanatos] के संघर्ष से ही हमारा मानसिक जीवन [Psychic Life] संचालित है। इसीलिए यदि उत्साह के युयुत्सा रूप मे आपको द्वेष का अंश मिले—या शोक मे राग का, तो चौंकना नही चाहिये, यो तो स्वयं रति भी शुद्ध राग नही है।

रसो और भावों की संख्या—अब दूसरे प्रश्न को लीजिये। यह मान

लेने पर कि स्थायी भावो की स्थिति जीवन के मूल मनोवेगों [ Elemental Passions ] की स्थिति से अभिन्न है—और इस प्रकार के विभाजन का एक सूक्ष्म आधार भी है ही जो अमनोवैज्ञानिक नही है, एक और प्रश्न उठता है :—क्या जीवन के मूल मनोवेग नौ ही है—अर्थात् क्या मनोभावो की संख्या नौ ही है—कम-अधिक नही ? यह प्रश्न संस्कृत साहित्य-शास्त्र मे अनेक बार उठा है—स्थायी भावो को वढाने-घटाने का प्रयत्न हुआ है, उनकी प्रधानता-अप्रधानता का विवेचन हुआ है—उन सभी को केवल एक मूल स्थायीभाव के अंतभूत करने की भी चेष्टा की गई है, परन्तु अन्त मे परिणाम यही निकला है कि स्थायी भावों की संख्या नौ ही है और नौ ही होनी चाहिये। भरत ने मूलतः आठ ही रस और तदनुसार आठ ही स्थायी भाव माने है, उनमे भी शृंगार, वीर, रौद्र और वीभत्स तदनुसार रति, उत्साह, क्रोध, और जुगुप्सा को प्रधान और मौलिक माना है; और हास्य, करुण, भयानक तथा अद्भुत तदनुसार हास शोक, भय तथा विस्मय को गौण एवं व्युत्पन्न माना है। उन्होने—

| | | |
|---|---|---|
| शृंगार से हास्य— | तदनुसार | रति से हास, |
| वीर से अद्भुत — | ,, | उत्साह से विस्मय, |
| रौद्र से करुण — | ,, | क्रोध से शोक, |
| वीभत्स से भयानक— | ,, | जुगुप्सा से भय |

की उत्पत्ति मानी है, परन्तु परवर्ती आचार्यों ने उसे स्वीकृत नही किया। वाद मे 'शान्तोऽपि नवमो रस' कहकर शांत भी जोड दिया गया। पहले पण्डितो का मत था कि शात की उद्भावना उद्भट ने की, परन्तु आज प्रायः अभिनव के आधार पर भरत को ही इसका भी श्रेय दिया जाता है। इसके उपरांत रसो और स्थायी भावो की संख्या को बढाने के अनेक प्रयत्न हुए जिनमे सबसे महत्वपूर्ण दो हैं—

[१] विश्वनाथ द्वारा वत्सल रस और वात्सल्य स्थायी की प्रतिष्ठा।

[२] भक्त आचार्यों विशेषकर रूपगोस्वामी द्वारा भक्तिरस और भगवत-रति स्थायी की प्रतिष्ठा।

परन्तु पण्डितराज जगन्नाथ और उनके वाद के आचार्यों ने इन उद्भावनाओ का निषेध किया। पण्डितराज ने तो वीर के भी युद्धवीर आदि अंतर्विभाजन को निरर्थक घोषित किया क्योंकि इस प्रकार तो पाण्डित्यवीर आदि अनेक अवान्तर भेद होते जायेगे। *इन परम्परा-दृढ पण्डितो ने वात्सल्य और भक्ति को रस-परिणति

* "वस्तुतस्तु बहवो वीररस्य शृङ्गारस्येव प्रकारा निरूपयितु शक्यन्ते। तथाहि प्राचीन एव 'सपदि विलयमेतु' इत्यादि पद्ये 'मम तु मतिर्न मनागपैतु सत्यात्'

के अयोग्य ठहराकर 'भाव' मात्र ही माना। इसमे सन्देह नही कि साधारण व्यक्ति के लिए देवादि-विषयक रति भाव की स्थिति से आगे नही बढ पाती क्योकि उसका आलम्बन परोक्ष एवं अमूर्त है, परन्तु यह मनोविकार रस-परिणति मे असमर्थ है, एकदम ऐसा कहना अनुचित होगा। मीरा, सूर, तुलसी की भक्ति रस दशा को प्राप्त नहीं कर सकी थी, यह कहना तो सत्य का तिरस्कार करना है, लेकिन हाँ इनकी भक्ति को उसकी अन्त:प्रेरणा के अनुसार स्थूलतः रति या निर्वेद के अन्तर्भूत किया जा सकता है। मीरा की माधुर्य्य भावना रति का ही परिष्कृत रूप है। सूर और तुलसी का कार्पण्य निर्वेदका। इसके अतिरिक्त जहाँ इन्होने प्रत्यक्ष आत्मनिवेदन किया है—वहाँ भी, कही तो स्पष्ट ही रति का परिपाक मिलता है जैसे सूर के अनेक पदो मे जिनमे कृष्ण की रूप-माधुरी का अंकन किया गया है, और कही स्पष्ट निर्वेद का जैसे तुलसी बहुत से पदो मे जहाँ संसार की असारता—कराल कलिकाल से उसकी रक्षा आदि के लिए प्रार्थना को गई है। शेष कुछ ऐसे पद रह जाते है, जिनमे प्रश्रय आदि 'भाव' ही मानना पडेगा। इस प्रकार भक्ति को रस के योग्य मानते हुए भी उसका अन्तर्भाव इन्ही निर्णीत स्थायी भावो मे हो जाता है। जहाँ राग का प्राचुर्य है वहाँ रति, जहाँ विराग का प्राधान्य है वहाँ निर्वेद माना जा सकता है। वैसे भी आज के मनोविश्लेषको ने धर्म-भावना को काम का उन्नयन ही माना है। परन्तु वात्सल्य को रस-परिणति के अयोग्य मानना बहुत ज्यादती होगी। क्योकि वात्सल्य भाव का सम्बन्ध तो जीवन की एक सर्व-प्रधान एषणा—पुत्रेषणा से है। विदेश के सभी मनोवैज्ञानिको ने भी मातृ-वृत्ति को एक अत्यन्त मौलिक एवं प्रधान वृत्ति माना है। वात्सल्य मानव-जीवन की एक बहुत बडी भूख है जो तीव्रता और प्रभाव की दृष्टि से केवल काम से ही न्यून कही जा सकती है। दूसरे जब तक रति का फ्रायड के ढङ्ग पर विस्तार न किया जाए, वात्सल्य को रति केअन्तर्गत भी नही माना जासकता है। सूरके वात्सल्य-चित्रोको क्या रसका अधिकारी नहीमाना जाएगा—या उनको शृंङ्गार के अन्तर्गत रख दिया जायगा? रति का काम से असम्पृक्त भी एक रूप हो सकता है, जैसे—मैत्री, जिसको ध्यान मे रखकर ही रुद्रट ने 'प्रेयान्' रस का आविष्कार किया था। परन्तु वास्तव मे मैत्री शुद्धभाव न होकर

---

इति चरमपादव्यत्यासेन पद्यातरता प्रापिते सत्यवीरस्यापि सभवात्। न च सत्यस्यापि धर्मान्तरगततया धर्मवीर रस एव तद्वीरस्यान्तर्भाव इति वाच्यम्।

दानदययोरपि तदन्तर्गततया तद्वीरयोरपि धर्मवीरात्पृथग्गणना नौचित्यात्। एवं पाण्डित्यवीरोऽपि प्रतीयते।'

(रस गंगाधर)

काव्यमाला संस्करण, [पृष्ठ ४१]

एक मनोवृत्ति है जिसमे अनेक भावो का संमिश्रण रहता है। साधारणतः यह भाव रस दशा को नही पहुंच पाता—वृत्तियो का पूर्ण सामञ्जस्य और निलय केवल मित्र भाव के कारण नही हो पाता; जहाँ कही होता है वहाँ उसमें काम या उत्साह जैसे किसी प्रगाढ मनोवेग का प्राधान्य रहता है।

पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र में रस :—पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र में अरस्तू आदि ने मनोवेग के अर्थ मे सेंटीमैंट [ Sentiment ] शब्द का प्रयोग किया है और साधारणतः काव्यगत मनोवेगों को सुन्दर [ Beautiful ], उदात्त [ Sublime ], करुण [ Pathetic ] और हास्यमय [ Humorous ] इन चार रूपो मे विभक्त किया है। यह वर्गीकरण अपेक्षाकृत अपूर्ण है। सौन्दर्य भाव वास्तव मे निरपेक्ष मनोविकार नहीं है। वह हर्ष, रति, विस्मय का ही एक रूप है। किसी सुन्दर वस्तु को देखकर यदि हमारी वृत्तियो मे सामञ्जस्य मात्र ही स्थापित होता है तो हमारी प्रतिक्रिया हर्ष है, यदि उसके प्रति स्थायी आकर्षण उत्पन्न हो जाता है तो रति हो जाएगी और यदि उसको देख कर चित्त चमत्कृत होता है तो वह प्रतिक्रिया विस्मय कहलायेगी। इन तीनो या इसी प्रकार के किसी निश्चित भाव से या उनके मिश्ररूप से पृथक् सौन्दर्य-भावना का कोई अस्तित्व नही है। सौन्दर्य-भावना जिस प्रकार अधिकतर हर्ष, रति और विस्मय का योग है, उदात्त भावना इसी प्रकार आश्रय मे हर्ष, भय और विस्मय का योग है, और आलम्बन मे हर्ष और उत्साह का। वह भी निरपेक्ष भाव नही है। उसे स्थिति के अनुसार संस्कृत का रस-शास्त्र अपने अद्भुत और वीर में अतर्भूत कर सकता है। गीता मे कृष्ण का विराट रूप अद्भुत के अन्तर्गत आएगा, रामायण मे दिग्विजयी राम का रूप वीर के अन्तर्गत—यद्यपि यह मानने मे आपत्ति करना हठधर्मी होगी कि अद्भुत और वीर की अपेक्षा उन दोनो को ही उदात्त या महान् कहना अधिक संगत होगा, परन्तु इसका तात्पर्य केवल यही है कि उदात्त शब्द अधिक सचित्र तो है, पर वैज्ञानिक नही है।—शेष दो करुण और हास्य तो पाश्चात्य और पौरस्त्य दोनो शास्त्रो मे एक ही हैं।

मूल प्रवृत्तियां और प्रवृत्तिगत भाव:—आधुनिक मनोवैज्ञानिको ने जीव की मूल प्रवृत्तियो का अन्वेषण कर स्थूलतः उनकी संख्या निश्चित करने का प्रयत्न किया है ( ये प्रवृत्तियाँ मानव और मानवेतर प्राणियो मे समान रूप से विद्यमान है )। परन्तु इन वैज्ञानिको के निर्णय एक-स्वर नही है। इसका प्रत्यक्ष कारण यही है कि मानव मन एक गहन समुद्र है, जिसकी तरङ्गो अथवा वीचियो की निश्चित गणना करना साधारणतः सम्भव नही है। मैक्डूगल महोदय ने प्रवृत्तियों और उनसे सम्बद्ध मनोविकारो का वर्णन इस प्रकार किया है :—

| प्रवृत्ति | प्रवृत्तिगत भाव |
|---|---|
| १. भोजनोपार्जन [ भोजन अर्जन करने की प्रवृत्ति ] | क्षुधा |
| २. अपकर्षण [ किसी वस्तु को त्यागने अथवा उससे हटने की प्रवृत्ति ] | घृणा [ जुगुप्सा ] |
| ३. काम [ प्रेम और यौन सम्बन्ध स्थापित करने की प्रवृत्ति ] | रति |
| ४. भय [ दुःखदायी वस्तु से बच कर भागने या शरण लेने की प्रवृत्ति ] | भय |
| ५. जिज्ञासा [ नवीन और अद्भुत वस्तुओं के अन्वेषण की प्रवृत्ति ] | औत्सुक्य |
| ६. सामाजिकता [ सजातीय व्यक्तियों का साहचर्य लाभ करने की प्रवृत्ति ] | मिलनेच्छा (सहानुभूति) |
| ७. मातृ-भावना ( अपत्य-स्नेह ) [ बच्चों का संरक्षण करने की प्रवृत्ति ] | वात्सल्य |
| ८. आत्म-प्रतिष्ठा [ अपने व्यक्तित्व को प्रदर्शित करने, दूसरों पर रोब जमाने की प्रवृत्ति ] | गर्व [ अहंकार ] |
| ९. अधीनता [ अपने से अधिक बलवान के प्रति आदर, प्रश्रय, अधीनता आदि की प्रवृत्ति ] | दैन्य [ कार्पण्य ] |
| १०. क्रोध [ बाधा और विघ्न अथवा विरोध को छिन्न-भिन्न कर देने की प्रवृत्ति ] | क्रोध |
| ११. आर्तप्रार्थना [ स्वयं विफल एवं निराश हो जाने पर दूसरों की सहायता माँगने की प्रवृत्ति ] | दुःखकातरता [distress] |
| १२ निर्माण [ आवश्यक आच्छादन आदि के निर्माण करने की प्रवृत्ति ] | सृजनोत्साह |
| १३. परिग्रह [ वाञ्छित वस्तुओं को प्राप्त करने और उन पर अपना अधिकार करने की प्रवृत्ति ] | अधिकार-भावना |
| १४. हास्य [ दूसरों के दोषों और विकृतियों पर हँसने की प्रवृत्ति ] | हास |

पहले मैक्डूगल ने ये १४ ही प्रवृत्तियाँ मानी थी, परन्तु बाद में चार और जोड दी—

आराम—[ Comfort ] ऐसे स्थान की खोज करना जहाँ शरीर को सुख मिले ।

निद्रा—विश्राम अथवा निद्रा की प्रवृत्ति।

भ्रमण—नवीन स्थानों में भ्रमण करने की प्रवृत्ति।

कफ, छींक, श्वास-प्रश्वास, मोचन आदि।

इनका सम्बन्ध स्पष्टतः शारीरिक क्रियाओं से अधिक है, अतएव इनका सहकारी मनोविकार या मनःस्थिति बहुत स्पष्ट एवं विशिष्ट नहीं होती। निदान ये हमारे विशेष उपयोग की नहीं हैं। उपर्युक्त चौदह प्रवृत्ति-मूलक मनोविकारों में भी क्षुधा सर्वथा शारीरिक है, अतएव काव्य में उसके विशेष उपयोग की आशा करना व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त शेष तेरह भी, आप देखिये, अतिव्याप्ति और अव्याप्ति से मुक्त नहीं हैं। वे स्पष्टतः एक दूसरे की सीमा-रेखा का अतिक्रमण कर जाते हैं। उदाहरण के लिए सृजनोत्साह और अधिकार-भावना अहंकार की परिधि में ही आ जाते हैं। कार्पण्य और कातरता भी एक दूसरे से बहुत भिन्न नहीं हैं। वास्तव में वे एक ही प्रवृत्ति की दो अभिव्यक्तियाँ हैं। इस प्रकार पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार भी प्रवृत्ति-मूलक मनोविकार साधारणतः दस ही हुए। रति, हास, क्रोध, भय, घृणा [ जुगुप्सा ], औत्सुक्य, वात्सल्य, अहंकार, कार्पण्य, सहानुभूति [ संगेच्छा ] इनमें पहले सात तो संस्कृत स्थायी भावों से प्रायः अभिन्न ही हैं। अहंकार और उत्साह में भी कोई विशेष अंतर नहीं है। कार्पण्य को भी कुछ आचार्यों ने स्थायी भाव माना है, परन्तु वास्तव में सर्वतन्त्र मत यही रहा है कि भाव से अधिक उसकी स्थिति नहीं होती। यही बात संगेच्छा के लिए और भी निश्चय के साथ कही जा सकती है। अब संस्कृत-साहित्य-शास्त्र का एक स्थायी भाव रह जाता है—शोक! क्या कार्पण्य और सहानुभूति दोनों शोक [ करुणा ] के तत्व नहीं माने जा सकते?

उपर्युक्त विवेचन से मेरा अभिप्राय संस्कृत के नौ रसों की सार्वभौमिकता स्थापित करना न होकर केवल यही संकेत करना है कि हमारा यह वर्गीकरण सर्वथा अनर्गल और कपोल-कल्पित नहीं है। स्थायी भाव की स्थिति पौरस्त्य और पाश्चात्य मनोविज्ञान के प्रतिकूल नहीं है और संख्या-निर्धारण भी सर्वथा निराधार नहीं है, यद्यपि यह भी ठीक ही है कि वह सर्वथा निर्दोष भी नहीं है। परन्तु क्या कोई भी वर्गीकरण और संख्या-निर्धारण निर्दोष हो सकता है?

संचारियों की स्थिति अपेक्षाकृत निर्बल है। इसके दो प्रत्यक्ष कारण हैं—एक तो इन तेंतीस संचारियों में कुछ स्पष्टतः ऐसे हैं जो शारीरिक क्रियायें ही अधिक हैं मानसिक विकार उनमें गौण होता है। उदाहरण के लिए अपस्मार, निद्रा आदि। स्वप्न और मरण को भी भाव कहना निश्चय ही असंगत होगा।

दूसरे हमारे नित्य प्रति के अनुभव में और भी अनेक ऐसे भाव आते है जिनकी स्थिति इन तेंतीस से बाहर हैं। संस्कृत आचार्य के सम्मुख भी यह प्रश्न आया है मात्सर्य, उद्वेग, दंभ, विवेक, निर्णय, क्षमा उत्कण्ठा, और माधुर्य आदि भाव उसके सामने आए हैं, परन्तु उसने उन सभी का इन्हीं में अंतर्भाव कर दिया है, जैसे मात्सर्य का असूया मे, उद्वेग का त्रास मे, दंभ का अवहित्थ में ईर्ष्या का अमर्ष में क्षमा का धृति मे उत्कण्ठा का औत्सुक्य में। परन्तु आज इससे संतोष नहीं होता। इस तरह तो धृति का मति मे, विषाद का चिन्ता में अंतर्भाव भी माना जा सकता है। पौरस्त्य मीमांसा के अनुसार भी अनेक मनोविकार ऐसे हैं जो इनकी परिधि से बाहर हैं। उदाहरण के लिए—आदर, श्रद्धा, पूजा आदि प्रश्रय के विभिन्न रूप अथवा औदार्य, दया, स्नेह आदि अनुकम्पा के अंतर्भेद या फिर द्वेषपक्ष मे असंतोष अवमान अविश्वास आदि को लिया जा सकता है। डाक्टर भगवानदास ने पौरस्त्य विचार-शास्त्र के अनुसार ही ६४ मनोविकारो की गणना की है, जिनमे उपर्युक्त सभी तथा उनके अतिरिक्त और भी कई मनोविकार संस्कृत साहित्य-शास्त्र के तेंतीस या बयालिस संचारियो की परिधि से बाहर पडते हैं। वास्तव मे जैसा प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक जेम्स ने कहा है, मनोविकारो की गणना करना तथा उनको पृथक् रूप मे वर्णन करना केवल कठिन ही नही असम्भव भी है क्योकि मनोविकार तो मन की वस्तु के प्रति प्रतिक्रिया है, जो प्रत्येक वस्तु के साथ बदलती रहती है। मन मे असंख्य तरंगें उठती है, जो एक दूसरे से अनेक रूपों मे मिल कर न जाने कितने मनोविकारों का आविर्भाव करती हैं। साधारणतः मौलिक मनोविकारो की गणना करना ही अत्यन्त कठिन है, फिर मिश्र व्युत्पन्न मनोविकारों का तो अंत ही कहाँ है ?

अन्त मे मेरे निष्कर्ष ये है —

[१] आरम्भ मे तो संस्कृत साहित्य-शास्त्र के स्थायी भावो का वर्गीकरण और विवेचन उपलब्ध साहित्य के आधार पर किया गया था, परन्तु बाद मे दार्शनिक आचार्यों ने मीमांसा आदि के बल पर उन्हे व्यापक बनाते हुए वैज्ञानिक रूप दे दिया है।

[२] आधुनिक मनोविज्ञान के सर्वथा अनुकूल न होते हुए भी यह विवेचन अमनोवैज्ञानिक और अनर्गल नही है। पौरस्त्य और पाश्चात्य मन शास्त्रो की कसौटी पर वह बहुत अंशो मे खरा उतरता है। संचारी तो मनोविकार का पर्याय ही है। स्थायी भाव की स्थिति मौलिक मनोवेगो की है जो अपनी शक्ति स्थायित्व और प्रभाव के कारण मानव-जीवन की संचालक एवं प्रेरक वृत्तियाँ है।

[३] इन मनोवेगो की संख्या निश्चित करना अत्यन्त कठिन है। यह देखते हुए भी कि संस्कृत के आचार्यों ने अपने नौ स्थायियों के अंतर्गत ही सब सशक्त मनोवेगो का समाहार कर दिया है, इस संख्या को सर्वथा निर्दोष और पूर्ण नहीं माना जा सकता। वात्सल्य को रति से पृथक् स्थान देना ही होगा। करुण की परिधि मे भी शोक के अतिरिक्त अनुकम्पा, कार्पण्य आदि का समावेश करना होगा। रुद्रट ने तो सभी संचारियों के लिए ऐसा कहा है, परन्तु कम से कम कुछ एक मे--जैसे गर्व, ग्लानि, असूया आदि मे रस-परिणति की क्षमता अवश्य माननी पडेगी। इस प्रकार साधारण शोधन, परिशोधन और विशेष व्याख्यान के द्वारा स्थायी की स्थिति बहुत कुछ वैज्ञानिक बन सकती है।

संचारियों का वर्णन और विवेचन स्पष्टतः अपूर्ण और सदोष है, उनमे से ऐसे संचारी भावो को तो निकालना ही पडेगा जो मुख्यतः शरीर के धर्म हैं। इसके अतिरिक्त गणना का प्रयत्न करना व्यर्थ होगा। आलोचक अधिक से अधिक यही कर सकता है कि जिन मनोविकारो को नाम और परिभाषा दे दी गई है है, उनका काव्य सामग्री के विश्लेषण मे मनोविज्ञान के अनुकूल उपयोग कर ले। बस इससे आगे और कुछ उसके लिए सम्भव नही है।

— -- — —

# अलंकार-सम्प्रदाय

अलंकार निरूपण:—अलंकार का भी सब से पूर्व उल्लेख भरत के नाट्यशास्त्र में ही मिलता है। भरत ने केवल चार अलंकारों का ही निरूपण किया है—और वह भी रूपक के सम्बन्ध से ही। अलंकार का सब से प्रथम ग्रन्थ जिसमें उसका क्रम-वद्ध वैज्ञानिक विवेचन उपस्थित किया गया है, भामह का काव्यालङ्कार है। भरत के उपरांत रस रूपक का ही मुख्य अंग माना जाने लगा था—काव्य में उक्ति का चमत्कार ही मुख्य था। भामह ने इसी मत का प्रतिनिधित्व किया। उसने दृश्य-काव्य की सर्वथा उपेक्षा करते हुए केवल श्रव्यकाव्य के अंगों का—प्रधानतः अलंकारों का ही व्याख्यान किया । परन्तु भामह का विवेचन इतना व्यवस्थित और पूर्ण है कि उसको अलंकार शास्त्र का एक साथ पहला ग्रन्थ मान लेना उचित नहीं प्रतीत होता—अलंकार की परम्परा भी रस-परम्परा की तरह एक क्रमिक विकास का ही परिणाम हो सकती है। और भामह ने स्वयं भी अपने पूर्ववर्ती मेधाविन् आदि का सादर उल्लेख किया है। अनुमानतः अलंकार-परम्परा का विकास धीरे-धीरे तभी से हो रहा था जब से पंडितों ने भाषा की सूक्ष्म परीक्षा आरम्भ कर दी थी—मेधाविन् इसी विकास-पथ का कोई प्रमुख मार्ग-चिह्न था।

मेधाविन् केवल नामशेष है—अतएव उन्होंने कितने अलंकारों का विवेचन किया है, यह अज्ञात है। भरत ने प्रसंगवश केवल चार अलंकारों का उल्लेख किया है—उपमा, रूपक, दीपक और यमक। यह तो सर्वथा स्पष्ट ही है कि भरत ने अलंकारों को वाचिक अभिनय का एक साधारण अंग ही माना है। नाट्यशास्त्र के बाद दूसरा ग्रन्थ भट्टिकाव्य है जिसके दशम सर्ग में यमक और अनुप्रास सहित ३८ अलंकारों का उल्लेख है। भामह ने भी अलंकारों की संख्या ३८ मानी है और वक्रोक्ति को उन सब का प्राण माना है। उन्होंने अलकार को ही काव्य का प्रधान अंग माना है और इसका प्रमाण यह है कि उन्होंने रस और भाव का स्वतन्त्र

अस्तित्व न मानकर उनका रसवत् ऊर्जस्वित आदि अलंकारों मे ही अंतर्भाव किया है। इस प्रकार उनके अनुसार काव्य का प्राण है अलंकार और अलंकार का प्राण है वक्रोक्ति :—

सैवा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते,
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना।
(काव्यालंकार)

इसी दृष्टि से सूक्ष्म, हेतु और लेश को उन्होंने अलंकार-सीमा से वहिष्कृत कर दिया है।

वक्रोक्ति का अर्थ है शब्द और अर्थ की विचित्रता। इस प्रकार भामह के अनुसार अलंकार शब्द और अर्थ के वैचित्र्य का नाम है।

वक्राभिधेय-शब्दोक्तिरिष्टावाचामलंकृतिः।
[ काव्यालंकार ] १–३७

भामह के उपरान्त दण्डी ने अलंकार के विवेचन को और स्पष्ट तथा समृद्ध किया। उन्होंने काव्य को अलंकार का शोभाकर धर्म माना—अर्थात् उन्होने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि काव्य की शोभा सर्वथा अलंकार के आश्रित है अतएव अलंकार काव्य का शाश्वत धर्म है। दंडी ने उनकी संख्या ३५ मानी है, भामह के कुछ अलंकार भेदों को, जैसे उपमेयोपमा, प्रतिवस्तूपमा, उपमारूपक उत्प्रेक्षावयव आदि को उन्होने छोड़ दिया है। इसके विपरीत लेश, सूक्ष्म और हेतु को जिन्हें भामह ने वक्रोक्ति के अभाव मे अलंकार की पदवी नही दी थी, दंडी ने स्वीकृत किया है और साथ ही यमक चित्रबंध और प्रहेलिका आदि का विस्तृत विवेचन करते हुए शब्दालंकार को अपेक्षाकृत अधिक महत्व तथा विस्तार दिया है। दंडी ने भामह की वक्रोक्ति के स्थान पर अतिशय को अलंकार की आत्मा माना है।

अलंकारान्तराणामप्येकमाहु परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमातिशयाह्वयाम्।
[ काव्यादर्श २।२ ]

परन्तु वास्तव में दोनो के आशय मे केवल शब्द-भेद है—वक्रोक्ति से भामह का तात्पर्य भी अतिशय उक्ति का ही है जैसा कि परवर्ती आचार्यों ने स्पष्ट किया है 'एवं चातिशयोक्तिरिति वक्रोक्तिरिति पर्याय इति बोध्यम्'—और दोनो का अर्थ है लोकोत्तर चमत्कार 'लोकोत्तरेण चैवातिशयः....अनया अतिशयोक्त्या विचित्रया भाव्यते [लोचन अभिनवगुप्त]। भामह की अपेक्षा दंडी की दृष्टि अधिक उदार है। उन्होंने अलंकार के समकक्ष ही गुण और रीति का भी प्रतिष्ठान किया है। दंडी

के परवर्ती आचार्य उद्भट ने अलकार सम्प्रदाय की और भी अधिक श्रीवृद्धि की। उद्भट ने यद्यपि लक्षण निरूपण आदि मे भामह का ही अनुसरण किया हैं। 'भामह-विवरण' नाम से उसने भामह के सिद्धान्तो की व्याख्या भी की है परन्तु उसका विवेचन इतना सूक्ष्म और समृद्ध है कि उसने भामह को एक प्रकार से आच्छादित कर लिया है। सभी परवर्ती अलंकारिको ने मुक्तकंठ से उद्भट की महत्ता को स्वीकार किया है। सक्षेप मे उद्भट का आभार इस प्रकार है।

१. उद्भट ने दृष्टान्त, काव्यलिंग और पुनरुक्तवदाभास की सर्वथा नवीन उद्भावना की—अनुप्रास के प्रभेदो मे वृद्धि की—और इस प्रकार अलंकारों की संख्या को ३८ से ४१ तक पहुंचा दिया।

२. श्लेप के उसने दो भेद किये—१. शब्द-श्लेष, २. अर्थ-श्लेष और दोनो को अर्थालंकार माना। बाद मे मम्मट आदि ने इसका निषेध किया हैं।

३. व्याकरण के आश्रय से उपमा के अनेक प्रभेद, जिनका काव्य-प्रकाश मे वर्णन है, सब से पूर्व उद्भट ने ही किये।

[ काणे-कृत साहित्यदर्पण की भूमिका ]

अलंकार सम्प्रदाय का सर्व-प्रमुख आचार्य था रुद्रट। यद्यपि रुद्रट की दृष्टि अत्यन्त व्यापक एवं उदार थी और यद्यपि उसने इसकी महत्ता स्वीकार करते हुए अपने समकालीन सम्प्रदायो का समन्वय भी किया, फिर भी अलंकार-शास्त्र ही विशेष रूप मे उसका ऋणी रहेगा। रुद्रट ने एक तो अलंकारो के सूक्ष्म भेद-प्रभेदो का स्पष्टीकरण कर उनकी संख्या का विस्तार ५० से ऊपर कर दिया, दूसरे वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष के आधार पर उनका वैज्ञानिक वर्गीकरण किया। रुद्रट का यह वर्गीकरण सर्वथा मान्य न होते हुए भी अलंकार-शास्त्र के लिए एक मौलिक देन थी। रस और भाव को अलंकार के अन्तर्गत मानने की जो त्रुटि भामह के समय से बराबर होती आ रही थी उसका संशोधन सब से पूर्व रुद्रट ने ही किया। उसने रसवत् आदि को अलंकार मानने से साफ़ इन्कार कर दिया और इस प्रकार एक बहुत बडे भ्रम का निवारण किया। भामह से लेकर रुद्रट तक अलंकार सम्प्रदाय का सुवर्णकाल रहा। अनेक प्रकार का मतभेद रखते हुए भी ये सभी आचार्य अलंकार को ही प्रधानता देते थे। भामह और दंडी ने गुण और अलंकार मे कोई अन्तर नहीं माना। 'उद्भटादिभिस्तु गु लंकाराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम्। तदेवमलंकारा एक काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्।' रुद्रट के उपरान्त ध्वनि-सम्प्रदाय का उदय हुआ, जिसने ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हुए अलंकार को निम्नतर स्थान दिया। जिस काव्य मे शब्द-चित्र अथवा

वाच्य-चित्ररूप अलंकार ही हो व्यंग्यार्थ न हो वह अधम माना गया। अलंकार रस और ध्वनि का सहायक होकर ही गौरव का अधिकारी हो सकता है, वह न अपने मे स्वतन्त्र है और न काव्य का अनिवार्य अंग ही है। ध्वनि की स्थापना के उपरान्त संस्कृत साहित्य, शास्त्र में क्या, भारतीय साहित्य शास्त्र मे ही यही मत मान्य रहा।

इस मत की पूर्ण प्रतिष्ठा की मम्मट ने। मम्मट ने अलंकार को उचित गौरव दिया। उन्होने काव्य को सालंकार माना, परन्तु फिर भी 'अनलंकृति पुनः क्वापि' कह कर उसकी अनिवार्यता का निषेध किया। मम्मट समन्वयवादी आचार्य थे, उन्होने प्राचीन सभी सिद्धान्तो की सम्यक् परीक्षा करते हुए काव्यपुरुष के रूपक के आधार पर उनका उचित समन्वय किया। उन्होने गुण और अलंकार का भेद स्पष्ट किया। गुणो को काव्य का साक्षात् धर्म माना और अलंकारो को काव्य के अंगभूत शब्द और अर्थ के शोभाकारक धर्म माना।

'उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित,
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।
[ काव्यप्रकाश ]

अलंकार काव्य के अंग अर्थात् शब्दा रूप शरीर की शोभा बढाते हुए काव्य का उपकार करते है—चमत्कृति मे योग देते है। काव्य मे उनका स्थान वही है जो मनुष्य के व्यक्तित्व मे हार आदि आभूषणो का। और स्पष्ट रूप मे—'शब्द अर्थ काव्य के शरीर है और रसादिक आत्मा है। माधुर्यादि गुण शौर्यादि की भाँति, श्रुतिकटुत्वादि दोष काणत्वादि की तरह, वैदर्भी आदि रीतियाँ अंगरचना की तरह, और उपमादिक अलंकार कटक-कुण्डल आदि के तुल्य होते है।"
[ साहित्य-दर्पण-विमला टीका ]

अर्थात् अलंकार काव्य के अस्थिर धर्म है।

अलंकार के विवेचन मे मम्मट ने भामह, दंडी, उद्भट, रुद्रट आदि पूर्वाचार्यों के मतो को परीक्षा करते हुए, अनेक परिवर्तन और परिशोधन किये। अलंकारो की संख्या अब ७० हो गई। ८ शब्दालंकार और ६२ अर्थालंकार। "इनमे अतद्गुण, मालादीपक, विनोक्ति, सामान्य और सम, ये पॉच अलंकार नवीन है। और सम्भवतः श्री मम्मट द्वारा आविष्कृत हैं।"

मम्मट के उपरान्त रुय्यक ने अलंकार-सर्वस्व की रचना की। रुय्यक ने विचित्र और विकल्प अलंकारो की सृष्टि की, परन्तु उसका प्रमुख कार्य था अलंकारो का वर्गीकरण। रुद्रट के वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष वर्गों को अपर्याप्त

मानते हुए उसने निम्नलिखित वर्गों की उद्भावना की—सादृश्य-गर्भ, विरोध-गर्भ, श्रृङ्खलाबद्ध, न्यायमूल, गूढार्थप्रतीतिमूल और संकर। स्वभावोक्ति, भाविक और उदात्त को किसी वर्ग मे न रखकर स्वतन्त्र माना। परवर्ती आचार्यों ने अलंकार शास्त्र मे कोई विशेष योग नहीं दिया। इसमें सन्देह नही कि जयदेव, विद्याधर, अप्पय दीक्षित आदि पंडितो ने एक बार फिर अलंकार-सम्प्रदाय का पुनरुत्थान करने का भरसक . यत्न किया।

अङ्गीकरोति यः काव्य शब्दार्थावनलंकृती,
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती।

[ चन्द्रालोक ]

की आह्वान-ध्वनि के साथ अलंकार का जयघोष किया गया, परन्तु रस और ध्वनि की नीव इतनी गहरी जम गई थी कि वह फिर न हिल सकी। इसके उपरान्त अलंकार-परम्परा हिन्दी के रीति-कवियो के हाथ मे चली गई। हिन्दी में भी यद्यपि आचार्य केशवदास ने कविता और वनिता के लिए अलंकार को अनिवार्य माना तथा अन्य कवियो ने भी अपने लक्षण-ग्रन्थो में चन्द्रालोक आदि की शैली का अनुसरण किया, परन्तु प्राधान्य रस का ही रहा।

अलंकार की परिभाषा और धर्म :—अलंकार की व्युत्पत्ति वैयाकरण दो प्रकार से करते हैं—अलंकरोतीति अलंकारः अर्थात् जो सुशोभित करता है वह अलंकार है, अथवा अलंक्रियतेऽनेनेत्यलंकारः अर्थात् जिसके द्वारा किसी की शोभा होती है, वह अलंकार है। साधारणतः दोनो का आशय एक ही है, परन्तु पहले अर्थ में अलंकार कर्त्ता या विधायक है, दूसरे मे करण—साधन हैं। वास्तव मे अलंकार के विकास मे ये दोनो व्युत्पत्ति अर्थ अपना महत्व रखते हैं—व्युत्पत्ति अर्थ मे यह अंतर इस बात का द्योतन करता है कि अलंकार किस प्रकार काव्य के विधायक पद से स्खलित होकर साधन मात्र रह गया। अलंकार के सर्वमान्य अर्थ को दृष्टि मे रखते हुए दूसरी व्युत्पत्ति ही अधिक संगत है—जिसके अनुसार अलंकार काव्य की शोभा का साधनमात्र हैं।

संस्कृत साहित्य-शास्त्र मे अलंकार की दो प्रतिनिधि परिभाषायें हैं—पहली है अलंकारवादी दण्डी की। इसके अनुसार 'काव्य-शोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते'—अलंकार काव्य की शोभा करने वाले धर्म हैं। इससे दो परिणाम निकलते हैं।

(१) अलकार काव्य के धर्म—अर्थात् सहज गुण हैं।

(२) काव्य की शोभा अथवा सौंदर्य अलंकारों पर ही निर्भर है।

उपर्युक्त परिभाषा अलंकार–सम्प्रदाय का सिद्धान्त-वाक्य रही। परन्तु बाद मे जब ध्वनिकार द्वारा ध्वनि और रस की स्थापना स्थिर रूप से हो गई, अलंकार की परिभाषा भी बदल गई। रसवादी विश्वनाथ के शब्दों में:—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥१॥

·(साहित्यदर्पण)

'शोभा को अतिशयित करने वाले, रसभाव आदि के उपकारक, जो शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म हैं, वे अंगद [बाजूबंद] आदि की तरह अलंकार कहाते हैं।' इससे निम्नलिखित परिणाम निकलते हैं—

(१) अलकार काव्य के सहज एवं अनिवार्य गुण नहीं है। केवल अस्थिर धर्म हैं, अर्थात् कभी वर्तमान रहते हैं, कभी नही।

(२) काव्य की शोभा (सौंदर्य) अलंकार पर निर्भर नही है। सत्काव्य में अलंकार जहां वर्तमान भी रहता है, वहां शोभा की सृष्टि नही करता केवल वृद्धि ही करता है।

(३) काव्य का सौन्दर्य है रस, अलंकार का गौरव उसी का उपकार करने मे है। अर्थात् सत्काव्य मे अलंकार का स्वतन्त्र अस्तित्व भी मान्य नही है।

उक्ति के चमत्कार का नाम अलंकार है इसमे तो किसी को भी विरोध नही है, परन्तु आगे दो प्रश्न उठते हैं—

(१) क्या प्रत्येक उक्ति-चमत्कार काव्य है?

(२) क्या काव्य मे उक्ति-चमत्कार अनिवार्य है? अर्थात् क्या प्रत्येक काव्योक्ति मे चमत्कार अनिवार्यतः वर्तमान रहता है?

अलंकार और रस सम्प्रदाय के बीच जो द्वन्द्व रहा वह इन्हीं प्रश्नों पर अवलम्बित था। अलंकार-सम्प्रदाय दोनो का उत्तर--'हाँ' मे देता था, रस-सम्प्रदाय 'नहीं मे' अर्थात् अलंकार-सम्प्रदाय का मत था कि प्रत्येक चमत्कारपूर्ण उक्ति काव्य पद की अधिकारिणी है, और प्रत्येक काव्योक्ति मे चमत्कार अनिवार्यतः वर्तमान होना चाहिये; इसके विरुद्ध रस-सम्प्रदाय का कहना था कि न तो प्रत्येक चमत्कृत उक्ति ही काव्य हो सकती है, और न प्रत्येक काव्योक्ति मे ही चमत्कार अनिवार्यतः वर्तमान रहता है।

इन प्रश्नों को एक एक करके लीजिये । क्या प्रत्येक चमत्कार-पूर्ण उक्ति काव्य है ? इसका उत्तर देने के लिये पहले चमत्कार का आशय स्पष्ट करना चाहिये। चमत्कार की मूल वृत्ति है कौतूहल । किसी असामान्य वस्तु को देख कर अथवा असाधारण उक्ति को सुनकर हमारी कौतूहल वृत्ति जागृत होकर तृप्त होती है । काव्य मे असाधारणता होती अवश्य है, परन्तु काव्य की मूल वृत्ति कौतूहल नही है। काव्य का आनन्द वासनाओं की उद्बुद्धि दूसरे शब्दो में भावों की झंकृति से सम्बन्ध रखता है । इसमे सन्देह नहीं कि उसके सारभूत प्रभाव मे कवि की लोकोत्तर प्रतिभा के प्रति कौतूहल एवं विस्मय का भाव भी मिश्रित रहता है, परन्तु वह सर्वथा गौण है, और रसानुभूति के समय उसकी पृथक् सत्ता नही होती । अतएव काव्य के लिए वह चमत्कार जो केवल हमारी कौतूहलं वृत्ति को शान्त करता है, किसी प्रकार भी अनिवार्य नहीं हो सकता। काव्य का चमत्कार ( जिसकी आचार्यों ने चर्चा की है । ) जिसके लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रमणीयता की संज्ञा अधिक उपयुक्त समझी है, वास्तव मे हमारे कौतूहल या विस्मय को नही जगाता । वह हमारी भाव-वृत्तियों को ही जगाता है । इसलिए वह भाव की रमणीयता के ही आश्रित है, दूर की सूझ या बुद्धि के व्यापारो के नही । वह सहानुभूति या सह-जानुभूति-जन्य है, विस्मय-जन्य नहीं है । इसलिए वही चमत्कारपूर्ण उक्ति काव्य हो सकती है, जिसका चमत्कार भाव की रमणीयता, कोमलता, सूक्ष्मता, अथवा तीव्रता के आश्रित हो । ऐसी उक्ति जिसका चमत्कार बौद्धिक ग्रन्थियो के सुलझाने से सम्बन्ध रखता है, या केवल कल्पना-विधान के आश्रित है, काव्य पद की अधिकारिणी कभी नहीं हो सकती। यही कारण है कि चित्र-काव्य अथवा प्रहेलिका आदि को जिनमे भाव की रमणीयता का सर्वथा अभाव रहता है प्राचीन आचार्यों ने भी काव्य की कोटि से बहिष्कृत कर दिया है। अतएव यह तो स्पष्ट है कि जहां चमत्कार भाव के आश्रित न होकर कोरे बौद्धिक-विधान के आश्रित रहता है अर्थात् श्रोता के मन मे हल्की से हल्की भी भाव-तरङ्ग नही उत्पन्न करता, वहां हमारे हृदय में लेखक के बुद्धि-विधान के प्रति आश्चर्य और विस्मय की भावना तो जग सकती है, इसके अतिरिक्त किसी गूढ समस्या के सुलझ जाने से या बौद्धिक-ग्रन्थि के खुल जाने से जो एक प्रकार का बौद्धिक-आनन्द मिलता है, उसका भी अनुभव हो सकता है, परन्तु काव्यानुभूति सम्भव नहीं हैं। सभी प्रकार का चमत्कार काव्यानन्द नही दे सकता । जिसमे भाव का योग है वही काव्यानन्द दे सकता है। जिसमे भाव का योग नही, जो बौद्धिक-विधान मात्र है, वह बौद्धिक आनन्द ही देगा । उसमें ऐन्द्रियता का रस नही होगा ।

अब दूसरा प्रश्न लीजिये। क्या काव्य अनिवार्यतः उक्ति चमत्कार के ही

आश्रित है ? ध्वनि और रस-वादियों ने तो इसका असंदिग्ध शब्दों में विरोध किया है। अलंकार के समर्थ पृष्ठपोषक मम्मट ने भी स्पष्ट रूप में 'अनलंकृती पुनः च क्वापि' कह दिया है। विश्वनाथ आदि ने अलंकारों को शोभातिशायी एवं अस्थिर धर्म कहा है। परन्तु इसके विपरीत भामह और कुंतक ने वक्रता को काव्य के लिए अनिवार्य माना है। वक्रता से उनका तात्पर्य है लोकाक्रांतगोचरता या वैदग्ध्य-भंगी-भणिति का अर्थात् अभिव्यक्ति की असाधारणता या अनूठेपन का। वास्तव में ये दोनों सिद्धांत ही अपने अपने ढंग से ठीक हैं। रसवादियों का यह सिद्धांत कि रमणीयता मूलतः भाव के आश्रित है सर्वथा निर्भ्रान्त है, परन्तु भाव की रमणीयता, कोमलता, सूक्ष्मता, अथवा तीव्रता सर्वथा साधारण शब्दों द्वारा—बिना किसी प्रकार की वक्रता के—व्यक्त की जा सके, यह सम्भव नहीं। भाव के सौन्दर्य से उक्ति के सौंदर्य मे चमक आप से आप आ जायेगी। मनोवैज्ञानिक शब्दावली में कहें तो यह कह सकते है कि भाव का सौंदर्य और उक्ति का सौन्दर्य दो सर्वथा भिन्न तत्व नहीं है। अनुभूति और अभिव्यक्ति में निश्चित पार्थक्य नहीं किया जा सकता। इसलिये काव्य की आत्मा भाव की रमणीयता अवश्य है, परन्तु इस रमणीय आत्मा का आधार-शरीर भी अनिवार्यतः रमणीय ही होगा। अर्थात् काव्य के लिए रमणीय भाव तो अनिवार्य हो है, परन्तु रमणीय उक्ति—वक्र उक्ति भी स्वभावतः अनिवार्य है, क्योंकि भाव की रमणीयता उक्ति की रमणीयता के बिना अकल्पनीय है। परन्तु इसके लिए, हमें अलंकार की परिधि को परिगणित रूढ अलंकारों तक ही सीमित न रख कर सभी प्रकार की वचन-वक्रता अथवा उक्ति-रमणीयता तक विस्तृत करना होगा, लक्षणा और व्यंजना के प्रयोगों को भी उसमें अंतर्भूत करना होगा।

अलंकार और अलंकार्य का भेद :—संस्कृत साहित्य-शास्त्र में रस (भाव), वस्तु और अलंकार तीनों की पृथक् स्थिति मानी गई है। अलंकार रस [भाव] का उपकार करता है—अर्थात् उसको तीव्रतर करता है—और वस्तु के चित्रण में रमणीयता अथवा आकर्षण उत्पन्न करता है।—अतएव रस (भाव) और वस्तु दोनों अलंकार्य हुए और अलंकार उनके अलंकरण का साधन। उदाहरण के लिए यदि हम निम्नलिखित दोहे को लें :—

छिप्यौ छबीलौ मुँह लसै झीने अंचल चीर।
मनहु कलानिधि झलमलै कालिन्दी के तीर॥

(बिहारी-सतसई)

तो 'झीने नील अंचल मे नायिका का मुख अत्यन्त सुन्दर लगता है'—यह तथ्य तो है 'वस्तु', नायक के हृदय मे उसके प्रति जो आकर्षण अथवा अनुराग उत्पन्न हुआ वह है भाव (रस), और 'मानो कालिन्दी के जल मे कलानिधि झलमला

रहा है' यह अप्रस्तुत विधान है उत्प्रेक्षा अलंकार। यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार वस्तु के चित्रण को रमणीय बनाता हुआ—भाव को भी रमणीय बना देता है।

संस्कृत का आचार्य्य अलंकार और अलंकार्य्य का इस प्रकार पृथक् विवेचन करता है, और पश्चिम का प्राचीन अलंकार-शास्त्री भी इससे सहमत है। परन्तु कला और अभिव्यञ्जना के नवीन सिद्धांत इससे मेल नही खाते। क्रोचे और उसके अनुयायी अभिव्यञ्जना-वादियो ने स्पष्ट शब्दो में अलंकार और अलंकार्य्य का अंतर अनर्गल और निराधार माना है—"One can ask oneself how an ornament can be joined to expression. Externally? In that case it must always remain seperate. Internally? In that case either it does not assist expression and mars it; or it does form part of it and is not an ornament but a constituent element of expression indistinguishable from the whole (Expression & Rhetoric-Croce)

"यह पूछा जा सकता है कि उक्ति (अलंकार्य्य) मे अलंकार का किस प्रकार समावेश किया जा सकता है? बाहर से? तब तो फिर वह सदैव ही उक्ति से पृथक् रहेगा। भीतर से? ऐसी दशा मे या तो वह उक्ति का साधक न होकर बाधक हो जायगा, या फिर उसका अंग बनकर अलंकार ही न रह जायगा। तब तो वह उक्ति का ही एक मूल तत्व होकर उससे सर्वथा अभिन्न बन जायगा।" स्पष्ट शब्दो मे इसका आशय यह हुआ कि उक्ति और अलंकार मे भेद नही किया जा सकता है। उदाहरण के लिए उपर्युक्त दोहे मे संस्कृत साहित्य-शास्त्र की दृष्टि से जो वस्तु भाव और अलंकार मे भेद किया गया है, वह क्रोचे और उसके अनुयायियो को स्वीकार नही है। 'झीने अंचल मे नायिका का मुख सुन्दर लगता है' यह एक बात हुई—'झीने अंचल मे नायिका का मुख ऐसा सुन्दर लगता है मानो कालिन्दी के जल मे चन्द्र-बिम्ब झलमला रहा हो' यह दूसरी बात। दोनों उक्तियो की भावनात्मक प्रतिक्रियाये भिन्न हैं। नायिका के इस रूप विशेष को देखकर नायक (या कवि) के हृदय मे सौंदर्य की जो रमणीय चेतना हुई वह एक ही रूप मे व्यक्त की जा सकती थी।—यह चेतना अखण्ड थी, अतएव उसकी अभिव्यक्ति को भी खण्डो मे विभाजित नही किया जा सकता।

गिरा और अर्थ की यह अभिन्नता भारतीय आचार्य को अविज्ञात थी, यह बात नही। वैयाकरणो ने इस प्रसंग को लेकर काफी चर्चा की है। परन्तु तत्त्वरूप मे अभिन्नता मानते हुए भी व्यवहार रूप मे फिर भी हमारे यहां पार्थक्य स्वीकार किया गया है। वास्तव मे इस सिद्धांत का मूल सम्बंध अद्वैत दर्शन से

है। अद्वैतवादी तत्वरूप में प्रकृति और पुरुष की अभिन्नता मानता है। क्रोचे की भी स्थिति अद्वैतवादी से बहुत भिन्न नहीं है—उसने आत्मा की अद्वैत स्थिति की अत्यंत स्पष्ट शब्दों में स्थापना की है। क्रोचे भी मूलतः दार्शनिक ही है। उसने सौंदर्यशास्त्र का विवेचन दार्शनिक सिद्धांतों के ही स्पष्टीकरण के लिए किया है। परन्तु इतना होते हुए भी भारतीय दार्शनिक व्यवहार रूप में प्रकृति और पुरुष में पार्थक्य स्वीकार करता है—'गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।'—और इसी से प्रभावित होकर भारतीय आचार्य वाणी और अर्थ की व्यवहारगत भिन्नता मानता है, परंतु इसके विपरीत क्रोचे किसी भी रूप में उसे स्वीकार नहीं करता।—इन दोनों की सापेक्षिक सत्यता पर यदि विचार किया जाय तो भारतीय आचार्य की ही स्थिति अधिक विश्वस्त है। दोनों में व्यवहारगत भेद न मानने से न केवल समस्त साहित्य-शास्त्र वरन् भाव-शास्त्र और विचार-शास्त्र का भी अस्तित्व लुप्त हो जाता है। विदेश के साहित्य-मनीषी भी प्रायः इसी के पक्ष में हैं कि तत्त्व दृष्टि से अलंकार और अलंकार्य में अभेद होते हुए भी व्यवहार दृष्टि से दोनों मे भेद मानना अनिवार्य है।

अलंकारों का मनोवैज्ञानिक आधार :—अलंकारों का आधार खोजने की चेष्टा संस्कृत साहित्य-शास्त्र मे आरम्भ से ही मिलती है। आरम्भ में ही भामह ने वक्रोक्ति को, दण्डी ने उसी की समानार्थक अतिशयोक्ति को और वामन ने औपम्य को समस्त अलंकारों का प्राण मानते हुए—उनके मूलाधार का सफल निर्देश किया है। इनके अतिरिक्त दण्डी ने एक स्थान पर श्लेष की ओर भी संकेत किया है। "श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायः वक्रोक्तिषु श्रियम्।" (१) ॐ उनके उपरांत दूसरा महत्वपूर्ण प्रयत्न रुद्रट का है जिसने वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष के आधार पर अलंकारों का वर्ग-विभाजन किया। वास्तव श्रेणी मे २३ अलंकार रखे गये हैं जिनमें वस्तु के वास्तव स्वरूप का कथन होता है; औपम्य श्रेणी मे २१ अलंकार हैं जिनका आधार सादृश्य है; अतिशय के अंतर्गत १२ अलंकार हैं जिनमे प्रसिद्धि-बाधा के कारण विपर्यय—अथवा अतिलोकता का प्राधान्य होता है; श्लेष के अंतर्गत अनेकार्थता के चमत्कार पर अवलम्बित अलंकारों की गणना है। रुद्रट के उपरान्त रुय्यक ने औपम्य, विरोध, शृङ्खला, न्याय, गूढार्थ-प्रतिपत्ति और संकर अथवा संसृष्टि

ॐ१—बाद में अभिनवगुप्त ने भी आनन्दवर्धन के समकालीन मनोरथ के इस सिद्धान्त—"नैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्य च यत्" के प्रति सहमति प्रकट करते हुए वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का आधार स्वीकार किया है।—"वक्रोक्ति-शून्यशब्देन सर्वालङ्काराभावश्च उक्तः।"

के आधार पर अलंकारों को छः वर्गों में विभक्त किया—और बाद में विद्याधर एवं विश्वनाथ ने न्याय को तर्क-न्याय, वाक्य-न्याय, और लोक-न्याय इन तीन अवांतर भेदों मे विभाजित कर रुय्यक के वर्गीकरण को ही लगभग ज्यों का त्यो स्वीकार कर लिया। विद्यानाथ ने अवश्य इस क्रम को थोडा बहुत विकसित करने का प्रयत्न किया। उसने औपम्य अथवा सादृश्य के स्थान पर साधर्म्य शब्द को अधिक उपयुक्त माना, और—अध्यवसान एवं—विशेषण-वैचित्र्य, ये दो नवीन आधार और आविष्कृत किये।–(२) वास्तव में जैसा कि डाक्टर डे ने कहा है, उपर्युक्त कोई भी वर्गीकरण सर्वथा संगत नहीं है। साधर्म्य और अतिशय का आधार यदि मनोवैज्ञानिक है, तो वाक्य-न्याय आदि का आधार सर्वथा काव्य के बाह्य रूप पर आश्रित है।-- इसका मुख्य कारण यह है कि स्वयं अलंकारों का स्वरूप-निरूपण ही किसी निश्चित आधार को लेकर नही चला है। उनका अधिकार शैली की सीमा को लांघ कर वस्तु तक ही नहीं वरन् न्याय, दर्शन, वाणी और क्रिया तक फैल गया है। योरोप के आचार्यों ने भी अलंकारों का वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया है-- उन्होंने छः आधार माने हैं; साधर्म्य, सम्बंध, अंतर, कल्पना, वक्रता, और ध्वनि (नाद)। उपमा, रूपक, अन्योक्ति आदि को उन्होंने साधर्म्य के आश्रित माना है, अतिशयोक्ति को कल्पना के आश्रित, विरोधाभास को वक्रता के, सार को अन्तर के, और यमक अनुप्रास आदि को ध्वनि (नाद) के आश्रित। परंतु संस्कृत के वर्गीकरण की भांति यह भी अपूर्ण ही है... उदाहरण के लिए अतिशयोक्ति को कल्पना के आश्रित

---

२—इधर आधुनिक युग में भी कुछ विद्वानो ने इस ओर रुचि प्रदर्शित की है सुब्रह्मण्य शर्मा ने अलकारों को आठ भागों मे विभक्त किया है—१. औपम्य-मूलक २. विरोध-मूलक, ३. कार्यकारण-सिद्धान्त-मूलक, ४. न्यायमूलक, ५. अपन्हव-मूलक, ६. शृङ्खला-वैचित्र्य-मूलक, ७. विशेषण-वैचित्र्य-मूलक, और ८. कवि-समय-मूलक।—यह वास्तव में रुय्यक के विभाजन का रूपान्तर-मात्र है—परन्तु इसको उससे अधिक सगत नहीं माना जा सकता क्योंकि अपन्हव-मूलक, विशेषण-वैचित्र्य-मूलक और कवि समय-मूलक वर्ग किसी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक आधार पर स्थित नहीं हैं, वाह्य और स्थूल सामान्यता पर ही आश्रित हैं। दूसरा व्रजरत्न जी का वर्गीकरण है। उन्होंने रुय्यक के औपम्य, विरोध, शृंखला और न्याय को तो ज्यों का त्यों स्वीकार किया है, परन्तु गूढार्थ-प्रतिपत्ति को स्वतन्त्र नही माना। उसके स्थान पर एक नवीन वर्ग वस्तु-मूलक अलंकारो का मान लिया है, जिसके अन्तर्गत उन सभी अलकारो को जो कि उपर्युक्त चार वर्गों मे नहीं आते, रख दिया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह नवीनता किसी प्रकार भी अपनी उद्भावना को सार्थक नहीं करती।

मानना अत्यंत विचित्र लगता है; क्योंकि कल्पना के आश्रित तो सभी अलंकार हैं, इसी प्रकार यमक भी सर्वथा ध्वनि (नाद) के आश्रित नहीं है।

स्वभावतः ही मनोविज्ञान के प्रकाश में साहित्य का अध्ययन करने वाले आज के आलोचक का इनसे परितोष होना कठिन है।—अस्तु !

अलंकार की मूल प्रेरणा क्या है? अर्थात् हमारी वाणी किस कारण अलंकृत हो जाती है? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है—भावोद्दीपन से। जब हमारी भावना उद्दीप्त हो जायगी, तो हमारी वाणी भी आप से आप उद्दीप्त हो जाएगी। भावना के उद्दीपन का मूल कारण है मन का ओज, जो मन को उद्दीप्त करता हुआ वाणी को भी उद्दीप्त कर देता है। मन के ओज का सहज माध्यम है आवेग और वाणी के ओज का सहज माध्यम है अतिशयोक्ति। इसी प्रश्न को दूसरे प्रकार भी हल किया जा सकता है। हमारे अलंकार-प्रेम की प्रेरक प्रवृत्ति है आत्म-प्रदर्शन और, और प्रदर्शन में अतिशय का तत्व अनिवार्यतः होता है। इस प्रकार अलंकृत वाणी-स्पष्ट शब्दों में—अलंकार का मूल रूप अतिशयोक्ति ठहरती है। अतिशयोक्ति का अर्थ है असाधारण उक्ति। वास्तव में जैसा कि अभिनव के उद्धरण से स्पष्ट है—भामह ने वक्रता की और दण्डी ने अतिशय की बहुत कुछ एक से ही शब्दों में परिभाषा की है। दोनों का तात्पर्य लोकाक्रान्तगोचरता से ही है; इसलिए अतिशयोक्ति अथवा वक्रोक्ति किसी को भी अलंकार-सर्वस्व माना जा सकता है।

यह तो मूल-प्रेरणा की बात हुई। व्यावहारिक धरातल पर आकर भी हम अलंकारों के कुछ अपेक्षाकृत मूर्त्त आधार निर्धारित कर सकते हैं। यहाँ भी यदि वही प्रश्न फिर उठाता जाए कि हम अलंकार का प्रयोग किस लिए करते है—तो व्यवहार-तल पर भी उसका एक ही स्पष्ट उत्तर है: उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए। ऐसा करने के लिए हम सदृश लोकमान्य वस्तुओं से तुलना के द्वारा अपने कथन को स्पष्ट बनाकर उसे श्रोता के मन में अच्छी तरह बैठाते है, बात को बढाचढा कर उसके मन का विस्तार करते हैं, बाह्य वैषम्य आदि का नियोजन कर उसमें आश्चर्य की उद्भावना करते है, अनुक्रम अथवा औचित्य की प्रतिष्ठा कर उसकी वृत्तियों को अन्वित करते है, बात को घुमा फिराकर वक्रता के साथ कहकर उसकी जिज्ञासा उद्दीप्त करते हैं, अथवा बुद्धि की करामात दिखाकर उसके मन मे कौतूहल उत्पन्न करते हैं।—अलंकारों के ये ही मनोवैज्ञानिक आधार है, स्पष्टता, विस्तार, आश्चर्य, अन्विति, जिज्ञासा और कौतूहल।—इनके मूर्त्त रूप हैं—साधर्म्य, अतिशय, वैषम्य, औचित्य, वक्रता और चमत्कार (बौद्धिक)। उपमा और रूपक से लेकर दृष्टान्त, और अर्थान्तरन्यास जैसे अलंकार साधर्म्य-मूलक है; अतिशयोक्ति के विभिन्न भेदों से लेकर सार, उदात्त, जैसे अलंकार अतिशय-मूलक,

विरोध, विभावना, असंगति से लेकर व्याघात, आक्षेप जैसे अलंकार वैषम्य-मूलक ; यथासंख्य, कारणमाला, एकावली से लेकर स्वाभावोक्ति जैसे अलंकार औचित्य-मूलक हैं; पर्याय, व्याजस्तुति, अप्रस्तुतप्रशंसा से लेकर, सूक्ष्म, पिहित आदि अलंकार वक्रता-मूलक हैं, और श्लेष, यमक से लेकर मुद्रा और चित्र जैसे अलंकार चमत्कार-मूलक हैं। उपर्युक्त विभाजन में अतिशय, वक्रता और चमत्कार ये तीन ऐसे आधार हैं जो वास्तव मे अपने व्यापक रूप मे समस्त अलंकारो के मूलवर्ती हैं—परन्तु यहाँ इनका प्रयोग संकीर्ण और विशिष्ट अर्थ मे किया है—अतिशय का लम्बी-चौड़ी बात करने के अर्थ में, वक्रता का बात को घुमा-फिरा कर कहने के अर्थ में—और चमत्कार का बुद्धि-कौतुक के अर्थ मे।

भारतीय और यूरोपीय अलंकार-शास्त्र—यूरोप मे काव्य के अन्य अंगों की भाँति अलंकार-शास्त्र का जन्म भी यूनान मे ही हुआ। यूनानी भाषा मे जिस र्हैटरिक शब्द का प्रयोग होता है उसका वास्तविक अर्थ है भाषण अथवा वक्तृत्व-कला और आरम्भ मे इसका उपयोग इसी अर्थ मे होता भी था। श्रोता को प्रभावित अथवा अपने मत मे करने के लिए जिन विधियों का उपयोग किया जाता था वे सभी अलंकार कहलाती थी। अरस्तू ने इसे भाषा-शास्त्र की अपेक्षा तर्कशास्त्र से अधिक सम्बद्ध माना है। धीरे-धीरे मौखिक भाषण से अलंकार का क्षेत्र विस्तृत हो गया, और मौखिक भाषण से लिखित भाषा पर भी उसका अधिकार होगया।

योरोपीय अलंकार तीन वर्गों मे विभक्त है—१—शब्द-विन्यास-सम्बन्धी, वाक्य-विन्यास-सम्बन्धी, ३ – अर्थ-विन्यास-सम्बन्धी। इनमे शब्दविन्यास-सम्बन्धी अलंकारों को संस्कृत के आचार्यों ने व्याकरण के ही अन्तर्गत माना है—व्याकरण मे ही उपसर्ग-प्रत्यय वर्ण-विपर्यय आदि का विवेचन मिलता है। वाक्य-रचना सम्बन्धी कुछ एक, और अर्थ-सौष्ठव सम्बन्धी अनेक अलंकार संस्कृत अलंकारो के समानान्तर हैं। इसका कारण स्पष्ट है कि अलंकार केवल शैली के बाह्य उपकरण नही है—उनका आधार मानव मनोविज्ञान है, इसीलिए, यूनानी, अरबी, संस्कृत सभी भाषाओ के प्रधान अलंकार समान है। साधर्म्य-मूलक अलंकारो मे अंग्रेजी के सिमिली, मैटाफर, हमारी उपमा और रूपक के पर्याय ही है—फ़ेबिल, पैरेबिल और ऐलीगरी वास्तव मे शुद्ध अलंकार नहीं है, फिर भी इनको अन्योक्ति और रूपक के रूपांतर माना जा सकता है। वैषम्य-मूलक आक्सीमारन तो स्पष्ट रूप से विरोध ही है। इसी प्रकार अतिशय-मूलक अलंकारो के अन्तर्गत हायपरबोल और अतिशयोक्ति मे, तथा सार और क्लाइमैक्स मे कोई अन्तर नही है, वक्रता पर आश्रित यूफ्यूमिज्म पर्याय का ही एक रूप है, इनुऐन्डो गूढोक्ति से बहुत भिन्न नही हैं, आयरनी काकु का पर्याय है, और चमत्कार-प्राण अलंकारो मे पन, श्लेष और यमक का समकक्ष है।

वाक्य-विन्यास वास्तव मे भाषा की रचना का बाह्य उपादान हैं, अतएव इससे सम्बद्ध अलंकारो मे साम्य साधारणतः सम्भव नही है, फिर भी ज़्यूग्मा और दीपक की समानता दर्शनीय है।

भारतीय और यूरोपीय अलंकार-शास्त्र में मुख्य अंतर यह है कि यहाँ शब्द शक्तियो का अलंकार से पृथक विवेचन मिलता हैं वहां अलंकार में ही लक्षणा और व्यञ्जना को अंतर्भूत कर लिया गया है। वैसे तो संस्कृत के भी अनेक अलंकारो मे लक्षणा का आधार है—रूपक, परिकरांकुर और समासोक्ति में तो स्पष्ट रूप से लक्षणा का चमत्कार है—फिर भी भाषा के ऐसे कई लाक्षणिक प्रयोग हैं जिन्हे अंग्रेज़ी मे स्वतन्त्र अलंकार माना गया है, परन्तु संस्कृत में वे केवल शब्द-शक्ति के रूप ही माने गए है, जैसे—मेटोनिमी–जिसमे लिंगी के लिए लिंग, आधेय के लिए आधार, कर्ता के लिए करण का प्रयोग होता है; सिनक्डकी—जिसमें व्यक्ति के लिए जाति, जाति के लिए व्यक्ति, अंग के लिए अंगी, अंगी के लिए अंग, मूर्त्त के लिए अमूर्त्त और अमूर्त्त के लिए मूर्त्त प्रयुक्त होता है; हाइपैलेज—जिसमें विशेषण का विपर्यय हो जाता है, या परसोनीफिकेशन जिसमे जड़ वस्तुओं का अथवा गुणो का मानवीकरण कर दिया जाता है। वास्तव मे ये चारों न केवल स्वतन्त्र अलंकार के गौरव के ही अधिकारी हैं–वरन् इन्हे प्रधान अलंकार स्वीकार करने मे भी आपत्ति नही होनी चाहिये। संस्कृत मे जहाँ अनेक साधारण चमत्कार-मूलक अलकारो की बाल की खाल निकाली गई है, वहाँ लक्षणा-मूलक इन महत्त्व-पूर्ण अलंकारो का अभाव आश्चर्य की ही बात है। इसी प्रकार विदेश में व्यंग्य को अलंकार माना है, परन्तु हमारे यहाँ उसे भी शब्द-शक्ति का धर्म माना है–यद्यपि हमारे पर्यायोक्ति, व्याजोक्ति, व्याजस्तुति, गूढोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि सभी व्यञ्जना के ही आश्रित हैं–शब्दो की खीचा-तानी से उनको अन्यथा प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

कुल मिलाकर अंग्रेज़ी के अलंकारो की संख्या—वाक्य और शब्द-विन्यास से सम्बद्ध अलंकारो को मिलाकर भी—संस्कृत की अपेक्षा बहुत कम है। इसके अतिरिक्त इनमे सभी अलंकार वास्तव मे शुद्ध नही कहे जा सकते–शब्द और वाक्य-विन्यास के आश्रित अलंकार तो अधिकांशतः व्याकरण के प्रयोग हैं ही, अर्थ-विन्यास से सम्बद्ध ऐपीग्राम, फेबिल आदि भी स्वतन्त्र अलंकार नही है। वास्तव मे यूरोप मे अलंकार-शास्त्र का इतना सूक्ष्म विवेचन नही हुआ जितना कि हमारे यहाँ, और वैसे प्रकृति से भी वर्ग-विभाजन मे भारतीय आचार्यों को पराजित करना विदेश के पण्डितों के लिए सम्भव नहीं था। जैसा कि आज से बहुत पूर्व युग-चेता आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने कहा था—'भारती को कुछ नवीन भूषणों से अलंकृत

करने में हमें संकोच नहीं करना चाहिये।' 'फिर क्या कारण कि बेचारी भारती के जेवर वही, भरत, कालिदास, भोज इत्यादि के ज़माने के ज्यों के त्यों बने हुए हैं? भारती को क्या नवीनता पसन्द नहीं? न हो तो न सही। हो तो केडिया जी कुछ नये भूषणों की खोज या कल्पना करने की भी कृपा करें। ये पुराने भूषण भाषण के भिन्न-भिन्न ढंग हैं। क्या इनके सिवा बोलने और लिखने में सरसता या चमत्कार उत्पन्न करने के लिए कोई अन्य ढंग हो नहीं सकता।' [भारती-भूषण की प्रस्तावना में उद्धृत पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का एक पत्र]। अलंकारों की वृद्धि से भी अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है उनके परिशोधन का। संस्कृत के अलंकारों में भ्रांतियाँ काफी हैं--वाणी, न्याय, वस्तु और भाव पर आश्रित अलंकार वास्तव में शुद्ध अलंकार नहीं हैं। इसी प्रकार बाल की खाल निकालकर अलंकारों में जो सूक्ष्म अवांतर भेद किये गए हैं उनका समीकरण करना भी श्रेयस्कर होगा। अलंकार भाषण की विधियाँ हैं—अतएव उनके मूल में निश्चित मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ विद्यमान रहती हैं। उन्हीं के प्रकाश में आज अपने अलंकारों की सम्यक् व्याख्या और उसके साथ ही यथास्थान थोड़ा बहुत परिवर्तन और परिशोधन कर हम भारती के इस समृद्ध अंग का उचित उपयोग कर सकते हैं।

रसानुभूति में अलंकार का योग—अब एक प्रश्न शेष रह जाता है 'रसानुभूति में अलंकार किस प्रकार योग देता है?' रस मन की वह अवस्था है जिसमें हमारी मनोवृत्तियाँ अन्वित हो जाती हैं। अतएव रसानुभूति में अलंकार का क्या योग है, इसका परीक्षण करने के लिए हमें यह देखना चाहिये कि अलंकार किस प्रकार हमारी वृत्तियों को अन्वित करने में सहायक होता है। वैसे तो सभी अलंकारों का मूलाधार अतिशय है—जो हमारी वृत्तियों को उद्दीप्त करता हुआ बाद में उन्हें पूर्ण अन्विति के लिए तैयार कर देता है। परन्तु जैसा मैंने अन्यत्र कहा है व्यवहार तल पर अलंकारों के छः स्पष्ट आधार हैं जो अतिशय-गर्भ होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न और अपने में स्वतन्त्र हैं:—साधर्म्य, अतिशय, वैषम्य, औचित्य, वक्रता और चमत्कार। साधर्म्य-मूलक अलंकार द्वारा मुख्यतः हम अपने कथन को स्पष्ट करते हुए श्रोता की मनोवृत्तियों को अन्वित करते हैं—उदाहरण के लिए यदि हम किसी सुन्दरी के मुख को चन्द्रमा की उपमा देते हैं—तो, वास्तव में, मुख को देखकर हमारे मन में जो विशिष्ट भाव उठता है उसका हम एक प्रसिद्ध उपमान की सहायता लेकर साधारणीकरण करते हैं। चन्द्रमा एक प्रसिद्ध सौंदर्यप्रतीक है। उसके दर्शन से मन में कैसा भाव उत्पन्न होता है, इसे हमारे अतिरिक्त अन्य सहृदय व्यक्ति भी पूरी तरह जानते हैं। अतएव हम किसी सुन्दर मुख को चन्द्रमा के समान कहकर अपनी उद्दीप्त भावना को श्रोता के हृदय में बैठाते हैं। इस प्रकार हमारा

उक्ति के प्रभाव को पूर्णतः ग्रहण कर श्रोता की वृत्तियाँ प्रसन्न होकर अन्विति के लिए तैयार हो जाती है। साधर्म्य-मूलक अलंकार मूलतः इसी तरह रसानुभूति में योग देते हैं। अतिशय-मूलक अलंकार हमारे मन के ओज की अभिव्यक्ति के माध्यम होते है। उनमें स्पष्ट रूप से लोकातिशयता तो होती ही है, परन्तु आत्यन्तिक रूप मे संगति भी अनिवार्यतः होती है (जहाँ लोकातिशयता असंगत अथवा अप्राकृतिक होगी वहाँ अलंकार सार्थक नहीं होगा)। अतएव वे अतिशयता के द्वारा पहले मन का विस्तार करते हुए हमारी वृत्तियो को ऊर्जस्वित करते है फिर मूलवर्ती संगति के द्वारा उनमें अन्विति स्थापित करने मे सहायक होते हैं। एक उदाहरण लीजिये—

राघव की चतुरंग चमूचय को गनै 'केशव' राज समाजनि,
सूर तुरंगन के अरुझैं पग तुंग पताकनि की यह साजनि।

राम की सेना के वैभव का कवि के मन पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उसके मन का ओज एक साथ वाणी मे फूट पड़ा। 'तुंग-पताकाओं में सूर्य-तुरंगो के पैर उलझ जाते हैं,' इस उक्ति मे पताकाओं की ऊंचाई की अतिशयता तो स्पष्ट है ही परन्तु उसके आगे उसकी ऊँचाई और सूर्य की ऊँचाई में मूलवर्तिनी भावना की संगति भी है। इसलिए हम जब इस ऊर्जस्वित वाणी को सुनते हैं तो प्रति-संवेदन के द्वारा पहले तो हमारे मन में ओज का संचार हो जाता है जिससे हमारी वृत्तियाँ विस्तृत हो जाती है, फिर मूलवर्तिनी संगति के सहारे वे अन्विति के लिए तैयार हो जाती हैं। विस्तार के उपरांत यह अन्विति स्वभावतः ही अधिक गहरी होती है। वैषम्य-मूलक अलंकारों की रसानुभूति मे योग देने की विधि साधर्म्य-मूलक अलंकारो के बिल्कुल विपरीत है। ये वैषम्य के द्वारा—शब्द-गत अथवा अर्थ-गत निषेध के द्वारा—आश्चर्य-चकित कर, वैषम्य मे अनुस्यूत साम्य की, अर्थात् अनेकता मे एकता की, भावना कराते हुए हमारी वृत्तियों को अन्वित करने मे सहायक होते हैं—

मीठी लगै अँखियान लुनाई।

उपर्युक्त उक्ति मे लुनाई के मीठे लगने मे शब्द-गत वैषम्य अथवा निषेध है—यही वैषम्य पहले तो एक साथ मन मे आश्चर्य पैदाकर हमारी वृत्तियों को विशृङ्खल कर देता है, परन्तु बाह्य वैषम्य होते हुए भी दोनो मे जो आन्तरिक संगति है वह अन्त मे जाकर उद्दीप्त वृत्तियो को अधिक पूर्णता के साथ अन्वित करने मे सहायक होती है।

चौथा वर्ग है औचित्य-मूलक अलंकारो का—औचित्य-मूलक अलंकारों मे तो मूलतः ही एक संगति वर्तमान रहती है जो हमारी वृत्तियो को सीधे रूप मे ही समन्वित होने में सहायता देती है—

'भागीरथी बिगड़ी गति मैं, अरु तू बिगडी गति की है सुधारक।'—यहाँ भक्त 'बिगडी गति' है और भागीरथी 'बिगडी गति की सुधारक' है। इन दो तत्वो मे संगति स्पष्ट है जो हमारी भावनाओं मे सामंजस्य स्थापित करने मे सहायता देती है। इसी प्रकार माला तथा एकावली भावनाओ को शृङ्खलित कर—और काव्य-लिंग आदि भावगत औचित्य स्थापित कर उक्त उद्देश्य की सिद्धि मे योग देते हैं।

वक्रता-मूलक अलंकार यह कार्य जिज्ञासा को उभार कर पूरा करते है। गोपन प्रकाशन से भी सूक्ष्मतर कला है। वक्रता पर आश्रित अलंकार गोपन की सहायता से हमारे मन मे जिज्ञासा उत्पन्न करते है। वे हमारी वृत्तियों की गति को थोडा रोक कर उन्हे तीव्रतर बना देते है—और फिर वास्तविक अर्थ की संगति द्वारा उनकी अन्विति में सहयोग देते है। उदाहरण के लिये एक प्रसिद्ध पर्यायोक्ति लीजिये:—'न स संकुचितः पंथा येन बाली हतो गतः'—"जिस मार्ग से बाली यमपुरी गया था वह मार्ग सकुचित नही हुआ है।" ऐसा कहकर वाल्मीकि यह ध्वनित करना चाहते है कि सुग्रीव यदि प्रमाद करता है तो उसको भी बाली-पथ का पंथी बनना पडेगा। यहां वास्तविक अर्थ के गोपन द्वारा हमारी जिज्ञासा उद्दीप्त की गई है। अब रह जाते है चमत्कार-मूलक अलंकार—इनका चूँकि बुद्धि के व्यायाम से सम्बन्ध अधिक है—और नियोजन भी मुख्यत: मस्तिष्क की क्रियाओ के ही आश्रित है अतएव रसानुभूति मे इनका योग अत्यन्त न्यून और अप्रत्यक्ष होता है फिर भी बुद्धि और भावना मे कोई निश्चित विभाजक रेखा न होने से एक की क्रिया दूसरे को प्रभावित तो करती ही है। इसी प्रक्रिया से ये अलंकार भी हमारे मन मे कौतूहल उत्पन्न कर हमारी वृत्तियो को अधिक जागरूक बना देते है और इस प्रकार अपने ढंग से रसानुभूति मे योग देते हैं:—

'सगुन सलोने रूप की जु न चख तृपा बुझाइ।'

[ बिहारी-सतसई ]

यहाँ सलोना पद श्लिष्ट है—उसके दो अर्थ हैं लावण्ययुक्त और नमकीन। प्रयोग का यह द्वि-अर्थक चमत्कार तो सीधा मन मे कौतूहल उत्पन्न कर रस में सहायक होजाता है। परन्तु प्रायः चमत्कार-मूलक अलंकारो मे बुद्धि की क्रीडा और अधिक होती है, जैसे—

ललन सलोने अरु रहे, अति सनेह सो पागि
तनक कचाई देत दुख सूरन लौं मुँह लागि।

[बिहारी-सतसई]

इस दोहे मे सूरन की उपमा नायक के साथ दी गई है--और सलोने, सनेह, कचाई, मुँह-लागि आदि श्लिष्ट पदो द्वारा उसका निर्वाह किया गया है। "सूरन कच्चा रहने पर मुँह काट लेता है। उसकी किनकिनाहट दूर करने के लिए नमक लगाकर उसका रस निकाल डालते है, और उसे खूब तेल देकर भूँजते है, फिर भी भूँजने मे वह कच्चा रह गया तो मुँह में लग ही जाता है।" इस दोहे का सौंदर्य्य श्लेष के ही आश्रित है—और वास्तव मे अलंकार निर्वाह भी बहुत ख़ूबसूरती के विना किसी खीच-तान के हुआ है, लेकिन फिर भी चूँकि सूरन और नायक मे भावना की अन्विति न होकर केवल बुद्धि की ही अन्विति है, इसलिए रस तक पहुँचने मे देर लगती है—और इसीलिए इसका योग दूरारूढ ही मानना पडेगा। सारांश यह है कि अलंकार अतिशय के चमत्कार द्वारा किसी न किसी प्रकार हमारी वृत्तियो को उद्दीप्त कर उन पर धार रख कर तीव्रतर बना देते हैं। ये उद्दीप्त वृत्तियाँ जब अन्वित होती है तो स्वभावतः ही इनकी अन्विति मे अपेक्षाकृत गहराई आ जाती है—और उसकी सहायता से हमारी रस की अनुभूति में भी तीव्रता एवं गहराई आ जाती है।—इसी रूप मे अलंकार रसानुभूति मे योग देते हैं।

# (३) रीति-सम्प्रदाय

रीति-सम्प्रदाय का संक्षिप्त इतिहास :—रीति-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक थे आचार्य्य वामन । उन्होंने ही सबसे पूर्व रीति शब्द का प्रयोग किया—और उसे काव्य की आत्मा माना—'रीतिरात्मा-काव्यस्य'। परन्तु इस सम्प्रदाय की परम्परा उनसे बहुत पहले से चली आ रही थी। दण्डी ने तो स्पष्ट ही रीति के अर्थ मे मार्ग शब्द का प्रयोग करते हुए वैदर्भ और गौड दो मार्गो का निर्देश किया है। भामह ने भी वैदर्भ और गौड काव्यों के अन्तर का सबल शब्दो में निषेध किया है—जिससे स्पष्ट है कि उनके समय में भी किसी न किसी रूप मे रीति का अस्तित्व था। उधर सातवी शताब्दी के पूर्वार्ध में बाणभट्ट ने भी लिखा है—गौड लोग अपने शब्दाडंबर के लिए कुख्यात थ।' इसके अतिरिक्त गुणो का विवेचन तो—जिनको कि दण्डी और वामन दोनो ने रीति क मूलतत्व माना है—अत्यन्त प्राचीन है। भरत के नाट्य-शास्त्र मे दस गुणो की सम्यक् व्याख्या की गई है।—अतएव यही सिद्ध होता है कि रस, और अलंकार की भाँति रीति की परम्परा भी उनके समानान्तर चल रही थी—जिसको वामन ने एक निश्चित रूपरेखा मे बाँध दिया।

यदि भरत से ही आरम्भ करे, तो हम देखते है कि उन्होने रीति की ओर तो कहीं भी सकेत नही किया परन्तु गुणो का पर्याप्त विवेचन किया है। उन्होने गुणो का स्वतंत्र अस्तित्व न मानकर, उन्हे दोषाभाव माना है—और इस प्रकार दस दोपो के अभाव-रूप गुणो को भी संख्या मे दस माना है।

> श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्य्यमोज. पदसौकुमार्य्यम्।
> अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कांतिश्च काव्यार्थगुणा दशैते॥
>
> [ नाट्य-शास्त्र ]

भरत का गुण-विवेचन यद्यपि स्थान स्थान पर अस्पष्ट और संदिग्ध है, परन्तु फिर भी उनकी अनेक परिभाषाओ को दण्डी और वामन ने ज्यो का त्यो

स्वीकार कर लिया है। इसके अतिरिक्त यद्यपि उन्होंने शब्द और अर्थ-गत गुणों का पृथक् निरूपण नहीं किया लेकिन उन्हें इसका ज्ञान अवश्य था। भरत के उपरांत भामह ने भी रीति को कोई महत्त्व नही दिया। उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का मूलतत्त्व मानते हुए वैदर्भ और गौड काव्यो के भेद को अनर्गल घोषित किया।—भामह मे रीति के लिए काव्य शब्द का प्रयोग मिलता है "वक्रोक्ति हीन वैदर्भ काव्य भी सत्काव्य नही है, और उससे परिपुष्ट गौड काव्य भी सत्काव्य की पदवी का अधिकारी है।" गुणो की भी भामह ने गौण रूप से चर्चा की है—उन्होंने उनकी संख्या केवल तीन मानी है, माधुर्य्य, ओज और प्रसाद। बाद में ध्वनिवादियों ने भामह के तीन गुणो को ही स्वीकार किया। भामह के परवर्ती दण्डी वैसे तो अलंकारवादी थे, परन्तु उन्होने गुणों को अलकारो से अधिक महत्व दिया है। वास्तव में उन्होंने गुणो और अलंकारों मे स्पष्ट भेद नहीं किया है। गुण और अलंकार दोनो ही काव्य को शोभित करने वाले धर्म है—गुण केवल सत्काव्य को ही शोभित करते हैं, अलंकार सत् और असत् दोनो प्रकार के काव्यो मे मिल सकते हैं। वैदर्भ काव्य जिसमे, समस्त गुणो का समावेश रहता है, सत्काव्य है। गौडकाव्य इसके विपरीत है, उसमें गुणो का विपर्यय मिलता है।—'इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः। एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि।' (काव्यादर्श)। दण्डी ने मार्ग और वर्त्मन् शब्द का प्रयोग किया है—उन्होने मार्गों की संख्या दो और गुणों की दस मानी है। गुणो की गणना और नामकरण मे भरत का अनुसरण करते हुए भी, उनकी व्याख्या मे दण्डी ने पृथक् मार्ग का अवलम्बन किया है। उनका कांतिगुण भरत के अर्थव्यक्ति गुण का समानान्तर है, समाधि और माधुर्य्य की परिभाषाएँ भरत से भिन्न है। दण्डी ने भी यद्यपि शब्द और अर्थ-गत गुणों का पार्थक्य नही किया, परन्तु उनके विवेचन से स्पष्ट है कि श्लेष, समता, सुकुमारता और ओजस् शब्द के आश्रित है, प्रसाद, अर्थव्यक्ति, कांति, उदारता और समाधि अर्थ के—माधुर्य्य मे दोनो का आधार है। दोषो का विवेचन उनका भरत से बहुत भिन्न नही है। उन्होने भी भामह के ग्यारहवें दोष को अव्यक्त मानते हुए दोषो की संख्या दस स्वीकार की है।—इतना होते हुए भी, दण्डी के विवेचन मे अपने दोष है—उदाहरणार्थ अर्थ-व्यक्ति प्रसाद के अन्तर्गत आ सकता है—उदारत्व और कांति की परिभाषाएँ भी अस्पष्ट है—उनमे जिस भाव-गत सौंदर्य की ओर संकेत किया गया है वह अनिर्दिष्ट है।

दण्डी के उपरांत वामन ने रीति और गुणो का सम्यक् विवेचन तथा उनका पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करते हुए रीति-सम्प्रदाय की असंदिग्ध रूप मे प्रतिष्ठा कर दी। उन्होंने दण्डी के दो मार्गों के स्थान पर तीन रीतियो की सत्ता स्वीकार

की : वैदर्भी गौडी, पान्चाली। वैदर्भी मे दसो गुणो का समावेश रहता है, गौडी मे ओज और कांति का, पांचाली में माधुर्य्य और सौकुमार्य का। इसके अतिरिक्त गुणों को शब्द-गुण और अर्थ-गुण दो भागो में विभक्त करते हुए उनका अपने ढंग से पुष्ट विवेचन किया और गुण और अलंकार में स्पष्ट भेद करते हुए पहले को नित्य और दूसरे को अनित्य स्वीकृत किया। वामन का गुण-विवेचन भरत और दण्डी से बहुत भिन्न है—उदाहरण के लिए वामन का ओजस् दण्डी के श्लेष के समानान्तर है। वामन ने अर्थ-गुण कांति मे रस का भी समावेश करते हुए उसे काव्य के मूल तत्वो मे परिगणित कर लिया है—परन्तु दण्डी ने उसका अन्तर्भाव अलंकारो मे ही करते हुए उसे काव्य का अनिवार्य अङ्ग नहीं माना।

उधर भरत और दण्डी के अनुसार वामन ने भी दस दोष तो माने है परन्तु भरत की भाँति उन्होंने गुणो को दोषाभाव न मानकर, दोषो को गुणो का विपर्यय माना है, और उनका पद-दोष, पदार्थ-दोष, वाक्य-दोष और वाक्यार्थ-दोष इन चार भेदो मे विभाजन किया है। वामन के विवेचन की सीमायें भी है—उनकी कतिपय परिभाषायें अस्पष्ट हैं। सबसे पहले तो उनका समस्त गुणों को शब्द-गुण और अर्थ-गुण में विभक्त करना ही अधिक संगत नही है—स्थान स्थान पर इसके लिए उन्हे खींच-तान करनी पडी है। साथ ही कुछ अन्य दोष भी स्पष्ट है—जैसे उनका शब्द-गुण प्रसाद केवल ओजस् का निषेध मात्र है और उदारता ग्राम्यत्व का। उनके श्लेष को मम्मट ने स्वतन्त्र गुण ही नही माना क्योंकि वह ओजस् का केवल एक भेद मात्र है।—उनके कई गुण तो केवल अलंकार ही रह गए हैं। इस प्रकार वामन के विवेचन के विरुद्ध परवर्ती आचार्यों ने अनेक आक्षेप किए हैं। परन्तु इन साधारण आक्षेपो के होते हुए भी संस्कृत अलंकार-शास्त्र मे वामन का गौरव कम नही होता। काव्य के वाह्य रूप की महत्ता को असंदिग्ध शब्दो मे स्थापित करते हुए उसकी व्यवस्थित व्याख्या करने वाले इस आचार्य्य का अपना पृथक् स्थान रहेगा। काव्य-शोभा अथवा सौन्दर्य्य का वस्तुगत विवेचन उनका सर्वथा पूर्ण है।

वामन के उपरांत रुद्रट ने एक चौथी रीति लाटी का और आविष्कार किया, परन्तु उनकी रीति समस्त पदो का प्रयोग-विशेष ही है। आनन्दवर्धन और अभिनव गुप्त ने ध्वनि के आधार पर काव्य का भावगत विवेचन किया है, अतएव स्वभाव से ही उन्होने रीति को स्वतन्त्र महत्व नही दिया। आनन्दवर्द्धन ने उसे काव्य के वाह्य रूप की शोभा का उपादान मानते हुए वाच्य-वाचक-चारुत्व-हेतु कहा है। उनका महत्व इसी पर निर्भर है कि वे रस-परिपाक मे कहाँ तक योग देती हैं। अभिनव एक पग और आगे बढ गए है, उन्होने गुण और अलंकारसे पृथक रीति का

अस्तित्व मानने की आवश्यकता ही नहीं समझी। हाँ, गुणों को ध्वनिवादियों ने वांछित महत्व दिया है—उनको रस का तत्व मानते हुए काव्य का नित्य अङ्ग माना है। गुणों की संख्या इन्होंने दस से घटा कर भामह के अनुसार तीन ही कर दी है:— माधुर्य्य, ओज और प्रसाद जो क्रमशः चित्त की द्रुति दीप्ति और व्यापकत्व पर आश्रित है। कुंतक ने भी रीति-विभाजन का तीव्र शब्दों में विरोध किया।—उन्होंने कहा—देश के अनुसार काव्य-रीति का विभाजन असंगत है—इस प्रकार तो असंख्य रीतियाँ माननी पड़ेंगी, और न रीतियों को उत्तम, मध्यम और अधम मानना ही उचित है क्योंकि काव्य तो कवि-प्रतिभा-जन्य है। एक बात को कहने की केवल एक ही रीति हो सकती है, वह सबसे उत्तम होगी—उसमें उत्तम, मध्यम और अधम के लिए स्थान नहीं है। रीति के स्थान पर कुंतक ने भी मार्ग शब्द का ही प्रयोग किया है और उसे कवि-प्रस्थान-हेतु अर्थात् कवि-कर्म का ढंग माना है। मार्गों को उन्होंने देश-भेद के अनुसार विभाजित न कर—रचना गुण के अनुसार दो भेदों में विभाजित किया है: सुकुमार और विचित्र। उधर दस गुणों की परिपाटी से स्वतन्त्र उन्होंने दोनों मार्गों के तत्वरूप चार गुण माने हैं—माधुर्य्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य। यों तो चारों गुण दोनों ही मार्गों के मूल तत्व हैं परन्तु उनका स्वरूप दोनों में भिन्न है। इनके अतिरिक्त औचित्य और सौभाग्य दो और भी गुण हैं जो सभी प्रकार के काव्यों में वर्तमान होने चाहियें।—कुंतक ने कवि-प्रतिभा को काव्य का मूलाधार माना है, इसलिए उन्होंने बाह्य उपादानों को अधिक महत्व नहीं दिया—स्वभावतः उनकी विवेचना सर्वथा वस्तुगत न होकर बहुत कुछ मनोगत भी है।

कुंतक के उपरांत भोज ने मागधी और अवंतिका—दो नवीन रीतियों की उद्भावना करते हुए उनकी संख्या छः तक पहुँचा दी। उनका वर्गीकरण भी बहुत कुछ समस्त पदों के प्रयोग पर ही आश्रित है। अवन्तिका को उन्होंने वैदर्भी और पांचाली की मध्यवर्ती माना है। मागधी को एक अपूर्ण और सदोष प्रकार मानते हुए खण्ड-रीति की संज्ञा दी है—उसमें संगति का अभाव रहता है। इसके अतिरिक्त गुणों और दोषों के विवेचन में भी उन्होंने नवीन उद्भावनाएँ की हैं, परन्तु उनकी ये उद्भावनाएँ अधिक पुष्ट और व्यवस्थित नहीं हैं—उनके पीछे कोई निश्चित मनोभूमिका नहीं मिलती; उदाहरण के लिए उनकी रीति-विषयक उद्भावनाएँ ही निराधार और निरर्थक हैं।

भोज के परवर्ती आचार्य्यों ने मौलिक सिद्धांतों की कोई विशेष सृष्टि नहीं की, वे प्रायः व्याख्याता ही थे। इनमें सबसे प्रसिद्ध तीन हुए—मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ। मम्मट ने वामन की रीतियों को उद्भट की वृत्तियों से एकरूप कर

दिया है : वैदर्भी और उपनागरिका एक हैं, परुषा और गौडी एक है, पाञ्चाली और कोमला एक हैं। इनमे पहली दोनों माधुर्य्य-व्यञ्जक वर्णों के आश्रित है, दूसरी ओज-व्यञ्जक वर्णों के, तीसरी मे ऐसे वर्णों का प्रयोग होता है जो इन दोनो से भिन्न है। मम्मट का विवेचन बहुत कुछ आनन्द-वर्द्धन और अभिनव से प्रभावित है। उन्ही के अनुसरण पर मम्मट ने भी गुणों की सख्या केवल तीन ही मानी है--और वामन-कृत दस शब्द-गुण और दस अर्थ-गुण की व्याख्या की आलोचना करते हुए शेष गुणो को या तो इन तीनों मे ही अंतर्भूत कर दिया है, या फिर दोषाभाव कह कर स्वतंत्र अस्तित्व का अधिकार नही दिया। मम्मट की अपेक्षा विश्वनाथ ने रीति को अधिक आदर दिया है। ध्वनि के परवर्ती आचार्य्यों मे केवल विश्वनाथ ने ही रीतिका रस और गुण के सम्बन्ध से व्यवस्थित विवेचन किया है। उन्होंने रुद्रट के अनुसार चार रीतियां मानी हैं—और उनका आधार समस्त-पद-प्रयोगो को न मान कर स्पष्ट रूप से वर्णों के सगुंफन को ही माना है। वैदर्भी जो माधुर्य्य से सम्बद्ध है शृंगार, करुण और शांत के उपयुक्त है, और गौडी जिसका सम्बन्ध ओज से है वीर, वीभत्स तथा रौद्र के अनुकूल पडती है। पाञ्चाली की परिभाषा उन्होंने बहुत कुछ मम्मट के अनुसार ही की है जो स्पष्ट नही हो सकी। उनकी लाटिका रीति मे भी वैदर्भी और पाञ्चाली की ही विशेषताएं हैं—अतएव उसकी स्वतंत्र सत्ता मानना व्यर्थ है।--संस्कृत साहित्य-शास्त्र के अंतिम प्रसिद्ध आचार्य्य पण्डित-राज जगन्नाथ ने काव्य के वाह्य रूप को एक वार फिर गौरव के साथ आगे लाने का प्रयत्न किया, और गुण आदि विस्तृत विवेचन भी किया। परन्तु कुल मिला कर वे भी इस क्षेत्र मे आनन्दवर्द्धन और मम्मट आदि से भिन्न कोई स्वतंत्र उद्भावना नही कर सके। रीति की परम्परा जोकि संस्कृत मे भी अधिक लोक-प्रिय नही हो पाई थी, अंत मे स्वभावतः ही उसी के साथ नि.शेष हो गई। हिंदी के आचार्य्यों ने उसे कोई महत्व नही दिया।

## रीति की परिभाषा और स्वरूप

रीति के उद्भावक वामन ने रीति को विशिष्ट पद-रचना कहा है—"विशिष्टा पद-रचना रीतिः"—और पद-रचना के इस वैशिष्ट्य को विभिन्न गुणों के संश्लेषण पर आश्रित माना है, 'विशेषो गुणात्मा'। गुण का अर्थ उन्ही के शब्दो मे है काव्य को शोभित करने वाले धर्म। गुण नित्य धर्म है अलंकार अनित्य, क्योकि केवल गुण तो वैशिष्ट्य की सृष्टि कर सकते हैं, केवल अलंकार नही। काव्य का समस्त सौन्दर्य रीति पर आश्रित है। यह सौन्दर्य किस प्रकार उत्पन्न होता है? दोषो के वहिष्कार एवं गुणो और अलंकारो के प्रयोग से। तो, इस प्रकार वामन के अनुसार

रीति पद-रचना का वह प्रकार है जो दोषो से मुक्त हो, एवं गुणो से अनिवार्यतः तथा अलंकारो से साधारणतः सम्पन्न हो।

वामन के उपरांत कुंतक ने रीति को कवि-प्रस्थान-हेतु, अर्थात् कवि-कर्म की विधि कहा है, और भोज ने भी उसका अर्थ काव्य-मार्ग किया है। आनन्द-वर्द्धन ने अपने आशय को थोड़ा और स्पष्ट करते हुए उसको वाक्य-वाचक-चारुत्व-हेतु कहा है—उनके अनुसार रीति वह विधि है, जिसके द्वारा काव्य के शरीर शब्द-अर्थ मे चारुता आती है। आनन्दवर्द्धन ने इस प्रकार रीति का सम्बन्ध समस्त काव्य से न जोड कर उसके बाह्य रूप तक ही सीमित रखा है जो वास्तव में उचित है, क्योकि काव्य केवल पद-रचना के ही आश्रित नहीं है। बाद में मम्मट और विश्वनाथ ने इसी तथ्य को और स्पष्ट करते हुए रीति-विवेचन को सर्वथा निर्भ्रान्त बना दिया है। 'पद-संघटना रीतिरंग-संस्थानवत्' । इस प्रकार आप देखें कि साहित्य-शास्त्र के विकास के साथ रीति के गौरव मे तो आकाश पाताल का अन्तर हो गया है—वह आत्मा से अंग मात्र रह गई है, परन्तु उसकी परिभाषा आदि से अन्त तक लगभग वही रही है।

बहुत कुछ अंग्रेजी के अठारहवीं शती के कवियो की भाँति रीतिवादियो का भी दृष्टिकोण वस्तु-गत था। उन्हीं को तरह ये भी काव्य-सौंदर्य को भाव के आश्रित न मान कर भाषा के ही आश्रित मानते थे। वामन का यह विश्वास था कि समस्त पदो के कुशल प्रयोग, एवं शब्दो तथा वर्णों के चारु चयन के द्वारा अथवा भावों का क्रम बाँधने या उनको सजा कर रखने से ही प्रायः काव्य सौन्दर्य की सृष्टि होती है। अतएव वे उन्ही को आधार मान कर काव्य के बाह्य रूप का वस्तु-गत विश्लेषण करते रहे। परन्तु काव्य के भाव पक्ष अथवा आंतरिक पक्ष से वे सर्वथा अनभिज्ञ थे, यह नहीं कहा जा सकता। उन्होने अर्थ-गुण कान्ति मे रस की दीप्ति अनिवार्य मानी है। इसी प्रकार उनके अर्थ-गुण सौकुमार्य और उदारता भी भाव-सौंदर्य से ही अधिक सम्बन्ध रखते हैं। इसके अतिरिक्त अर्थ-गुणो को शब्द-गुणो के बराबर ही महत्व देना भी तो इसका स्पष्ट प्रमाण है। इस प्रकार वामन की रीति मे आन्तरिक तत्व का सर्वथा अभाव मानना तो भ्रामक है। क्योंकि उन्होने अर्थ और वाणी के सामञ्जस्य को पूर्णतः स्वीकार किया है; पर हाँ, वैयक्तिक तत्व को उसमें कदाचित् उतनी प्रधानता नही दी गई जितनी कि पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की 'शैली' मे दी गई है। भारतीय काव्य-शास्त्र की रीति का सम्बन्ध कला मे जितना घनिष्ठ है—उतना कवि-व्यक्तित्व से नही। परन्तु फिर भी डाक्टर डे आदि की भी यह प्रस्थापना पूर्णत सत्य नही है कि भारतीय रीति सर्वथा निर्वैयक्तिक रचना-कौशल है अतएव वह पाश्चात्य 'शैली' से एकांत भिन्न है। भारतीय

काव्य-शास्त्र मे अनेक स्थानों पर रीति और कवि-व्यक्तित्व के अंतरंग सम्बन्ध का निर्देश किया गया है। उदाहरण के लिये दण्डी ने स्पष्ट कहा है कि वैदर्भ और गौडीय मार्ग तो काव्य के दो स्थूल भेद मात्र हैं—वैसे तो वाणी के कवियों के अपने अपने-व्यक्तित्वों के अनुसार अनेक सूक्ष्म-सरल भेद हैं जिनका वर्णन सम्भव नहीं है:—

अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ ॥

× × ×

इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूप-निरूपणात्
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रति कविस्थिताः ॥

[ काव्यादर्श—१. ]

उनके उपरांत शारदातनय आदि ने भी इसका समर्थन किया 'पुंसि पुंसि विशेषेण कापि कापि सरस्वती' और उधर अनेक कवियों ने इस बात पर बल दिया है कि प्रत्येक कवि की अपनी विशिष्ट रीति होना अनिवार्य है।

उधर पश्चिम मे भी शैली का वस्तु-विवेचन काफी हुआ है। सबसे पूर्व तो आचार्य अरस्तू ने ही शैली के वाह्य रूप का व्यापक विवेचन करते हुए उसके दो भेद किये हैं: १वाद शैली और २साहित्य शैली। उन्होने शैली के दो मूल गुण माने हैं. (अ) पर्सपिक्यूइटी (आ) प्रोप्राइटी। पर्सपिक्यूइटी का अर्थ है प्रसाद और प्रोप्राइटी का औचित्य। ये दोनो ही गुण भारतीय काव्य-शास्त्र मे स्वीकृत है—प्रसाद तो पृथक गुण ही है, औचित्य का कुंतक के अतिरिक्त किसी ने पृथक निर्देश नही किया, किंतु नाम भेद से उसे वामन आदि सभी ने स्वीकार किया है। तथापि औचित्य वास्तव मे विशेष गुण न होकर काव्य का सामान्य गुण ही है क्योकि इसके अभाव मे काव्य काव्य ही नही रह जाता—और इस दृष्टि से कुंतक का मत ही अधिक मान्य है जिन्होंने कि इसे रीति का सामान्य अनिवार्य गुण ही माना है। अरस्तू के उपरान्त शैली पर डिमेट्रियस का 'औन स्टाइल' नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ मिलता है—डिमेट्रियस ने शैली के चार भेद किये है. ऐलीगेन्ट ( सुन्दर ), प्लेन ( प्रसादयुक्त ), फोर्सिबिल ( ओजस्वी ), और ऐलिवेटेड ( उदात्त )। इनमें से प्रथम तीन तो भारतीय काव्य-शास्त्र की क्रमश माधुर्य, प्रसाद और ओज युक्त शैलियो से अभिन्न ही है। -हां ऐलिवेटेड ( उदात्त ) थोडी भिन्न है—परन्तु उसका कारण यह है कि विदेश मे सब्लाइम का आरम्भ से

(1) Controversial (2) literary.

ही पृथक् विवेचन है जब कि हमारे यहां उसे ओज में भी अन्तर्भूत कर लिया गया है।

यूनानी आचार्यों के उपरान्त रोम के और उनके उपरान्त फ्रांस, इंग्लैंड आदि के अनेक काव्य-शास्त्रियो ने शैली के वस्तु-रूप का सम्यक् विवेचन किया है। इन अलंकारिको के विवेचन के सार-रूप पश्चिम मे शैली के तीन पक्ष माने गये है :—

बुद्धि-पक्ष, राग-पक्ष, और कला-पक्ष। बुद्धि-पक्षके अंतर्गत आते हैं (अ) यथातथ्यता अर्थात् उचित शब्द का उचित प्रयोग; (आ) स्पष्टता अर्थात् इन उचित शब्दो को वाक्य-सघटन मे उचित स्थान पर क्रम-पूर्वक रखना, (इ) औचित्य-अर्थात् वस्तु और उसकी अभिव्यक्ति का साम-ञ्जस्य—संगति, अन्विति इत्यादि। राग-पक्ष से आशय ओज, तीव्रता, ध्वन्यात्मकता, अथवा उन तत्वो से है जिनके द्वारा कवि न केवल अपने विचारो को ही, वरन् अपने भावो और उद्वेगो को भी पाठक तक प्रेषित करता हुआ, उसके हृदय मे भी सदृश भावो और उद्वेगो का संचार करने मे समर्थ होता है। तीसरा है कला पक्ष—जिसके अंतर्गत संगीत, गति, लय, नाद-सौंदर्य आदि की गणना है जो अर्थ से स्वतन्त्र होकर भी मन को आह्लादित करते है।

आप देखे कि उपर्युक्त तत्व-विश्लेपण वामन आदि के तत्व-विश्लेपण से बहुत भिन्न नही है। वामन के श्लेष--[जिसमे शब्द और अर्थ की पूर्ण मैत्री के द्वारा अभिव्यक्ति मे यथातथ्यता रहती है] प्रसाद--[जिसमे सरल प्रचलित शब्दो के निर्भ्रान्त प्रयोग द्वारा आशय की स्पष्टता रहती है] समाधि–[जिसमे अर्थ की एकाग्रता होती है] समता–[जिसमे संगति होती है] आदि बुद्धि-पक्ष के तत्व हैं। सौकुमार्य--[जिसमे अप्रिय तथ्य भी प्रिय शब्दो मे कहा जाता है] उदारता--[जिसमे भाव-भंगिमा मे अग्राम्यत्व रहता है] कांति--[जो रस से दीप्त होता है] आदि अर्थ-गुण राग-पक्ष के तत्व है। इसी प्रकार कतिपय शब्द-गुण जैसे ओज--[जिसमे पदो का गाढ बन्धत्व रहता है], माधुर्य--[जिसमे पद पृथक् और श्रुति मधुर होते हैं], सौकुमार्य--[जो परुष वर्णों से मुक्त होता है], उदारता--[जिसमे पद नृत्य-सा करते हैं] और कांति--[जिसमें पद-औज्ज्वल्य की विशेषता रहती है] कला-पक्ष के तत्व है। इसमें सन्देह नहीं कि यह विवेचन सर्वथा पूर्ण नही हैं, परन्तु जहाँ कही भी जीवन के तत्वों का बाह्य तथ्यो के वर्गीकरण द्वारा विवेचन किया जाएगा, वहाँ पूर्णता की आशा करना व्यर्थ होगा। रीति या शैली अपने वास्तविक रूप मे मनो-विकारों की अभिव्यक्ति का नाम है। अतएव उसको निश्चित बाह्य तथ्यों मे बांधना उतना ही कठिन है, जितना मनोविकारो को, इस क्षेत्र में तो विवेचन ही एक दिशा

का ही निर्देश ही किया जा सकता है—इस दृष्टि से वामन की सफलता पश्चिमी आचार्यों की अपेक्षा अधिक स्तुत्य है।

अब रह जाता है शैली का वैयक्तिक तत्व। वैयक्तिक तत्व के दो रूप है: एक तो शैली द्वारा कवि की आत्माभिव्यंजना, दूसरा पात्र तथा परिस्थिति के साथ शैली का सामंजस्य। पहला रूप जैसा मैंने अभी कहा है, भारतीय रीति-परिभाषा से सर्वथा बहिष्कृत नही है, यद्यपि उसे वाञ्छित महत्व नहीं मिला— और इसका स्पष्ट कारण यही है कि भारत मे साहित्य को निर्वैयक्तिक साधना के रूप मे ही प्रायः ग्रहण किया गया है। दूसरे रूप का विधान तो निश्चय ही मिलता है। यद्यपि वामन ने इसका स्पष्टीकरण नही किया, परन्तु वामन से पूर्व भरत ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों मे स्वीकार किया है कि नाटक मे भाषा पात्र के शील-स्वभाव की ही अनुवर्तिनी होनी चाहिए। वामन के उपरान्त मम्मट ने भी वक्ता और विषय के अनुसार रीति मे परिवर्तन करना उचित और आवश्यक माना है।

सारांश यह है कि रीति-सम्प्रदाय ने काव्य के बाह्य पक्ष : रचना-चमत्कार को विशेष महत्व दिया है इसमे सन्देह नही, परन्तु यह भी सत्य है कि उसके मानस पक्ष की भी उपेक्षा इसमे नही की गई। हाँ, कवि की आत्माभिव्यक्ति को वाञ्छित महत्व नही मिला, यद्यपि बहिष्कार उसका भी नही हुआ।

## रीति एवं गुण और दोष की स्थिति और उनका रस से सम्बन्ध

जहाँ तक वामन की रीति का प्रश्न है, स्थिति सर्वथा स्पष्ट है। वामन के अनुसार रीति का अर्थ है रचना-चमत्कार जो गुणो पर आश्रित रहता है;—गुण-काव्य के वे नित्य धर्म है जो उसको सुशोभित करते है, दोष गुणो के विपर्यय है, अतएव वे काव्य की शोभा मे बाधक होते है। गुणो के प्रयोग और दोषो के बहिष्कार से रचना मे सौन्दर्य आता है। रचना का यही सौन्दर्य वामन के लिए काव्य का सर्वस्व है। रस इसी मे निहित रहता है, वह इसका साध्य नही साधक है।

परन्तु यह स्थिति बहुत समय तक न रही। ध्वनि और रसवादियो ने चित्र बदल दिया। रीति आत्मा न रह कर अंग-संस्थान मात्र रह गई। रस उसका एक तत्व नही रहा। वह स्वयं रस की उपकर्त्री समझी गई। इसी प्रकार गुण भी उसके उपादान तत्व नही रहे। वह स्वयं उनका माध्यम बन गई। इन लोगो के अनुसार

रीति शब्द और अर्थ के आश्रित रचना-चमत्कार का नाम है जो माधुर्य, ओज अथवा प्रसाद गुण के द्वारा चित्त को द्रवित, दीप्त और परिव्याप्त करती हुई रस दशा तक पहुँचाती है।

गुण की मनोवैज्ञानिक स्थिति :—अब एक प्रश्न शेष है। गुण की मनोवैज्ञानिक स्थिति क्या है? आनन्दवर्द्धन ने तो केवल यही कहा है कि शृङ्गार, रौद्र आदि रसो मे जहाँ चित्त आह्लादित और दीप्त होता है, माधुर्य ओज आदि गुण वसते हैं, परन्तु आह्लादन ( द्रुति ) और दीप्ति से गुणों का क्या सम्बन्ध है, यह उन्होने स्पष्ट नही किया। क्या माधुर्य और चित्त की द्रुति अथवा ओज और चित्त की दीप्ति परस्पर अभिन्न हैं अथवा उनमे कारण-कार्य सम्बन्ध है? इस समस्या को अभिनव ने सुलझाया है। उन्होने स्पष्ट कहा है कि गुण चित्त की अवस्था का ही नाम है। माधुर्य चित्त की द्रवित अवस्था है, ओज दीप्ति है और प्रसाद व्यापकत्व है। चित्त की यह द्रुति, दीप्ति अथवा व्याप्ति रस परिपाक के साथ ही घटित होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि शृङ्गार-रस की अनुभूति से चित्त मे जो एक प्रकार की आर्द्रता का संचार होता है, वही माधुर्य है; वीर रस के अनुभव से उसमें जो एक प्रकार की दीप्ति उत्पन्न होती है वही ओज है; और सभी रसो के अनुभव से चित्त मे जो एक व्यापकत्व आता है वही प्रसाद है। इस प्रकार अभिनव के अनुसार माधुर्य आदि गुण चित्त की द्रुति आदि अवस्थाओं से सर्वथा अभिन्न हैं और चूंकि ये अवस्थायें रसानुभूति के कारण ही उत्पन्न होती हैं, अतएव रस को कारण और गुण को उसका कार्य कहा जा सकता है। कारण और कार्य मे अन्तर होना अनिवार्य है, इसलिये रस और चित्त-द्रुति आदि के अनुभव मे भी अंतर अवश्य मानना होगा—कम से कम काल-क्रम का अन्तर तो है ही। परन्तु चूंकि रस की पूर्ण स्थिति मे दूसरे अनुभव को स्थान नही रहता, अतएव चित्त-द्रुति आदि का भी सहृदय को पृथक् अनुभव नही रह पाता। वह रस के अनुभव मे ही निमग्न हो जाता है। आनन्दवर्धन ने गुणो को रस के नित्य धर्म इसी दृष्टि से माना है।

अभिनव के उपरांत माधुर्य आदि गुणो को मम्मट ने रस के उत्कर्ष-वर्द्धक एवं अचल-स्थिति धर्म माना—और उन्हे चित्त-द्रुति आदि का कारण माना। अभिनव ने रस को गुण का कारण माना था—और गुण को चित्त-द्रुति आदि से अभिन्न स्वीकार किया था। मम्मट गुण को चित्त-द्रुति आदि का कारण मानते है। गुण का स्वरूप क्या है इस विषय मे मम्मट ने कुछ प्रकाश नही डाला। मम्मट का प्रतिवाद विश्वनाथ ने किया। उन्होने फिर अभिनव के मत की ही प्रतिष्ठा की।

अर्थात् चित्त के द्रुति दीप्तत्व रूप आह्लाद को ही गुण माना। परन्तु उनका मत था कि "द्रवीभाव या द्रुति आस्वाद-स्वरूप आह्लाद से अभिन्न होने के कारण कार्य नही है जैसा कि अभिनव ने किसी अंश तक माना है। आस्वाद या आह्लाद रस के पर्याय हैं। द्रुति रस का ही स्वरूप है, उससे भिन्न नही है।"

[ सा० द० विमला टीका ]

इस तरह विश्वनाथ ने एक प्रकार से गुण को रस से ही अभिन्न मान लिया है।

वास्तव में जैसा कि डा० लाहिरी ने कहा है, संस्कृत साहित्य-शास्त्र मे गुण की स्थिति पूर्णतया स्पष्ट नही है। यदि विश्वनाथ के अनुसार उसे रस से अभिन्न आस्वाद रूप ही मानते है, तो प्रश्न उठता है कि उसकी पृथक् स्थिति क्यो मानी जाए? इसलिये विश्वनाथ का सिद्धांत मान्य नहीं हो सकता। मनोविज्ञान की दृष्टि से देखे तो रस और गुण दोनो ही मनःस्थितियाँ है। (इस विषय मे अभिनव मम्मट आदि सभी सहमत है)। रस वह आनन्द-रूपी मनःस्थिति है, जिसमे हमारी सभी वृत्तियाँ अन्वित हो जाती है और यह स्थिति अखण्ड है। उधर गुण भी मन:स्थिति है, जिसमे कही चित्त-वृत्तियाँ द्रवित हो जाती हैं, कही दीप्त और कही परिव्याप्त। यहां तक तो कोई कठिनाई नही है। यह भी ठीक है विशेष भावो मे और विशेष शब्दो मे भी चित्त-वृत्तियो को द्रवित अथवा दीप्त करने की शक्ति होती है। उदाहरण के लिये मधुर वर्णों को सुन कर और प्रेम, करुणा आदि भावो को ग्रहण कर हमारे चित्त मे एक प्रकार का विकार पैदा हो जाता है—जिसे तरलता के कारण द्रुति कहते है—और महाप्राण वर्णों को सुन कर एवं वीर और रौद्र आदि भावो को ग्रहण कर हमारे चित्त मे दूसरे प्रकार का विकार हो जाता है, जिसे विस्तार के कारण दीप्ति कहते हैं। परन्तु इन विकारो को पूर्णत आह्लाद रूप नहीं कह सकते। यहाँ काव्य (वस्तु) भावकत्व की स्थिति को पारकर भोजकत्व की ओर बढ रहा है। अभी उसमे वस्तु-तत्व निःशेष नही हुआ—और स्पष्ट शब्दो मे हमारी चित्त-वृत्तियाँ उत्तेजित होकर न्विति की ओर बढ रही है। अभी इनमे पूर्ण अन्विति की स्थापना नही हुई क्योकि तब तो रस का परिपाक ही हो जाता। जैसा भट्ट नायक ने एक जगह सकेत किया है, यह काव्य के भोजकत्व की एक प्रारम्भिक स्थिति है, जो पूर्ण रसत्व की पूर्ववर्ती है। अतएव गुण को अनिवार्यतः आह्लाद रूप न मान कर केवल चित्त की एक दशा ही माना जाए, तो उसे सरलता से रस-परिपाक की प्रक्रिया मे रस-दशा से ठीक पहली स्थिति माना जा सकता

है, जहाँ हमारी चित्त-वृत्तियाँ पिघल कर, दीप्त होकर, या परिव्याप्त होकर अन्विति के लिये तैयार हो जाती हैं।

दोष की स्थिति :—दोषों को रस का 'अपकर्षक' 'मुख्यार्थ में बाधक' आदि कहा गया है। भरत ने उन्हें भाव-मूलक (Positive) मानते हुए गुणों को अभाव-मूलक (Negative) माना है । दण्डी ने भी उन्हें भाव-मूलक ही माना है, परन्तु वामन ने उन्हें गुणों का विपर्यय कहा है। परवर्ती आचार्यों ने भी उनकी भाव-मूलक स्थिति ही स्वीकार की है, और यह उचित ही है क्योंकि काणत्व आदि दोष की स्थिति भाव-मूलक ही है सुनयनत्व आदि गुणों का अभाव-रूप नहीं है। गुण का अभाव निर्गुणत्व है, दोष नहीं। दोषों की संख्या दस से आरम्भ होकर सत्तर तक पहुँच गई है। उनका विभाजन साधारणतः पाँच वर्गों में किया जाता है:—पद-दोष, पदांश-दोष, वाक्य-दोष, अर्थ-दोष और रस-दोष। परन्तु यह वर्गीकरण अत्यन्त स्थूल है । तत्व-रूप में सभी दोषों का रस-हानि से सम्बन्ध है और जैसा कि विश्वनाथ ने कहा है, वे [१] या तो रस की प्रतीति को रोक देते हैं, या [२] रस की उत्कृष्टता की विघातक किसी वस्तु को बीच में खड़ा कर देते हैं, या [३] रसास्वाद में विलम्ब उपस्थित कर देते हैं—और गहरे में जायें तो हम देखते हैं कि समस्त दोषों का मूल औचित्य का व्यतिक्रम है। औचित्य का अर्थ है सहज स्थिति या सामान्य व्यवस्था। उसका उत्कर्ष गुण है, अपकर्ष दोष है। साहित्य में यह औचित्य कई प्रकार का होता है एक पद-विषयक औचित्य जो शब्द और अर्थ के सामञ्जस्य पर निर्भर रहता है, दूसरा—व्याकरण-विषयक औचित्य जो पदों की आर्थी व्यवस्था पर आश्रित रहता है; तीसरा बौद्धिक औचित्य जो हमारी ज्ञान-वृत्तियों के समन्वय का परिणाम होता है; चौथा भावना-विषयक औचित्य जिसका हमारी भाव-वृत्तियों की अन्विति से सम्बन्ध है। यह औचित्य जहाँ कहीं खण्डित हो जाता है वहीं दोष का आविर्भाव हो जाता है। उदाहरण के लिए पद-विषयक औचित्य की हानि से श्रुति-कटुत्वादि पद-दोषों का जन्म होता है, व्याकरण-विषयक औचित्य की हानि से न्यूनपद, समाप्त-पुनरात्त आदि प्रायः सभी वाक्य-दोष उत्पन्न हो जाते हैं। बौद्धिक औचित्य का त्याग प्रसिद्धि-त्याग, भग्न-प्रक्रम, अपुष्ट, कष्टार्थ आदि दोष की सृष्टि करता है और भावना-विषयक औचित्य खण्डित होकर सीधा रस-दोषों की अथवा अश्लीलता, ग्राम्यत्व आदि की सृष्टि करता है। इनमें पहले प्रकार के दोष तो प्रायः ऐन्द्रिय [कर्णगोचर] संवेदन और मानसिक संवेदन में असामञ्जस्य उत्पन्न करते हुए, दूसरे और तीसरे प्रकार के दोष अर्थ-ग्रहण में बाधक होकर बौद्धिक संवेदनों को विशृंखल करते हुए, तथा अंतिम प्रकार के दोष प्रत्यक्ष रूप में ही हमारी

चित्त-वृत्तियों की अन्विति मे बाधक होते हुए रस का अपकर्ष करते है। श्रुति-कटुत्वादि में विरोधी ऐन्द्रिय चित्र का मानसिक चित्र पर आरोप होने से गड़बड हो जाती है, न्यूनपद, कष्टार्थ आदि मे मानसिक चित्र अत्यन्त धुँधला और अस्पष्ट उतरता है, और रस-दोषो मे दो परस्पर-विरोधी मानसिक चित्रो का एक दूसरे पर आरोप होने से भाव-चित्र पूरा नही हो पाता।

# ( ई ) वक्रोक्ति-सम्प्रदाय

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्तक हुए जिन्होंने ध्वनि को नहीं वक्रोक्ति को काव्य का जीवित (प्राण) माना। उनका उद्देश्य यद्यपि ध्वनि-सिद्धान्त का प्रत्यक्ष विरोध करना तो नही था, परन्तु उन्होंने उसकी पृथक् सत्ता न मानकर उसे वक्रोक्ति के अन्तर्गत ही माना। वक्रोक्ति शब्द अत्यन्त प्राचीन है। कादम्बरी मे इसका प्रयोग परिहास-जल्पित के अर्थ मे हुआ है। भामह ने इसका अर्थ 'इष्टा-वाचामलंकृति अर्थात् 'अर्थ और शब्द का वैचित्र्य' करते हुए उसे सभी अलंकारों का मूल माना है। भामह के उपरान्त दण्डी ने वक्रोक्ति को स्वभावोक्ति के विपर्यय-रूप मे ग्रहण करते हुए उसे श्लेष-पोषित माना है। सारांश यह है कि भामह और दण्डी दोनों के अनुसार वक्रोक्ति कथन की उस विचित्र (असाधारण) शैली का नाम है—जो साधारण इतिवृत्त शैली से भिन्न होती है—शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्। [ अभिनव ]। परवर्ती आचार्यों मे रुद्रट आदि प्रायः सभी ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार माना है, केवल एक वामन ने अर्थालंकार माना है। कुंतक ने इन सभी का निषेध करते हुए वक्रोक्ति को पृथक अलंकार माननेसे इन्कार किया, तथा अत्यन्त स्पष्ट और सबल शब्दो में उसे काव्य का जीवन माना। कुंतक काव्य को आह्लादकारी सालंकार शब्दार्थ का साहित्य [ सहित भाव ] मान कर चले हैं।

वक्रोक्ति की व्याख्या उन्होने की वैदग्ध्य-भंगी-भणिति अर्थात् कथन की विचित्रता जो कवि-प्रतिभा पर निर्भर है। वक्रोक्ति की इस व्यापक परिभाषा में उन्होंने शब्दालंकार—अर्थालंकार, प्रबन्ध-कौशल आदि सभी को अन्तर्भूत कर लिया, और उसे छः भागों में विभक्त किया जो वर्ण-विन्यास से लेकर घटना-विन्यास तक में व्याप्त है। वक्रोक्ति की परिभाषा और महत्त्व का संकेत कुंतक को भामह में मिला और कवि-प्रतिभा का भट्ट-तौत मे। कुंतक के परवर्ती आचार्यों ने इस नवीन

महिमा-मण्डित वक्रोक्ति को स्वीकार नहीं किया। मम्मट आदि ने वक्रोक्ति को वक्रीकृता उक्ति के अर्थ में एक शब्दालंकार ही माना। अतएव वक्रोक्ति-सम्प्रदाय कुंतक से प्रारम्भ होकर उन्ही के बाद समाप्त हो गया। वास्तव मे जैसा कि काणे आदि विद्वानो ने कहा है, वक्रोक्ति-सम्प्रदाय अलंकार-सम्प्रदाय की ही एक शाखा थी जिसके द्वारा कुंतक ने अलंकार वादी आचार्यों की वक्रता को ही नवीन काव्य-ज्ञान के प्रकाश में व्यापक रूप देने का कुशल प्रयत्न किया था।

वक्रोक्ति का स्वरूप—वक्रोक्ति का वास्तविक स्वरूप समझने के लिए हमे स्वभावतः कुंतक की ही व्याख्या का आश्रय लेना चाहिए—

कुंतक ने वक्रोक्ति का अर्थ किया है विचित्र विन्यास-क्रम जो एक ओर शास्त्र आदि मे प्रयुक्त इतिवृत्तात्मक शब्द और अर्थ के उपनिबन्ध से। भिन्न अथवा विशिष्ट होता है, और दूसरी ओर व्यवहार-गत साधारण भाषा प्रयोग से इसीलिए उन्होंने उसे वैदग्ध्य-भंगी-भणिति कहा है—वैदग्ध्य का प्रयोग विद्वत्ता से भिन्न काव्य-नैपुण्य के अर्थ मे बहुत पहिले से चला आता था, भंगी-भणिति से तात्पर्य था भाषा का वक्र अर्थात् रमणीय प्रयोग, दूसरे शब्दो मे उक्ति-चारुत्व। वैदग्ध्य स्वाभाविक कवि-प्रतिभा-जन्य होता है। अतएव वक्रोक्ति का प्रयोग भी निश्चय हो कवि-प्रतिभा-जन्य ही होता है। कवि-प्रतिभा एवं कवि-व्यापार से स्वतन्त्र उसका अस्तित्व नही है। यह कवि-व्यापार क्या है इस विषय में कुन्तक मौन है क्योंकि शायद इसे वे अनिवर्चनीय मानते हैं। कुंतक की वक्रता एक पृथक उक्ति में ही सीमित न रहकर वर्ण-विन्यास से लेकर प्रबन्ध-रचना तक प्रसरित है। इसी धारणा के अनुसार ही उन्होंने वक्रोक्ति अथवा कवि-व्यापार वक्रता के छः भेद माने है—(१) वर्ण-विन्यास-वक्रता (२) पद-पूर्वार्ध-वक्रता (३) पद-परार्ध अथवा प्रत्यय-वक्रता (४) वाक्य-वक्रता। (५) प्रकरण-वक्रता और (६) प्रबन्ध-वक्रता। वर्ण-विन्यास-वक्रता के अन्तर्गत यमक जैसे शब्दालंकार और उपनागरिकता आदि वृत्तियो का नाद-सौन्दर्य आता है। पद-पूर्वार्ध के अनेक भेद किए गये है, जिनमे प्रमुख है— (क) रूढि-वक्रता ( इसमे शब्द का साधारण अभिधार्थ से भिन्न रूढ अर्थ मे प्रयोग होता है; रूढ लक्षणा के प्रयोग प्रायः इसके अन्तर्गत आते है ) (ख) पर्याय-वक्रता ( इसके अन्तर्गत पद-गत औज्ज्वल्य एवं पद-चयन की गणना होती है। ) (ग) विशेषण-वक्रता ( यहां विशेषण, कारक, क्रिया आदि का चारु-प्रयोग होता है। साधारणतः पृथक पद-गत सौंदर्य इसके अन्तर्गत आता है )। प्रत्यय-वक्रता मे वैचित्र्य प्रत्यय के वक्र-प्रयोग के आश्रित होता है। हिन्दी में यह प्रायः अव्यवहार्य ही है। वाक्य-वक्रता मे अर्थालंकारो का अन्तर्भाव हो जाता है—सूक्ति आदि नवीन वाक्य-भंगिमाएँ भी इसी के अन्तर्गत आती है। प्रकरण-वक्रता और

प्रबन्ध-वक्रता का क्षेत्र अधिक व्यापक है। उनका सम्बन्ध मुक्तक से न होकर प्रबन्ध-रचना से है। इनमे प्रकरण-वक्रता से तात्पर्य उन स्वतन्त्र उद्भावनाओं का है जिनके द्वारा कवि-मूल-कथा मे रमणीयता उत्पन्न करता है; और प्रबन्ध-वक्रता से तात्पर्य समस्त कथा के प्रबन्ध-कौशल का है। यहाँ मूल कथा को कवि अपनी प्रतिभा और प्रकृति के अनुसार एक नवीन रूप प्रदान कर देता है। प्रकरण-वक्रता प्रकरण विशेष से सम्बद्ध है, शाकुन्तलम् में दुर्वासा-शाप प्रकरण की उद्भावना इसका उदाहरण है। प्रबन्ध-वक्रता का सम्बन्ध समस्त कथा के घटना-विधान से है, जैसा कि रामायण महाभारत मे मिलता है, अथवा किरातार्जुनीयम् मे जहाँ किसी प्रसिद्ध कथा की एक घटना पर दूसरा ढाँचा खड़ा कर दिया जाता है। प्रबन्ध-वक्रता से रसोत्कर्ष का भी बहुत महत्व माना गया है। इस प्रकार कुंतक ने वक्रोक्ति को समस्त कवि-व्यापार या कौशल से एक रूप करके देखा है।

इस विवेचन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं :—

(१) वक्रोक्ति के लिए वैचित्र्य अनिवार्य है। उसमे किसी न किसी प्रकार की असाधारणता अवश्य होनी चाहिए।

(२) वक्रोक्ति की इस परिभाषा में प्रायः सभी प्रकार का काव्य आ जाता है। सिद्धांत रूप से यद्यपि कुतंक ने स्वभावोक्ति मे काव्यत्व का निषेध किया है, परन्तु व्यवहार रूप मे वक्रोक्ति की व्याख्या करते हुए उन्होने स्पष्ट स्वीकार किया है कि वस्तुओ के स्वभाव का सफल अंकन प्रायः वाह्य अलंकारों से सज्जित वर्णन की अपेक्षा अधिक आह्लादकारी होता है। परन्तु वे इस बात पर बल देते है, कि वस्तु [स्वभाव] के तत्वो का चयन साधारण दृष्टि से न होकर कवि-दृष्टि से ही होना चाहिए। अर्थात् यह वर्णन वस्तु परिगणन मात्र न होकर कवि-व्यापार-जन्य होना चाहिए। मै समझता हूँ स्वभावोक्ति को स्पष्ट रूप से अलंकार और काव्य के अन्तर्गत मानने वाले पंडितो को भी इस परिभाषा मे कोई आपत्ति नही हो सकती, क्योकि लगभग सभी ने साधारण वस्तु-परिगणना का तिरस्कार करते हुए उसमे कवि-कौशल को ही अनिवार्य माना है।

(३) सिद्धांत रूप मे ध्वनि-रसवादियो से कुंतक का एक मतभेद है। ध्वनि-वादी वक्रोक्ति को ध्वनि के अन्तर्गत मानते है। कुंतक ध्वनि को वक्रोक्ति के अन्तर्गत मानते है और ध्वनि तथा रस से रहित भी वक्रोक्ति एवं तदनुसार काव्यत्व की स्थिति स्वीकार करते है परन्तु यदि आप गहराई मे जाकर देखे तो स्पष्ट हो जाता है कि यह भेद भी केवल सिद्धांत का है व्यवहार का नहीं—व्यवहार में वक्रोक्ति और ध्वनि को एक दूसरे से सर्वथा

रहित नही पाया जा सकता, क्योंकि इन दोनो की अपनी अपनी परिभाषाएँ इतनी व्यापक है कि किसी का भी कोई रूप दूसरे से वाहर नहीं पड़ सकता। वास्तव मे कुंतक की वक्रोक्ति अतिव्याप्त तो अवश्य मानी जा सकती है, परन्तु अव्याप्त नहीं, अर्थात् विश्लेषण करने पर कोई भी ऐसा उदाहरण न मिलेगा, जिसमें काव्यत्व तो असंदिग्ध हो परन्तु कुंतक की वक्रोक्ति या वक्रता न हो। कारण स्पष्ट है—जहाँ रसत्व है वहाँ कवि-व्यापार अनिवार्यतः वर्तमान होगा। और जहां कवि-व्यापार होगा वहाँ वक्रोक्ति का अभाव कैसे हो सकता है ? इसी दृष्टि से कुंतक ने रस को पूर्ण महत्व दिया है।

( ४ ) कुन्तक मे अब एक शब्द रह जाता है जो आज के आलोचक की समझ मे नहीं आता—कवि-व्यापार। उन्होंने कवि-व्यापार को विधि-व्यापार की भाँति व्याख्यातीत मानते हुए उसकी परिभाषा तो नही की परन्तु उसका वर्णन आगे चलकर किया है। कवि-व्यापार के तीन विभाग है—शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास जिनकी अभिव्यक्ति के माध्यम हैं क्रमशः सुकुमार, विचित्र और मध्यम मार्ग। इन मार्गों के आधार हैं गुण जिनमे माधुर्य्य, प्रसाद लावण्य और आभि-जात्य को हम विशेष गुण कह सकते हैं, तथा औचित्य और सौभाग्य को सामान्य गुण। इस प्रकार कुन्तक ने (रीति सिद्धांत को भी अन्तभूंत करते हुए) कवि-व्यापार के वाह्य-रूप का वर्णन तो किया है परन्तु उसके आंतरिक स्वरूप की व्याख्या नही की। वास्तव मे भारतीय विचार-परम्परा के अनुसार वे भी कवि को एक असाधारण ( Abnormal ) व्यक्ति समझते थे और कवि प्रतिभा को जन्मांतर-गत पुण्यो के फल-स्वरूप प्राप्त एक दैवी-शक्ति।

विवेचन—कुन्तक का वक्रोक्ति सिद्धांत यद्यपि स्वीकार्य नही हुआ परन्तु फिर भी उसका तिरस्कार इतनी सरलता से नही हो सकता जितनी सरलता से कि आचार्य शुक्ल ने कर दिया है। उसके दो पक्ष है—१. प्रत्येक वक्रोक्ति काव्य है २. प्रत्येक काव्योक्ति मे वक्रता अनिवार्यत: होती है। इनमे से पहला पक्ष तो आज मान्य नही हो सकता क्योंकि इस प्रकार तो ऐसी उक्तियो को भी जिनमे साधारण बौद्धिक चमत्कार के कारण एक प्रकार की वक्रता वर्तमान रहती है काव्य मानना पड़ेगा। किसी प्रकार का भी बौद्धिक चमत्कार उक्ति को वक्रता प्रदान तो सदैव कर सकता है परन्तु उसे सरस सदैव नही बना सकता। इसी लिए तो बाद के रस-वादियों ने चित्र-काव्य को काव्य की सीमा से बहिष्कृत कर दिया, यद्यपि ध्वनि-कार ने उसे अधम काव्य की पदवी अवश्य दे दी थी। अतएव कम मे कम ऐसी वक्रता को जिसका रस से दूर का भी सम्बन्ध न हो काव्य नही माना जा सकता। वक्रोक्ति सिद्धांत का दूसरा पक्ष है कि प्रत्येक काव्योक्ति मे वक्रता अनिवार्य्यतः होगी। यह

पक्ष वाह्यतः अधिक विश्वसनीय न होते हुए भी, वक्रता का वास्तविक आशय स्पष्ट होने पर, किसी प्रकार असंगत नहीं कहा जा सकता। इधर तो वक्रता में कुन्तक ने ( बात को घुमा-फिरा कर कहने को ही नहीं ) सभी प्रकार के वैचित्र्य-वैशिष्ट्य अथवा असाधारणत्व को अन्तभू'त कर लिया है, और उधर यह एक स्वतः-स्पष्ट मनोवैज्ञानिक तथ्य है प्रत्येक भाव-दीप्त या रसदीप्त उक्ति साधारण इतिवृत्तात्मक कथन की अपेक्षा कुछ विशिष्टता या विचित्रता अवश्य लिए होगी। हिन्दी के एक विद्वान का कथन है कि इस वक्रोक्ति मे स्वभावोक्ति और इस वक्रता में तीव्रता के लिए स्थान नही है। परन्तु यह असत्य है। जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कुन्तक ने स्वभावोक्ति के केवल इतिवृत्त-वर्णन रूप को ही अस्वीकृत किया है। उनकी वक्रता का इति-वृत्तात्मकता से ही विरोध है तीव्रता से नहीं क्योंकि उन्होने रस को निश्चय ही वक्रोक्ति के उपादान तत्वों मे से माना है। उक्ति की तीव्रता रस ( या भाव ) के आश्रित है और रस वक्रोक्ति के अन्तर्गत है अतः तीव्रता भी उसके अन्तर्गत हुई।

कुन्तक सेह मे केवल क्रम विषयक मतभेद हो सकता है—उनका मत है कि काव्य का आह्लाद ( रस ) उक्ति वक्रताजन्य है, परन्तु वास्तविकता यह है कि आह्लाद के कारण ही उक्ति मे वक्रता आतहै। अपने उद्दीप्त मनोविकारो का भावन करने मे कवि को एक विशेष प्रकार के आह्लाद अथवा रस का अनुभव होता है—और इसी आह्लाद या रस के कारण उसकी उक्ति मे वक्रता आ जाती है। इस तथ्य का विस्तृत विवेचन रस-प्रसग मे हो चुका है। अतएव काव्य का प्राण रस ही रहेगा—वक्रोक्ति उसका अनिवार्य्य माध्यम होती हुई भी उसका जीवन नही हो सकती। कुन्तक घुर मूल तक न पहुंच कर उससे एक मंज़िल पहले ही रुक गये है और उसी को आखिरी मंज़िल मान बैठे है—इनके सिद्धांत का यही दोष है। पश्चिमीय आलोचना की शब्दावली मे कहे तो यह कह सकते है कि उन्होने कल्पना तत्व को भाव तत्व को अपेक्षा अधिक महत्व दिया है—वैदग्ध्य कवि-कौशल आदि पर जो इतना वल दिया गया है वह वास्तव मे कल्पना-तत्व को ही महत्व दिया गया है।

वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद :—कुन्तक के वक्रोक्तिवाद के साथ क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की चर्चा की जाती है। आचार्य शुक्ल ने तो अभिव्यंजनावाद को वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान ही कह दिया है। शुक्लजी की इस उक्ति को भी हम साधारण अर्थवाद के रूप मे ही ग्रहण कर सकते है, इससे आगे नही; क्योंकि इन दोनो मे कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध मानना अर्थात् क्रोचे को किसी प्रकार भी कुन्तक का ऋणी मानना हास्यास्पद होगा। वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद

के सापेक्षिक अध्ययन के लिए पहले क्रोचे का मूल सिद्धान्त स्पष्ट हो जाना चाहिये:—

क्रोचे मूलतः आत्मवादी दार्शनिक है जिसने अपने ढंग से उन्नीसवी शताब्दी की भौतिकता के विरुद्ध आत्मा की अन्तःसत्ता की प्रतिष्ठा की है। वह आत्मा की दो क्रियायें मानता है एक विचारात्मक और दूसरी व्यवहारात्मक। विचारात्मक क्रिया के दो रूप है—सहजानुभूति और तर्क। व्यवहारात्मक के भी दो रूप हैं—आर्थिक और नैतिक। कला का प्रत्यक्ष सम्बन्ध सहजानुभूति से है। किसी वस्तु के संसर्ग से हमारी आत्मा मे कतिपय अरूप झंकृतियाँ उत्पन्न हो जाती है जिनको वह अपनी सहज शक्ति कल्पना द्वारा समन्वित कर एक पूर्ण बिम्ब रूप दे देती है और इस प्रकार हमे उस वस्तु की सहजानुभूति हो जाती है जो बौद्धिक ज्ञान से सर्वथा स्वतन्त्र होती है।

यह सहजानुभूति अभिव्यंजना भी है अथवा केवल अभिव्यंजना ही है। क्योंकि उससे पृथक् इसका कोई आकार नही। जो अभिव्यजना द्वारा व्यक्त नही होता उसका सहजानुभव ही नही होता—वह संवेदन या ऐसा ही कोई व्यक्तिगत विकार मात्र होता है। हमारी आत्मा के पास सहजानुभव करने का केवल एक ही साधन है—अभिव्यंजना। सफल अभिव्यंजना या केवल अभिव्यंजना ही—क्योंकि असफल अभिव्यञ्जना तो अभिव्यञ्जना ही नहीं है—कला अथवा कलात्मक सौंदर्य है। कलात्मक सौन्दर्य मे श्रेणियाँ नहीं हो सकती क्योकि उसका तो केवल एक ही रूप होता है अतएव उसमे अधिक सुन्दर अथवा अधिक व्यंजक की कल्पना ही सम्भव नही। हाँ कुरूपता—जो असफल व्यंजना का दूसरा नाम है—श्रेणी-सापेक्ष है; उसको कुरूप से लेकर कुरूपातिकुरूप तक अनेक श्रेणियाँ हो सकती हैं। इसी कारण क्रोचे अभिव्यंजना अथवा कला के वर्गीकरण को निरर्थक समझता है—अभिव्यंजना तो एक स्वतंत्र इकाई है जो वर्ग कभी नहीं बन सकती। इसलिए वह अलंकार और अलंकार्य के भेद का निषेध करता है और अलंकारों के नामकरण आदि को भ्रामक मानता है—इसी लिए वह अनुवाद को भी असम्भव मानता है क्योकि अनुवादक की सहजानुभूति कवि की सहजानुभूति कैसे हो सकती है? उसके लिए शैली और कवि-व्यापार का भी इसी कारण कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। अपने इसी तर्क के आधार पर क्रोचे काव्य मे वस्तु और अभिव्यंजना मे अभेद मानता है। वह वस्तु की सत्ता का निषेध तो नही करता परन्तु उसको अरूप झंकृतियो से अधिक और कुछ नही मानता। काव्य-वस्तु का महत्व हमारे लिए तभी है जब वह आकार धारण कर लेती है—अपने अमूर्त रूप मे वस्तु जड़ है—निष्क्रिय है, हमारी आत्मा इसका अनुभव तो करती

है पर सृजन नहीं कर पाती। सृजन बिना आकार के सम्भव नहीं है, अतएव कला मे आकार से भिन्न वस्तु का कोई अस्तित्व हमारे सामने नहीं होता। यह ठीक है कि वस्तु वह तत्व है जो आकारमे परिणत होता है,परन्तु आकार मे परिणत होने से पूर्व उसकी कोई निश्चित रूप-रेखा तो होती ही नहीं। इस प्रकार वस्तु और आकार का कला से पृथक अस्तित्व नही माना जा सकता।

यहाँ तक तो हुई अभिव्यंजना के आन्तरिक रूप की वात। पर क्रोचे अभिव्यंजना के आन्तरिक रूप और वाह्य रूप मे अर्थात् कला और कला-कृति में अंतर मानता है। कला आध्यात्मिक क्रिया है, कला-कृति उसका मूर्त प्राकृतिक रूप जो सदैव अनिवार्य नहीं होता। कला-सृजन की सम्पूर्ण प्रक्रिया पाँच चरणों मे विभक्त की जा सकती है—(अ) अरूप संवेदन (आ) अभिव्यंजना अर्थात संवेदनों की आंतरिक समन्विति (इ) आनन्दानुभूति ( सौन्दर्य-जन्य आनन्द की अनुभूति ) (ई) सौन्दर्यानुभूति का ध्वनि, रंग, रेखा आदि प्राकृतिक तत्वो में अनुवाद और अंतिम (उ) काव्य, चित्र इत्यादि कलाकृति। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन पाँचो में मुख्य क्रिया दूसरी ही है।

सारांश यह है कि :—

(१) अभिव्यंजना एक सहज स्वतन्त्र आध्यात्मिक क्रिया है, जिसका आधार मूलतः कल्पना है।

(२) अभिव्यंजना की सफलता ही सौन्दर्य है। सौन्दर्य की श्रेणियाँ नहीं हो सकतीं।

(३) व्यंजक उक्ति और व्यंग्य-भाव एक दूसरे से पृथक् नही हो सकते। व्यंग्य-भाव का व्यंजक उक्ति से पृथक् अस्तित्व नही है।

(४) अभिव्यंजना का केवल एक अविभाज्य रूप ही होता है। अतएव काव्य में शैली अलंकार आदि का पृथक् महत्व नही होता।

ऊपर के विवेचन से यह तो स्पष्ट ही है कि शुक्ल जी कृत वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद का एकीकरण दूरारूढ कल्पना पर आश्रित नहीं है। दोनो मे पर्याप्त साम्य है, यद्यपि वैषम्य भी कम नहीं है।

साम्य—

१. क्रोचे और कुन्तक दोनो ही कला या कविता को आत्मा की क्रिया मानते हैं, जो अनिर्वचनीय है।

२. दोनों ही वस्तु की अपेक्षा अभिव्यंजना को अधिक महत्त्व देते है अर्थात् उक्ति मे काव्यत्व ( सौन्दर्य ) मानते हैं वस्तु या भाव में नहीं।

३. दोनो ही सौन्दर्य मे श्रेणियाँ नहीं मानते क्योंकि सफल अभिव्यंजना ही सौन्दर्य है और सफल अभिव्यंजना केवल एक हो सकती है।

कुन्तकः — न च रीतीनाम् उत्तमाधममाध्यमभेदेन वैविद्ध्यम् व्यवस्थापयितुम न्याय्यम्।

क्रोचे :—

The beautiful does not possess degrees, for there is no conceiving a more beautiful that is an expiessive that is more expiessive and adequate that is more adequate.

वैषम्य—

१. वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद का मुख्य अन्तर तो यह है कि वक्रोक्तिवाद का सम्बन्ध उक्ति-वक्रता से है, अभिव्यंजनावाद का केवल उक्ति से। वक्रोक्तिवाद एक साहित्यिक वाद है। अभिव्यंजनावाद अभिव्यंजना की फ़िलासफ़ी है। वक्रोक्ति जहाँ एक प्रकार का कवि-कौशल है वहाँ अभिव्यंजनावाद एक आध्यात्मिक आवश्यकता है।

"वक्रोक्तिकार नित्य की बोल चाल की रीति से सन्तुष्ट नहीं होते, 'वक्रत्व प्रसिद्ध-प्रस्थान-व्यतिरेक वैचित्र्यम्'। मैं तो यह कहूँगा कि अभिव्यंजनावाद मे स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति का भेद ही नहीं है। उक्ति केवल एक ही प्रकार की हो सकती है। यदि पूर्ण अभिव्यक्ति वक्रोक्ति द्वारा होती है तो वही स्वभावोक्ति या उक्ति है। वही कला है। वाग्वैचित्र्य का मान वैचित्र्य के कारण नहीं है, वरन् यदि है तो पूर्ण अभिव्यक्ति के कारण। अभिव्यंजनावाद मे एक ही उक्ति के लिए स्थान है, न उसमे प्रस्तुत-अप्रस्तुत का भेद है न स्वभावोक्ति-वक्रोक्ति का"।

२. वक्रोक्तिवाद अलंकार को लेकर चला है, अभिव्यंजनावाद मे उसकी सत्ता ही अमान्य है, वहाँ यदि वह आ भी जाता है तो अलंकार रूप मे नहीं सहज उक्ति के रूप में ही आता है।

३. वक्रोक्तिवाद मे वस्तु की उक्ति ( कवि-कौशल ) से पृथक् सत्ता मानी गई है। कुन्तक ने वस्तु के सहज और आहार्य दो भेद किये है, प्रकरण-वक्रता अथवा प्रबन्ध-वक्रता का सम्पूर्ण विवेचन ही वस्तु और कवि कौशल के पार्थक्य पर आश्रित है, परन्तु अभिव्यंजनावाद वस्तु को उक्ति से अभिन्न मानता है।

४. वक्रोक्तिवाद मे कला की समस्या को बाहर से छेड़ा गया है, अभिव्यंजनावाद मे भीतर से। इसीलिए वक्रोक्तिवाद जहाँ काव्य अर्थात् कला के मूर्त रूपो

पर ही केन्द्रित है, वहाँ अभिव्यंजनावाद उनके प्रति उदासीन होकर केवल सूक्ष्म आध्यात्मिक क्रिया को ही सब कुछ मानता है।

४. अभिव्यंजनावाद सहजानुभूति अर्थात् भाव-संकुलियों की अभिव्यक्ति पर आश्रित है, अतएव रस ( भाव ) से उसका सम्बन्ध अन्तरंग और तात्त्विक है, परन्तु वक्रोक्तिवाद कवि-कौशल पर आश्रित है इसलिये उसका रस से सम्बन्ध वहिरंग एवं औपाधिक है। अभिव्यंजनावाद का नग्न-रूप में रसवाद से कोई विरोध हो ही नहीं सकता।

## आचार्य शुक्ल की आलोचना

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद को एक करते हुए उन पर कुछ कठिन प्रहार किये हैं। उनमें सब से मुख्य यह है कि ये "अनुभूति या प्रभाव का विचार छोड केवल वाग्वैचित्र्य को लेकर चले हैं, पर वाग्वैचित्र्य का हृदय भी गम्भीर वृत्तियों से कोई सम्बन्ध नहीं। वह केवल कौतूहल उत्पन्न करता है"। अभिव्यंजनावाद तो बेचारा अभिव्यंजना को छोड किसी वाग्वैचित्र्य की बात ही नही करता। हां, वक्रोक्तिवाद अवश्य उसका गुनहगार है, परन्तु जैसा कि मैंने ऊपर स्पष्ट किया है, उसके वैचित्र्य का स्वरूप इतना व्यापक है कि उसके अंतर्गत सभी प्रकार की उक्ति-रमणीयता आ जाती है। वास्तव में कुन्तक की 'वक्रता' या 'वैचित्र्य' और शुक्ल जी की प्रिय 'रमणीयता' मे कोई भी अन्तर नहीं है। कौतूहल-जनक चमत्कार का कुन्तक ने वहिष्कार तो नहीं किया, परन्तु उसे अत्यन्त हेय माना है। फिर, ऐसी उक्ति जिसमे रस हो परन्तु वक्रता न हो सामने लाना भी तो आसान नही है। शुक्ल जी द्वारा उद्धृत पद्माकर की यह रमणीय उक्ति 'नैन नचाय, कही मुसकाय लला फिर आइयो खेलन होरी'—सीधी-सादी नहीं है, इसकी वक्रता की कैफ़ियत तो उन लला से पूछिए जिनसे नैन नचा कर और मुसका कर यह कहा गया था कि 'फिर आइयो खेलन होरी'।

फाग के भीर अभीरनि त्यो गहि गोविन्द लै गई भीतर गोरी।<br>
भाई करी मन की पद्माकर- ऊपर नाय अबीर की बोरी।<br>
छीन पितम्बर कम्मर तैं सु बिदा दई मीड कपोलनि रोरी।<br>
नैन नचाय कही मुसकाय लला फिर आइयो खेलन होरी।

[ जगद्विनोद ]

हमें आश्चर्य है कि व्यग्य से वक्र इस उक्ति को आचार्य सीधी-सादी कैसे मान बैठे ?

## ( उ ) ध्वनि-सम्प्रदाय

अन्य सम्प्रदायों की भाति ध्वनि-सम्प्रदाय का जन्म भी उसके प्रतिष्ठापक अथवा प्रतिष्ठापकद्वय (?) के जन्म से बहुत पूर्व ही हुआ था। स्वयं ध्वनि-कार ने ही अपने पहले छद मे इस तथ्य को स्पष्ट शब्दो मे स्वीकार किया है—"काव्य-स्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः [ ध्वन्यालोक १,१ ] अर्थात् काव्य की आत्मा ध्वनि है ऐसा मेरे पूर्ववर्ती विद्वानो का भी मत है।" वास्तव मे इस सिद्धांत के मूल संकेत उनके समय से बहुत पहले वैय्याकरणो के सूत्रो मे स्फोट आदि के विवेचन मे मिलते है। इसके अतिरिक्त भारतीय दर्शन मे भी व्यंजना एवं अभिव्यक्ति ( दीपक से घर ) की चर्चा बहुत प्राचीन है। ध्वनिकार से पूर्व रस, अलंकार और रीतिवादी आचार्य अपने अपने सिद्धांतो का पुष्ट प्रतिपादन कर चुके थे, और यद्यपि वे ध्वनि-सिद्धांत से पूर्णतः परिचित नही थे, परन्तु फिर भी आनन्दवर्द्धन का कहना है कि वे कम से कम उसके सीमान्त तक अवश्य पहुँच गये थे। अभिनव गुप्त ने पूर्ववर्ती आचार्यों मे उद्भट और वामन को साक्षी रूप माना है। उद्भट का ग्रन्थ भामह-विवरण आज उपलब्ध नही है, अतएव हमे सबसे प्रथम ध्वनि-संकत वामन के वक्रोक्ति विवेचन मे ही मिलता है—"सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति।" लक्षणा में जहां सादृश्य गर्भित होता है, वहाँ वह वक्रोक्ति कहलाती है। सादृश्य की यह व्यंजना ध्वनि के अन्तर्गत आती है, इसीलिए वामन को साक्षी माना गया है।

विद्वानो का मत है कि ईसा की ९ वी शताब्दी के मध्य मे ध्वन्यालोक की रचना हुई, ध्वन्यालोक एक ही लेखक आनन्दवर्द्धन की कृति है, अथवा आनन्द-वर्द्धन केवल वृत्तिकार थे, कारिका उनके पूर्ववर्ती या समसामयिक किसी अन्य आचार्य ने रची है; इस विषय पर पण्डितो के विभिन्न मत है। डाक्टर बुह्लर और उनके अनुसरण पर डा० डे, तथा प्रोफ़ेसर काणे आदि का मत है कि मूल ध्वनिकार और वृत्तिकार आनन्दवर्द्धन दो भिन्न व्यक्ति थे, उधर डा० संकरन ने अनेक प्रकार

के अंतर्बोध और बहिर्बोध के आधार पर संस्कृत आचार्यों की मान्यता को ही स्वीकार करते हुए दोनों को एक माना है—यह विवाद अभी किसी निर्णय पर नहीं पहुंचा। अतएव हिन्दी के विद्यार्थी को उसमें उलझने की आवश्यकता नहीं है—यहाँ हम इस समय तो बहुमत के सिद्धांतानुसार दोनों को पृथक् ही मान लेते हैं।

ध्वन्यालोक एक-युग प्रवर्त्तक ग्रन्थ था। उसके रचयिता ने अपनी असाधारण मेधा के बल पर एक ऐसे सार्वभौम सिद्धांत की प्रतिष्ठा की जो युग युग तक सर्वमान्य रहा। अब तक जो सिद्धांत प्रचलित थे वे प्रायः सभी एकांगी थे—अलंकार और रीति तो काव्य के बहिरंग को ही छूकर रह जाते थे, रस सिद्धांत भी ऐन्द्रिय आनन्द को ही सर्वस्व मानता हुआ बुद्धि और कल्पना के आनन्द के प्रति उदासीन था। इसके अतिरिक्त उसमें दूसरा दोष यह था कि प्रबन्ध-काव्य के साथ तो उसका सम्बन्ध ठीक बैठ जाता था, परन्तु स्फुट छंदों के विषय मे विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि का संघटन सर्वत्र न हो सकने के कारण कठिनाई पड़ती थी, और प्रायः अत्यन्त सुन्दर पदों को भी उचित गौरव न मिल पाता था। ध्वनिकार ने इन त्रुटियों को पहचाना और सभी का उचित परिहार करते हुए शब्द की तीसरी शक्ति व्यंजना पर आश्रित ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किया। ध्वनिकार ने अपने सामने दो निश्चित लक्ष्य रखे हैं—१. ध्वनि-सिद्धांत की निर्भ्रान्त शब्दों में स्थापना करना, तथा यह सिद्ध करना कि पूर्ववर्ती किसी भी सिद्धांत के अन्तर्गत उसका समाहार नहीं हो सकता। २. रस, अलंकार, रीति, गुण, और दोष-विषयक सिद्धांतों का सम्यक् परीक्षण करते हुए ध्वनि के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित करना, और इस प्रकार काव्य के एक सर्वांग-पूर्ण सिद्धांत की रूप-रेखा बाँधना। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति मे ध्वनिकार अपने वृत्ति-लेखक आनन्दवर्द्धन की सहायता से सर्वथा सफल हुए है।

संक्षेप मे ध्वनि-सिद्धांत इस प्रकार है। काव्य की आत्मा ध्वनि है, अर्थात् काव्य मे मुख्यतः वाच्यार्थ का नहीं वरन् व्यंग्यार्थ का सौन्दर्य होता है। व्यंग्यार्थ की महत्ता के अनुपात से काव्य के तीन भेद हो सकते है—उत्तम अथवा ध्वनि-काव्य, मध्यम अथवा गुणीभूत-व्यंग्य काव्य, और अधम अर्थात् चित्र-काव्य। ध्वनि स्वयं तीन प्रकार की होती है—वस्तु-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि और रस-ध्वनि। इन तीनो मे रस-ध्वनि ही सर्वश्रेष्ठ है। इस प्रकार इन आचार्यों ने भी रस को ही सर्वश्रेष्ठ काव्य-तत्व माना है, और जहाँ रस सर्वथा निःशेष है, जैसे चित्र-काव्य मे—वहाँ केवल वाग्-विकल्प की ही स्थिति मानी है। इसीलिए तो आधुनिक विद्वान् ध्वनि-सिद्धांत को रस-सिद्धांत का ही विस्तार-सूत्र मानते हैं, और यह बहुत अंशों मे ठीक भी है।

यह सब होते हुए भी ध्वनि-सम्प्रदाय इतना लोक-प्रिय न होता यदि अभिनव गुप्त की प्रतिभा का वरदान उसे न मिलता। उनके लोचन का वही गौरव है जो महाभाष्य का है। अभिनव ने अपनी अतलदर्शी प्रज्ञा और प्रौढ विवेचना के द्वारा ध्वनि-विषयक समस्त भ्रान्तियों और आपेक्षों को निर्मूल कर दिया—और उधर रस की प्रतिष्ठा को अकाट्य शब्दों में स्थिर किया। अभिनव एक प्रकार से रसवादी ही थे। उन्होंने ध्वनि को प्रायः रस के सम्बन्ध से ही महत्त्व दिया है।

परन्तु यह समझना असंगत होगा कि ध्वनि-सिद्धांत निर्विरोध स्थापित हो गया था। आनन्दवर्द्धन के उपरांत ही भट्ट नायक ने व्यंजना के अस्तित्व का निषेध करते हुए भावकत्व और भोजकत्व दो काव्य-शक्तियों की उद्भावना की। किन्तु अभिनव गुप्त ने सबल तर्कों द्वारा उनको अनर्गल प्रमाणित किया, एवं व्यंजना की ही पुष्टि की। भट्टनायक के पश्चात् ध्वनिवाद को कुंतक और महिमभट्ट जैसे पराक्रमी विरोधियो का सामना करना पडा। कुंतक ने ध्वनि को वक्रोक्ति के अन्तर्गत ही ग्रहण कर उसको काव्य की आत्मा मानने से इन्कार कर दिया; उधर महिम भट्ट ने कहा कि व्यंजना की उद्भावना ही तर्क-सम्मत नहीं है। शब्द की केवल दो ही शक्तियाँ मानी गई हैं। अभिधा और लक्षणा — यह तीसरी शक्ति व्यंजना कहाँ से आ गई। वे स्वयं तो शब्द की केवल एक ही शक्ति मानते हैं—अभिधा वास्तव मे जिसे व्यंजना कहा गया है, वह स्वतन्त्र शब्द-शक्ति न होकर केवल अनुमान का ही एक विशेष भेद है—जिसे उन्होंने नाम दिया 'काव्यानुमिति'। इसी काव्यानुमिति के द्वारा सहृदय को रसानुभूति होती है। महिम भट्ट का यह सिद्धांत स्पष्टतः ही श्री शंकुक के अनुमितिवाद से प्रभावित था—और उसी की तरह यह भी ग्राह्य न हो सका। भट्टनायक, कुंतक और महिम भट्ट के परास्त हो जाने पर ध्वनि का राज्य एक प्रकार से अकण्टक ही हो गया। परवर्ती आचार्यों मे मम्मट ने लगभग सभी प्रचलित विचारो का खण्डन मंडन करते हुए ध्वनि का विस्तृत विवेचन किया। ध्वनि के भेद-प्रभेद बढते बढते अब १०,४,५५ तक पहुँच गए थे। विश्वनाथ ने ध्वनि की अपेक्षा रस को अधिक महत्त्व देने का प्रयत्न किया—परन्तु उनका विरोध पडित-राज जगन्नाथ द्वारा बडे ज़ोर से हुआ। पण्डितराज ने ध्वनिकार-कृत काव्य के तीन भेदो से सन्तुष्ट न होकर उनमे एक भेद 'उत्तमोत्तम' की और वृद्धि की—इस प्रकार गुणीभूत-व्यंग्य को, जिसे कि ध्वनिकार ने निश्चित ही मध्यम काव्य-श्रेणी मे रख दिया था, उत्तम काव्य का गौरव प्राप्त हो गया। वास्तव मे ध्वनि और रस सिद्धांतो का समन्वय — जिसका आरम्भ अभिनव ने ही कर दिया था—इस समय तक आते-आते पूर्ण हो चुका था—और अब आचार्य दोनोमें विशेष भेद नही करते थे। हिन्दी रीति-ग्रन्थो को जो परम्परा प्राप्त हुई, उसमे ध्वनि का रस मे बहुत कुछ

अन्तर्भाव हो चुका था; इसीलिए हिन्दी के आचार्यों ने ध्वनि का साधारण रूप से उल्लेख करते हुए रस का ही विवेचन किया है। फिर भी कुलपति प्रतापसाहि आदि ने काव्य का जीव ध्वनि को ही माना है रस को नहीं।

ध्वनि का आधार और स्वरूप :—ध्वनिकार ने अपने सिद्धांत का आधार वैयाकरणों के स्फोट से ग्रहण किया है। जिसके द्वारा अर्थ का प्रस्फुटन हो वही स्फोट है। यह स्फोट शब्द, वाक्य और समस्त प्रबन्ध तक का होता है। शब्द-स्फोट का एक उदाहरण लीजिये—गौः शब्द मे ग्, औ और विसर्ग ये तीन वर्ण हैं—इन तीनों वर्णों मे से गौः का अर्थ-बोध किसके द्वारा होता है ? यदि यह कहे कि प्रत्येक वर्ण के उच्चारण द्वारा तो एक वर्ण ही पर्याप्त होगा। शेष दो व्यर्थ हैं। और यदि यह कहे कि तीनो वर्णों के समुदाय के उच्चारण द्वारा तो वह असम्भाव्य है, क्योकि कोई भी वर्ण-ध्वनि दो क्षण से अधिक नही ठहर सकती, अर्थात् विसर्ग तक आते आते ग की ध्वनि का लोप हो जायगा, जिसके कारण तीनो वर्णों के समुदाय की ध्वनि का एक साथ होना सम्भव न हो सकेगा। अतएव अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन के उपरांत वैयाकरणो ने स्थिर किया कि अर्थ-बोध शब्द मे स्फोट द्वारा होता है—अर्थात् पूर्व पूर्व वर्णों के संस्कार अन्तिम वर्ण के उच्चारण के साथ संयुक्त होकर शब्द का अर्थबोध कराते हैं· यही स्फोट है—जिसका दूसरा नाम 'ध्वनि' भी है। जिस प्रकार पृथक पृथक वर्णों की आवाज़ सुनकर भी अर्थ-बोध नहीं होता, वह केवल स्फोट या ध्वनि के द्वारा ही होता है, इसी तरह शब्दों का वाच्यार्थ ग्रहण करके भी काव्य के सौन्दर्य का अनुभव नही होता—वह केवल व्यंग्यार्थ या ध्वनि द्वारा ही होता है; और व्यंग्यार्थ का बोध शब्द की अभिधा लक्षणा से इतर एक तीसरी विशिष्ट शक्ति व्यंजना द्वारा होता है। शब्द-साम्य और व्यापार-साम्य के आधार पर इस प्रकार स्फोट से प्रेरित होकर ध्वनिकार ने अपने ध्वनि-सिद्धांत की उद्भावना की। जैसे घण्ट पर चोट लगने से पहले टंकार होती है फिर उसमे से मीठी झंकार ध्वनि निकलती है, उसी प्रकार वाच्यार्थ को टंकार और व्यंग्यार्थ को झंकार समझना चाहिए। ध्वनि के दो मुख्य भेद है। (१) अभिधा-मूलक (२) लक्षणा-मूलक। अभिधा-मूलक ध्वनि को विवक्षित-अन्य-परवाच्य ध्वनि कहते हैं जिसके दो भेद हैं : असंलक्ष्य-क्रम और संलक्ष्य-क्रम, रसादि असंलक्ष्य-क्रम के अन्तर्गत आते है। लक्षणा-मूलक ध्वनि को अविवक्षित-वाच्य ध्वनि कहते है—उसके भी दो भेद हैं—(१) अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य (२) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। आगे इनके अनेक भेद प्रभेद हुए है।

व्यंजना शक्ति :—ध्वनि-सिद्धान्त का सम्पूर्ण भवन व्यंजना-शक्ति के आधार पर खड़ा हुआ है, परन्तु पूछा जा सकता है कि इस नवीन उद्भावित

शक्ति का भी कोई आधार है या नहीं। और वास्तव मे ध्वनि के विरोधियों ने—भट्ट नायक और महिम भट्ट ने—पहला आक्रमण व्यंजना पर ही किया भी। परन्तु व्यंजना का आधार अत्यन्त सुदृढ था और वह इन सभी आघातों के उपरान्त भी अटल रहा। एक तो व्यंजना की उद्भावना और नामकरण चाहे ध्वनिकार ने ही किया हो, परन्तु उसका प्रयोग आरम्भ से ही हो रहा था। पर्यायोक्त, अप्रस्तुत-प्रशसा, व्याज-स्तुति जैसे वक्रता-मूलक अलंकारो मे अर्थ-बोध व्यंजना के ही द्वारा सम्भव था। उदाहरण के लिए 'न स संकुचितः पन्था येन बाली हतो गतः' में अभिधा तो इतना ही कह कर मौन हो जाती है कि जिस पथ से बाली यमपुर गया है वह संकुचित नहीं हुआ; लक्षणा संकुचित का आशय अधिक से अधिक स्पष्ट कर देगी, परन्तु वास्तविक अर्थ की कि 'जिस प्रकार बाली मारा गया है उसी प्रकार तुम भी मारे जा सकते हो' प्रतीति कैसे होती है? इसके लिए व्यंजना की सत्ता मानना अनिवार्य है क्योंकि इसका ज्ञान शब्द के द्वारा ही होता है। यह तो रही अभाव-मूलक युक्ति। भाव-मूलक तर्कों द्वारा भी व्यंजना की मान्यता स्थापित की जा सकती है: शब्द शक्ति के इस प्रचलित उदाहरण को ही लीजिये 'गङ्गायां घोषः'। यहाँ अभिधा द्वारा वाच्यार्थ है—'गंगा पर घर' परन्तु चूँकि गंगा के प्रवाह पर घर की स्थिति अकल्पनीय है, अतः अभिधा का बोध होने पर लक्षणा को सहायता से सामीप्य के कारण इसका अर्थ हुआ गंगा के किनारे। परन्तु वक्ता ने 'गंगा के किनारे न कह कर' 'गगा पर' कहा इसका क्या प्रयोजन है? इसका प्रयोजन यह है कि वह ऐसा कह कर उस घर के शैत्य, पवित्रता आदि गुणों का बोध कराना चाहता है। यदि ऐसा नही होता तो यह प्रयोग ही निष्प्रयोजन है, और यदि ऐसा होता है तो उसका बोध कराने के लिये अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त तीसरी शब्द-शक्ति व्यंजना की भी सत्ता माननी पड़ेगी।

ध्वनिकार अभिनव-गुप्त और बाद में मम्मट आदि आचार्यों ने अनेक अकाट्य तर्कों द्वारा व्यंजना का प्रतिपादन किया है जिसका सारांश सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के शब्दो मे यह है—

१. जैसा कि ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है लक्षणा मे जो प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ होता है, जिसके लिए लक्षणा की जाती है, उसका बोध लक्षणा द्वारा न होकर केवल व्यंजना द्वारा ही हो सकता है।

२. असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य में रस भावादि व्यंग्य रहते है जो न तो अभिधा के वाच्यार्थ है और न लक्षणा के लक्ष्यार्थ।

३. समान अर्थ के बोधक शब्दो का अभिधेयार्थ सर्वत्र एक ही होता है परंतु व्यंग्यार्थ भिन्न हो सकते है।

४. प्रकरण, वक्ता, बोधक, स्वरूप, काल, आश्रय, निमित्त, कार्य, सख्या और विषय आदि के अनुसार व्यंग्यार्थ प्राय: वाच्यार्थ से भिन्न हो जाता है। उदाहरण के लिए 'सूर्यास्त हो गया' इस वाक्य का वाच्यार्थ तो सभी के लिए एक ही होगा परन्तु व्यंग्यार्थ प्रकरण आदि के अनुसार भिन्न भिन्न रूप मे प्रतीत होगा।

५. वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ मे काल-भेद सर्वत्र रहता है : अर्थात् वाच्यार्थ का बोध प्रथम और व्यंग्यार्थ का बाद मे होता है।

६. वाच्यार्थ केवल शब्द मे ही रहता है पर व्यंग्यार्थ शब्द के एक अंश शब्द के अर्थ और वर्णो की स्थापना-विशेष मे भी रहता है।

७. वाच्यार्थ केवल व्याकरण आदि के ज्ञान-मात्र से ही हो सकता है, परन्तु व्यंग्यार्थ केवल विशुद्ध प्रतिभा द्वारा काव्य मार्मिको को ही भासित हो सकता है।

८. वाच्यार्थ से केवल वस्तु का ही ज्ञान होता है, पर व्यग्यार्थ से चमत्कार ( आनन्द का आस्वादन ) उत्पन्न होता है।

महिम भट्ट ने व्यग्यार्थ को स्वतन्त्र न मान कर केवल अनुमेय ही माना है। वे कहते है कि जिस व्यंग्यार्थ की सिद्धि व्यंजना के द्वारा कही जाती है, वह वास्तव मे अनुमान के द्वारा ही होती है अर्थात् वाच्यार्थ और तथाकथित व्यग्यार्थ मे लिंग-लिंगी सम्बन्ध है। इसके उत्तर मे मम्मट का कथन है कि सर्वत्र ऐसा नही होता, ऐसा भी प्राय: होता है कि यह वाच्यार्थ रूप लिंग ( साधन-हेतु ) निश्चयात्मक न होकर अनैकांतिक ( व्यभिचारी ) ही हो और उससे लिंगी ( साध्य ) की सिद्धि न हो। अतएव व्यंग्यार्थ को सर्वत्र अनुमेय कैसे मान सकते हैं ? ( देखिये काव्यप्रकाश पंचम उल्लास का उत्तरार्ध )। वैसे भी इसका स्पष्ट प्रतिवाद यही है कि अनुमान मे साधन से साध्य की सिद्धि तर्क के आधार पर होती है, पर ध्वनि मे वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति तर्क के सहारे नही होती। यह प्रत्यक्ष है इसमे प्रमाण की आवश्यकता नही।

ध्वनि और रस :—भरत ने रस की परिभाषा की है: विभाव, अनुभाव, संचारी आदि के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इससे स्पष्ट है कि काव्य मे केवल विभाव, अनुभाव आदि का ही कथन होता है। उनके संयोग के परिपाक रूप रस का नहीं—अर्थात् रस वाच्य नही होता। इतना ही नहीं, रस का वाचक शब्दो द्वारा कथन एक रस-दोष भी माना जाता है, रस केवल प्रतीत होता है। दूसरे, जैसे कि अभी व्यंजना के विषय मे कहा गया किसी उक्ति का वाच्यार्थ रस-प्रतीति नही

करता। केवल अर्थ-बोध कराता है। रस सहृदय की हृदय-स्थिति वासना की आनन्दमय परिणति है जो अर्थ-बोध से भिन्न है। अतएव उक्ति द्वारा रस का प्रत्यक्ष वाचन नहीं होता, अप्रत्यक्ष प्रतीति होती है—पारिभाषिक शब्दों में 'व्यंजना' या 'ध्वनन' होता है। इसी तर्क से ध्वनिकार ने उसे केवल रस न मान कर रस-ध्वनि माना है। ध्वनि के अनुसार जो उत्तम, मध्यम और अधम काव्य माने गये है उनमें उत्तम काव्य के तीन भेद है—रस-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि, और अलंकार-ध्वनि इनसे रस-ध्वनि सर्व-श्रेष्ठ है। इस प्रकार रस ध्वनि सिद्धांत के अनुसार काव्य का सर्वश्रेष्ठ तत्व है। शास्त्रीय दृष्टि से ध्वनि और रस का यही सम्बन्ध है।

अब मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखिये। मनोविज्ञान के अनुसार कविता वह साधन है जिसके द्वारा कवि अपनी रागात्मक अनुभूति को सहृदय के प्रति संवेद्य बनाता है। संवेद्य बनाने का अर्थ यह है कि कवि उसको इस प्रकार अभिव्यक्त करता है कि सहृदय को केवल उसका अर्थ-बोध ही नहीं होता, वरन् उसके हृदय में समान रागात्मक अनुभूति का संचार भी हो जाता है। इस रीति से कवि सहृदय को अपने हृदय रस का बोध न कराकर संवेदन कराता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सहृदय की दृष्टि से रस-संवेद्य है, बोधव्य अर्थात् वाच्य नहीं। यह एक साध्य सिद्ध हो जाने के उपरान्त, अब प्रश्न उठता है कि कवि अपने हृदय-रस को सहृदय के लिए संवेद्य किस प्रकार बनाता है ? इसका उत्तर है भाषा के द्वारा, परन्तु उसे भाषा का साधारण प्रयोग न कर ( क्योंकि हम देख चुके है कि साधारण प्रयोग तो केवल अर्थ-बोध ही कराता है ) विशेष प्रयोग करना पड़ता है अर्थात् शब्दों को साधारण 'वाचक-रूप' मे प्रयुक्त न कर विशेष 'चित्र-रूप' मे प्रयुक्त करना पड़ता है। चित्र-रूप से तात्पर्य यह है कि वे श्रोता के मन मे भावना का जो चित्र जगाएं वह क्षीण और धूमिल न होकर पुष्ट और भास्वर हो; और यह कार्य कवि की कल्पना-शक्ति की अपेक्षा करता है क्योंकि कवि-कल्पना की सहायता के बिना सहृदय की कल्पना में यह चित्र साकार कैसे होगा ?

दूसरे शब्दो मे हम कह सकते है कि यह 'विशेष प्रयोग' भाषा का कल्पनात्मक प्रयोग है। अपनी कल्पना शक्ति का नियोजन करके कवि भाषा-शब्दो को एक ऐसी शक्ति प्रदान कर देता है कि उनको सुन कर सहृदय को केवल अर्थ-बोध ही नही होता वरन् उसके मन मे एक अतिरिक्त कल्पना भी जग जाती है, जो परिणति की अवस्था मे पहुँच कर रूप-संवेदन मे विशेष रूप से सहायक होती है। शब्द की इस अतिरिक्त कल्पना जगाने वाली शक्ति को ही ध्वनिकार ने 'व्यंजना' और रस के इस संवेद्य रूप को ही 'रस-ध्वनि' कहा है। ध्वनि-स्थापना के द्वारा वास्तव में ध्वनिकार ने काव्य में कल्पना-तत्व के महत्व की ही प्रतिष्ठा की है।

ध्वनि मे अन्य सिद्धान्तो का समाहार :—जैसा कि आरम्भ मे ही कहा जा चुका है ध्वनिकार जिन दो उद्देश्यो को लेकर चले थे, उनमे से एक अन्य सभी प्रचलित सिद्धान्तो का ध्वनि मे समाहार करना भी था और वास्तव मे बाद मे ध्वनि-सिद्धान्त की सर्वमान्यता का मुख्य कारण भी यही हुआ। ध्वनि को उन्होने इतना व्यापक बना दिया कि उसमे न केवल उनके पूर्ववर्ती रस, गुण-रीति, अलंकार आदि का ही समाहार हो जाता था वरन् उनके परवर्ती वक्रोक्ति, औचित्य आदि भी उससे बाहर नही जा सकते थे। इसकी सिद्धि दो प्रकार से हुई—एक तो यह कि रस की भाँति गुण-रीति, अलंकार, वक्रता आदि भी व्यंग्य ही रहते है। वाचक शब्द द्वारा न तो माधुर्य आदि गुणो का कथन होता है न वैदर्भी आदि रीतियो का, न उपमा आदिक अलंकारो का और न वक्रता का ही। ये सब ध्वनि-रूप मे ही उपस्थित रहते हैं। दूसरे गुण, रीति, अलंकार आदि तत्व प्रत्यक्षत. अर्थात् सीधे वाच्यार्थ द्वारा मन को आह्लाद नही देते है। अतएव ये सभी उसीके सम्बन्ध से, उसीका उपकार करते हुए अपना अस्तित्व सार्थक करते है। इसके अतिरिक्त इन सबकी महत्व भी अपने प्रत्यक्ष रूप के कारण नही है वरन् ध्वन्यार्थ के ही कारण है क्योकि जहा ध्वन्यार्थ नही होगा वहाँ ये आत्मा-विहीन पंचतत्वो अथवा आभूषण आदि के समान ही निरर्थक होगे। इसीलिए ध्वनिकार ने इन्हे ध्वन्यार्थ रूप अंगी के अंग माना है। इनमे गुणो का सम्बन्ध चित्त की द्रुति, दीप्ति आदि से है, अतएव वे ध्वन्यार्थ के साथ ( जो मुख्यतया रस ही होता है ) अंतरंग रूप से सम्बद्ध है जैसे कि शौर्यादि आत्मा के साथ। रीति अर्थात् पद-संघटना का सम्बन्ध शब्द-अर्थ से है; इसलिए वह काव्य के शरीर से सम्बद्ध है। परन्तु फिर भी जिस प्रकार कि सुन्दर शरीर-संस्थान मनुष्य के बाह्य व्यक्तित्व की शोभा बढाता हुआ वास्तव मे उसकी आत्मा का ही उपकार करता है इसी प्रकार रीति भी अन्तत. काव्य की आत्मा का ही उपकार करती है। अलंकारो का सम्बन्ध भी शब्द-अर्थ से ही है, परन्तु रीति का सम्बन्ध स्थिर है, अलंकारो का अस्थिर, अर्थात् यह आवश्यक नही है कि प्रत्येक काव्य-शब्द मे अनुप्रास या किसी अन्य शब्दालंकार का और प्रत्येक प्रकार क काव्यार्थ मे उपमा या किसी अन्य अर्थालंकार का चमत्कार नित्य रूप से वर्तमान ही हो। अलंकारो की स्थिति आभूषणो की-सी है, जो अनित्य रूप से शरीर की शोभा बढाते हुए अन्ततः आत्मा के सौदर्य्य मे ही वृद्धि करते है। क्योंकि शरीर-सौन्दर्य्य की स्थिति आत्मा के बिना सम्भव नही है। शव के लिए सभी आभूषण व्यर्थ होते हैं। (यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि ध्वनिकार ने अलङ्कार को अत्यन्त संकुचित अर्थ मे ग्रहण किया है। अलङ्कार को व्यापक रूप मे ग्रहण करने पर अर्थात् उसके अन्तर्गत सभी प्रकार के उक्ति-चमत्कार को ग्रहण करने पर चाहे उसका नामकरण हुआ हो या नही, चाहे वह लक्षणा का चमत्कार हो अथवा व्यंजना का—जैसा कि

कुन्तक ने वक्रोक्ति के विषय मे किया है, उसको न तो शब्द-अर्थ का अस्थिर धर्म सिद्ध करना ही सरल है, और न अलङ्कार-अलङ्कार्य मे इतना स्पष्ट भेद ही किया जा सकता है।)

उपसंहार :—वास्तव मे हमारे साहित्य-शास्त्र मे सम्प्रदायो की जो यह प्रतिद्वन्द्विता खडी हो गई, उसका मूल कारण यही था कि हमारे आचार्य अलङ्कार्य-अलङ्कार—आत्मा शरीर मे न केवल व्यवहार रूप से ही वरन् तत्व रूप से भी अत्यन्त स्पष्ट भेद मानकर चले है। रस, अलङ्कार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति—ये पॉच पृथक् सिद्धान्त नही है वरन् मूलत: केवल दो ही सिद्धान्त है—रस और रीति अथवा रस और अलंकार। एक केवल आत्मा को ही सम्पूर्ण महत्व दे देता है दूसरा केवल शरीर को। रस और ध्वनि मूलतः रस के ही अन्तर्गत आ जाते है और ये आत्मवादी है, अलंकार, रीति और वक्रोक्ति तत्वत रीति अथवा अलंकार के अन्तर्गत आते है। (शुक्लजी ने 'रीति' नाम ही अधिक उपयुक्त माना है, जो वास्तव मे अलंकार की अपेक्षा अधिक संगत एव स्पष्ट है।) और ये शरीरवादी है। आत्मा और शरीर की सापेक्षिक अनिवार्यता स्वतः-सिद्ध है, यदि आत्मा के बिना शरीर निरर्थक है तो शरीर के बिना आत्मा का भी कोई मूर्त अस्तित्व नही है। यही बात रस और रीति के सम्बन्ध मे भी घटती है। भाव का सौदर्य्य उक्ति के सौदर्य्य से निरपेक्ष कैसे हो सकता है? इसी प्रकार उक्ति का सौदर्य्य भी भाव के सौंदर्य्य से निरपेक्ष नही हो सकता। उक्ति के सौदर्य्य मे मै केवल कौतूहल या तमाशा खडा करने वाले चमत्कार को, जिसे वामन, कुन्तक आदि ने भी अत्यन्त हेय माना है, परिगणित नही करता क्योकि वह सभी दशाओ मे सहृदय का अनुरंजन नही कर सकता। इसलिए तत्व रूप मे रस और रीति सम्प्रदाय एक दूसरे के विरोधी किसी प्रकार भी नहीं हो सकते। ये तो एक दूसरे के पूरक एव अन्योन्याश्रित है और इसीलिए प्रतिवाद करते हुए भी ये एक दूसरे के महत्व को किसी न किसी रूप मे स्वीकार ही करते रहे है।

# नायिका-भेद

पूर्व-वृत्त—नायिका-भेद को लेकर संस्कृत साहित्य-शास्त्र मे कोई नवीन वर्ग नही उठ खडा हुआ। उसका कोई विशेष महत्व भी नही था। आरम्भ मे केवल नाट्य-शास्त्रो मे ही नायक-नायिका का वर्गीकरण एवं उनके भेद-प्रभेदो का वर्णन होता था, जिससे कि नाटककार अपने पात्रो के शील, मर्यादा का आदि से अंत तक उचित रीति से निर्वाह कर सके। परन्तु बाद मे जब रस की प्रतिष्ठा हो गई और रसो मे भी शृंगार को रस-राजत्व प्राप्त होगया तो शृंगार के आलम्बन-रूप नायक-नायिका को भी विशेष महत्व दिया जाने लगा और उनका विस्तृत वर्णन होने लगा। नाट्य-सम्बन्धी ग्रन्थ तो मुख्यत: दो ही है—एक भरत का नाट्य-शास्त्र दूसरा धनञ्जय का दश-रूपक। साहित्य-शास्त्र के अन्य अंगो की भांति नायिका-भेद का भी प्रथम निरूपण भरत ने ही किया है। नाट्य-शास्त्र के बाईसवे अध्याय मे नायिका-भेद की लगभग समस्त सामग्री किसी न किसी रूप मे मिल जाती है। उसमे मुख्य विषय के अतिरिक्त हाव, मानमोचन के उपाय, दूती आदि अन्य सब प्रसंगो का भी विस्तृत वर्णन है। भरत के अनुसार प्रकृति के विचार से स्त्रियाँ तीन प्रकार की होती है—उत्तमा, मध्यमा और अधमा :—

सर्वासामेव नारीणां त्रिविधा प्रकृतिः स्मृता।
उत्तमा मध्यमा चैव तृतीया चाधमा स्मृता॥

[ नाट्य-शास्त्र-अ २१०२२ ]

फिर (उनको अवस्थानुसार) आठ भेदो मे विभक्त किया जा सकता है—

तत्र वासकसज्जा वा विरहोत्कण्ठिता वा।
खण्डिता विप्रलब्धा वा तथा प्रोषित-भर्तृका।
स्वाधीन-पतिका वापि कलहान्तरितापि वा।
तथाभिसारिका चैव इत्यष्टौ नायिका· स्मृता·।

[ नाट्य-शास्त्र अ० २२

इसके आगे भरत ने स्त्रियों के फिर तीन भेद किये हैं:—वेश्या, कुलजा और प्रेष्या (जो वास्तव में सामान्या, स्वकीया और परकीया के प्रकारांतर ही हैं)। उधर नायक के धीर-ललित आदि भेदों के समानान्तर भी उन्होंने नायिकाओं के चार भेद माने हैं। अन्त में, राजाओं के अन्तःपुर का वर्णन करते हुए महादेवी, देवी, स्वामिनी से लेकर अनुचारिका, परिचारिका आदि तक का विस्तृत उल्लेख है। परवर्ती आचार्यों ने प्रकृति-भेद, अवस्था-भेद तथा कर्म-भेद को तो ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है। हां, धीर-ललित आदि भेदों को उन्होंने नायकों तक ही सीमित रखा है। अन्तःपुरवासिनी महादेवी, देवी आदि भी धीरे-धीरे किसी न किसी व्याज से नायिका-भेद में अंतर्भूत होगई।

धनञ्जय का विवेचन स्वभावतः ही भरत की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित और पूर्ण है—वास्तव में उनसे पूर्व रुद्रट और रुद्रभट्ट इसको व्यवस्था और विधान दे चुके थे। धनञ्जय ने भरत के प्रकृति, कर्म और अवस्था—भेदों के अतिरिक्त धीरादि भेद भी दिए हैं, और वय-भेद का भी पूरा विस्तार किया है।

वय-भेद— मुग्धा—१. वयोमुग्धा
२. काममुग्धा
३. रतिवामा
४. कोपमृदु
मध्या—१. यौवनवती
२. कामवती
प्रगल्भा—१. गाढ-यौवना
२. भाव-प्रगल्भा
३. रति-प्रगल्भा

[ देखिये दशरूपक ]

इनके अतिरिक्त काव्य-शास्त्र के अन्य आचार्यों ने भी रस-प्रसंग के अन्तर्गत नायिका-भेद का उपयुक्त वर्णन किया है—उनमें क्षेमेन्द्र, केशवमिश्र और विशेषरूप से विश्वनाथ उल्लेखनीय हैं। विश्वनाथ का विवेचन धनंजय की भी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और विस्तृत है। ( शायद धनञ्जय से ही संकेत ग्रहण कर ) उन्होंने मुग्धा, मध्या और प्रौढा के और भी सूक्ष्म अवान्तर भेद किये है—

मुग्धा—(१) प्रथमावतीर्ण-यौवना (२) प्रथमावतीर्णमदनविकारा (३) रतिवामा (४) मानमृदु (५) समधिक लज्जावती।

मध्या—(१) विचित्र-सुरता (२) प्ररूढ-स्मरा (३) प्ररूढयौवना (४) ईषत्-प्रगल्भ-वचना (५)मध्यम-व्रीडिता।

प्रगल्भा-(१) स्मरान्धा (२) गाढ-तारुण्या (३) समस्त-रत-कोविदा (४) भावोन्नता (५) दरव्रीडा (६) आक्रांता।

नायिका के अलंकारों की संख्या विश्वनाथ ने दस से अठारह तक पहुँचा दी है।

परन्तु ये ग्रन्थ तो आधार मात्र रहे—नायिका-भेद की जो परिपाटी चली, उसका आदिम ग्रन्थ रुद्रभट्ट का शृङ्गार-तिलक ही माना जा सकता है, क्योंकि वही काव्य-शास्त्र का सबसे प्रथम ग्रन्थ है, जिसमे शृंगार को मुख्य रस मानकर उसके अंग-उपांगों अर्थात् संभोग, विप्रलम्भ, नायक-नायिका, कामदशा, मान-मोचन के उपाय आदि की स्वतन्त्र रूप से व्याख्या मिलती है। शृंगार-तिलक के बाद इस प्रकार का दूसरा ग्रन्थ भोज का शृंगार-प्रकाश है, जिसमे शृंगार ही एक रस माना गया है। भोज ने भी उपर्युक्त सभी प्रसंगों का अपनी विस्तार-प्रिय शैली मे अग्नि-पुराण के अनुसरण पर बीस परिच्छेदों मे विस्तृत विवेचन किया है। इसके बाद तो इन शृंगार-परक ग्रन्थों की झडी लग गई और न जाने कितने छोटे-मोटे ग्रन्थो का प्रणयन हुआ, जिनमे शारदातनय का भाव-प्रकाश, शिंग भूपाल का रसार्णव और भानुदत्त के दो ग्रन्थ रसतरंगिणी और रसमञ्जरी विशेष महत्वपूर्ण है। इनमें सबसे व्यवस्थित ग्रन्थ है रसमञ्जरी, जो हिन्दी नायिका-भेदका मूलाधार है।

भानुदत्त ने अपने पूर्ववर्ती सभी ग्रन्थो का उचित परीक्षण करने के उपरांत नायिका-भेद को सर्वांगपूर्ण बना दिया है। इसमे सन्देह नही कि उन्होने उसका अत्यधिक विस्तार किया है, परन्तु साथ ही विश्वनाथ आदि के कतिपय अनावश्यक भेदों को यथास्थान कॉट-छॉट भी दिया है। भानुदत्त का काव्य-शास्त्र के उन्नायक आचार्यों मे तो कोई स्थान नही है किन्तु उनकी दृष्टि अत्यंत विशद और स्वच्छ थी। उनका रस और नायिका-भेद का विवेचन अधिक मौलिक न होते हुए भी अत्यन्त स्पष्ट और संगोपांग है, इसीलिए तो उत्तरकालीन कवि शिक्षा-प्रणेताओं मे वे सबसे अधिक लोक-प्रिय होगए। हिंदी मे आरम्भ से ही उनका प्रत्यक्ष प्रभाव लक्षित होता है। कृपाराम की हिततरंगिणी, नन्ददास की रसमंजरी, चितामणि का कविकुल-कल्पतरु, मतिराम का रस-राज, देव का भाव-विलास, रसलीन का रस-प्रबोध, बेनीप्रवीन का नवरस-तरंग, पद्माकर का जगद्विनोद आदि, प्रायः समस्त शुद्ध रस-ग्रन्थ रस-तरंगिणी और रस-मञ्जरी से अत्यन्त स्पष्ट रूप मे प्रभावित है। इनमे स्थान-स्थान पर भानुदत्त का उल्लेख और कही-कही सीधा अनुवाद मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्ययुग मे भानुदत्त के उपर्युक्त दोनो ग्रन्थ पाठ्य-ग्रन्थ के रूप मे पढे जाते थे। रसमञ्जरी मे मुग्धा के केवल तीन भेद माने गए हैं:–

१. अंकुरित-यौवना [ज्ञात-यौवना और अज्ञात-यौवना]

२. नवोढा

३. विश्रब्ध-नवोढा।

मध्या का कोई अवान्तर भेद स्वीकार नहीं किया गया और प्रगल्भा के केवल दो ही भेद ग्रहण किये गए हैं:—(१) रति प्रीता, (२) आनन्दात्संमोहा।

विश्वनाथ ने परकीया के केवल दो भेद माने हैं:—(१) परोढा (२) कन्यका; परंतु भानुदत्त ने परोढा के प्रमुख ६ भेद और उनमें से कई भेदों के अवान्तर-भेद कर दिए हैं.—

परोढा १. गुप्ता [(अ) भूत, (आ) भविष्यत, (इ) वर्तमान]

२. विदग्धा [(अ) वाग्विदग्धा, (आ) क्रिया-विदग्धा]

३ लक्षिता, ४. कुलटा, ५. अनुशयना :—

{ १. वर्तमान स्थान-विघटना<br>२. भावी स्थान ,,<br>३. संकेत स्थल नष्टा }

६. मुदिता

इसी प्रकार अवस्था-भेदों में मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा, परकीया और सामान्या सभी का समाहार करते हुए—उनमें से अभिसारिका के तीन अवान्तर भेद कर डाले हैं :—

अभिसारिका—[१. ज्योत्स्नाभिसारिका, २. दिवाभिसारिका,
३. तमोभिसारिका]

और प्रोषित-भर्तृका के अन्तर्गत प्रोत्स्य-भर्तृका का भी उल्लेख किया है। उधर वर्गक्रम में भी विस्तार हुआ है। उदाहरण के लिए—

दशानुसार—१. अन्य-संभोग-दुःखिता, २. वक्रोक्ति-गर्विता [प्रेम-गर्विता],
३. मानवती। [सौन्दर्य-गर्विता]

पति-प्रेमानुसार—१. ज्येष्ठा, २. कनिष्ठा।

अंशानुसार—१. दिव्य, २. अदिव्य, ३. दिव्यादिव्य।

आगे चलकर श्री रूप गोस्वामी ने शृंगार रस के इन प्रसंगों की भक्तिपरक व्याख्या करते हुए उनको एक नया रूप ही दे डाला। उन्होंने वैष्णव सिद्धान्त के अनुसार जीवन में मुख्य रस माना उज्ज्वल या माधुर्य। भक्ति के पाँच भेद हैं—शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। इनमें माधुर्य सबसे प्रमुख है—इसीको उन्होंने भरत के अनुसार उज्ज्वल रस कहा है, जो वास्तव में शृंगार का ही धार्मिक रूप है। इसका स्थायीभाव है कृष्ण-रति, और आस्वादयित न क्त। शृंगार के

भेद-प्रभेदो और समस्त नायिकाभेद को लेखक ने राधा-कृष्ण की प्रणय-लीला के अनुसार ही घटाया है। यह उज्ज्वल रस लौकिक अथवा ऐन्द्रिय अनुभूतियो से सम्बन्ध न रखकर आध्यात्मिक अनुभूतियों से सम्बन्ध रखता है।

इन लेखको ने रस-शास्त्र के विवेचन मे किसी प्रकार की मौलिक उद्भावनाएं नही की। वास्तव मे इनका सम्बन्ध भी काव्य-शास्त्र की अपेक्षा काम-शास्त्र से ही अधिक था। फिर भी आलोचक चाहे ये अच्छे न रहे हो, परन्तु इनकी रसिकता मे सन्देह नही किया जा सकता। इन्होने वैसे भी आलोचना की अपेक्षा वर्गीकरण ही अधिक किया है। अपनी और लोक की रुचि के अनुसार इन्होने शृंगार रस को ले लिया और उसीके विभिन्न अंगो के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद और अवान्तर भेद करते रहे। इनका मूल उद्देश्य, जैसा कि रुद्रभट्ट ने स्वयं कहा है, उदीयमान कवियो को शृंगार के छंद रचने की शिक्षा देना और उससे भी अधिक साधारण रसिको का मनोरंजन एवं ज्ञानवर्द्धन करते हुए गोष्ठी की शोभा बढाना था—"कि गोष्ठी-मंडनं हन्त शृंगार-तिलकं विना"।

नायिका-भेद का मनोवैज्ञानिक आधार—सबसे पूर्व नायिका के साधारण लक्षण को ही लीजिए—"नायक की ही भांति, त्याग, कृतित्व, कुलीनता, लक्ष्मी, रूप यौवन, चातुर्य्य, विदग्धता, तेज और उसके साथ ही शील आदि गुण से युक्त, अनुराग की पात्र स्त्री काव्य की नायिका होती है।" नायिका को उपर्युक्त गुणो से अलंकृत मानने का मूल कारण हमे रस के साधारणीकरण सिद्धांत मे मिलेगा। साधारणीकरण मुख्यतः आलम्बन का ही होता है। अतएव शृंगार की आलम्बन नायिका का स्वरूप ऐसा होना चाहिये कि वह सभी के रति-भाव की आलम्बन हो सके। इसी दृष्टि से उसमे उपर्युक्त गुणो को अनिवार्य्य मानकर उसके अन्तर्बाह्य को आकर्षक रूप दिया गया है। इस प्रकार काव्य मे स्थूलतः किसी प्रकार वाणी अथवा कर्म द्वारा मर्यादा-उल्लंघन की आशंका नहीं रहती।

जैसाकि मैने ऊपर कहा है, नायिका के इन भेद-प्रभेदो का आधार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधिक पुष्ट नहीं है, परन्तु उसे सर्वथा अनर्गल फिर भी नहीं कहा जा सकता। तात्पर्य्य यह है कि यह विभाजन नारी की आंतरिक मनोवृत्तियो से सम्बद्ध किसी एक निश्चित एवं सर्वव्याप्त आधार को लेकर नही किया गया, परन्तु उसके पीछे कोई आधार या संगति ही न हो यह बात भी नही है। वास्तव मे यहाँ हमे विभिन्न आधारों की संसृष्टि मिलती है, जो अधिकांश मे जीवन के बाह्य रूपो पर आश्रित है। प्राचीन आचार्यो ने नायिका-भेद के विभिन्न आधार माने हैं:—

१. जाति—पद्मिनी, शंखिनी इत्यादि ।
२. कर्म—स्वकीया, परकीया, सामान्या ।
३. पति का प्रेम—ज्येष्ठा, कनिष्ठा ।
४. वय—मुग्धा, मध्या, प्रौढा ।
५. मान—धीरा, अधीरा, धीराधीरा ।
६. दशा—अन्य-सुरति-दुःखिता, मानवती और गर्विता ।
७. काल ( अवस्था )—प्रोषित-पतिका, कलहांतरिता, खण्डिता, अभिसारिका आदि ।
८. प्रकृति या गुण—उत्तमा, मध्यमा, अधमा ।

आइये इनकी एक एक कर परीक्षा करें । पहले आधार को नाम दिया गया है जाति । वास्तव मे नायिकाओं का यह व ै और इसका यह नाम दोनों ही काम-शास्त्र से लिए गये है । काम-शास्त्र मे यह भेद स्त्री की काम-सम्बन्धी प्रतिक्रियाओं को लेकर, जो कि उसकी प्रकृति और शारीरिक स्थिति पर निर्भर रहती है, किए गये है। साधारणतः संस्कृत मे जाति एक अत्यन्त व्यापक शब्द है, यहाँ उसका प्रयोग शास्त्र के पारिभाषिक रूप में किया गया है जिसमे आपत्ति के लिए कोई स्थान नहीं है । वैसे यह जाति-विभाजन बहुत कुछ प्रकृति के ही आधार पर किया हुआ है । वर्ग और जातिका अर्थ है यहाँ 'प्राकृतिक वर्ग'। दूसरे वर्गके लिए कर्म शब्द का प्रयोग है । यह शब्द वास्तव मे अर्ध-व्यक्त है । कर्म से तात्पर्य शायद नारी-धर्म की दृष्टि से अनुचित-उचित कर्म का है । अपने पति से अनुरक्त होना नारी का धर्म है और यह उसके लिए उचित कर्म है, दूसरे पति से प्रेम करना अनुचित कर्म है, और धन के लिए वार-विलास करना नीच कर्म है । इस प्रकार अर्थ बैठ तो जाता है, परन्तु शब्द मे सम्यक् अर्थ-ध्वनन् की शक्ति नही है । कर्म शब्द से कुछ व्यवसाय-कर्म (profession) की गन्ध आती है, जो कि सामान्या के लिए तो ठीक है परंतु स्वकीया, परकीया के लिए उपयुक्त नही है । वस्तुतः नायिका के ये तीन भेद नायक-नायिका के सामाजिक सम्बन्ध को लेकर चले हैं । यदि यह सम्बन्ध वैध अर्थात लोक-वेद-सम्मत वैवाहिक सम्बन्ध है तो नायिका स्वीया है; यदि अवैध अर्थात् लोक-वेद-विरुद्ध स्वतन्त्र प्रेम का सम्बन्ध है तो नायिका परकीया है; और यदि यह सम्बन्ध प्रेम का आदान-प्रदान न होकर व्यवसायिक है तो वह सामान्या है । कर्म शब्द की इसी अव्याप्ति के कारण कृपाराम ने लोकरीति और दास ने धर्म शब्द का प्रयोग किया है, जो निस्संदेह दोनो ही अधिक सार्थक हैं । ज्येष्ठा-कनिष्ठा का एकमात्र आधार नायिका के प्रति पति के प्रेम की न्यूनता-अधिकता ही है, परन्तु यह वर्गीकरण अत्यन्त गौण है । चौथे वर्ग का आधार माना गया है वय-भेद ।

यहाँ वय का आधार तो एक प्रकार से स्वतः स्पष्ट ही है, परन्तु वय के साथ-साथ रति-प्रसंग के प्रति नायिका के दृष्टिकोण मे जो परिवर्तन होता जाता है वास्तविक महत्व उसका है। फिर भी वय से अधिक उपयुक्त एक शब्द शायद और नही मिलेगा। आगे धीरादि भेद हैं जिनका आधार माना गया है नायिका का मान अथवा ईर्ष्या-कोप, जिसका सम्बन्ध नायक के अपराध से है। यह विभाजन अधिक मूलगत न होकर बहुत कुछ संयोग और परिस्थिति पर आश्रित है, और फिर यह खण्डिता आदि की सीमा में भी पहुंच जाता है। इससे भी अधिक शिथिल और अनावश्यक है दशानुसार विभाजन, जिसके अन्तर्गत अन्य-सुरति-दु.खिता, मानवती और गर्विता नायिकाओं को लिया गया है। इनमे से अन्य-सुरति-दुःखिता और मानवती का तो खण्डिता तथा धीरादि मे पूर्णतः अन्तर्भाव हो जाता है, और गर्विता भी स्वाधीन-पतिका मे सरलता से अन्तर्भूत कर ली जा सकती है। अब दो वर्ग शेष रह जाते है जो सर्वथा मौलिक एवं सर्वमान्य है—एक मे अवस्था या काल के अनुसार स्वाधीन भर्तृका आदि अष्ट नायिकाओं का वर्णन आता है, दूसरे मे प्रकृति या गुण के अनुसार उत्तमा मध्यमा तथा अधमा का। ये दोनो वर्ग भरत के समय से ही चले आ रहे है और बाद के सभी आचार्यों ने ज्यो के त्यो स्वीकृत कर लिए है। स्वाधीन-भर्तृका आदि का आधार प्रायः 'काल' माना जाता है। भरत ने 'अवस्था' की ओर संकेत किया है, और अवस्था शब्द अधिक उपयुक्त है भी। वास्तव मे ये भेद नायक के दृष्टिकोण, व्यवहार अथवा स्थिति पर निर्भर नायिका की तत्कालीन मनोदशा के आश्रित है। यदि नायक पूर्णतः अपने आधीन है तो सर्वथा सुखी और संतुष्टमना नायिका 'स्वाधीन-पतिका' कहाती है; अन्य स्त्री के संसर्ग-चिन्हो से युक्त नायक जिसके पास जाय वह ईर्ष्या से कलुषित चित्तवाली नायिका 'खण्डिता' कहाती है, जो नायक से मिलने के लिए संकेत-स्थान पर जाए ऐसी कामातुरा नायिका को 'अभिसारिका' कहते हैं; जो क्रोध के मारे पहले तो प्रार्थना करते हुए नायक को निरस्त कर दे फिर पीछे से पछताए उसे 'कलहांतरिता'; और संकेत करके भी प्रिय जिसके पास न जाए उस नितान्त अपमानिता को 'विप्रलब्धा' कहते है। अनेक कार्यों मे फंसकर जिसका पति परदेश चला गया है वह काम-पीडिता नायिका 'प्रोषित-पतिका' कहाती है, प्रियसमागम का निश्चय होने से जो वस्त्रालंकारो से सुसज्जित हो रही हो, उसे 'वासकसज्जा' और आने का निश्चय करके भी दैव वश जिसका प्रिय न आ सके वह खिन्नमना नायिका विरहोत्कंठिता कहाती है। 'काल' शब्द से अभिप्राय समय—और स्पष्ट कर कहे तो | सामयिक स्थिति अर्थात् नायिका की तत्कालीन मनोदशा का है। थोडा वक्र करके कुछ लोगो ने इससे पूर्वापर क्रम का भी आशय निकालने का प्रयत्न किया है, और हिन्दी के एक आधुनिक लेखक ने उपर्युक्त

आठ भेदों से क्रम बाँधने का प्रयत्न किया है। परन्तु यह न अभिप्रेत है और न संगत, क्योंकि स्पष्टतः ही ये अवस्थाएं पूर्वापर नहीं है। यह भ्रांति वास्तव में 'काल' शब्द के प्रयोग से ही फैली है। अन्तिम आधार है गुण, जिसे भरत ने प्रकृति कहा है। यद्यपि इन दोनों मे गुण ही अधिक प्रचलित है, परन्तु यदि आप परिभाषा का विश्लेषण करेंगे तो प्रकृति ( स्वभाव ) ही अधिक संगत बैठेगा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नायिका-भेद का विशाल भवन जिस मूलाधार पर खड़ा हुआ है उसमे अनेक प्रकार के समान-असमान अवांतर आधारों की संसृष्टि है—जो कहीं सामाजिक सम्बन्ध, कहीं स्वभाव, कहीं मनोदशा, कहीं काम-प्रवृत्ति. कहीं आभ्यंतर और शारीरिक प्रकृति, कहीं केवल नायक के प्रेम की न्यूनता-अधिकता पर ही आश्रित है। इनमें कुछ आधार मूलगत और कुछ नितांत स्थूल हैं। इतना अवश्य है कि इन सभी में नायक-नायिका की पारस्परिक रति-भावना मूल सूत्र के रूप में अनिवार्यतः अनुस्यूत है और यही नायिका-भेद का मूलाधार है। इस वर्गीकरण मे चरित्र-चित्रण एवं शील-निरूपण का अत्यन्त स्थूल प्रयत्न मिलता है। स्थूल इसलिए कि यह सर्वथा वर्गगत ही है, व्यक्ति-गत नहीं। यह वर्गीकरण इस सिद्धांत को लेकर चला है कि मानव-प्रकृति मूलतः एक है, एक विशेष परिस्थिति में वह एक विशेष रूप मे ही प्रतिक्रिया करेगी। वास्तव मे यह सिद्धांत आत्यन्तिक रूप मे चाहे ठीक भी हो, परन्तु सामान्यतः अधिक व्यवहार्य्य नही है क्योंकि प्रकृति की एकता प्रायः दुर्लभ है। ऊपर से एक दिखने वाली परि-स्थितियों मे कितनी आंतरिक गुत्थियाँ हैं, यह हम साधारणतः नहीं जान पाते। इसकी तह मे जनन-विज्ञान, समाज-विज्ञान और इनके परिणाम-स्वरूप मनोविज्ञान के जाल उलझे हुए हैं। इसीलिए मानव-मन का वर्ग-गत विश्लेषण साधारणतः सफल नही होता, व्यक्तिगत विश्लेषण ही व्यवहार्य्य होता है। इसके अतिरिक्त इस विभाजन मे एक और स्पष्ट दोष यह है कि एक तो यह प्रेम अथवा काम-वृत्ति के वाह्य रूप को ही लेकर, दूसरे उसको स्वतः परिमित भी मान कर चला है। काम-वृत्ति अपने मूल रूप में स्वतन्त्र वृत्ति अवश्य है, पर जीवन के व्यवहार-तल पर उस पर अन्य प्रवृत्तियों की भी क्रिया-प्रतिक्रिया होती है यह असंदिग्ध है। हमारे नायिका-भेद में इसका ध्यान नही रखा गया। उसका तो मुख-वाक्य यही है कि सब कुछ होते हुए भी स्त्री केवल स्त्री ही है—'A woman is a woman for all that', इसीलिए वह शास्त्रीय विवेचन मे इतना योग नही दे सका, जितना काव्य-सृष्टि मे। नायिका-भेद सिद्धान्त-शास्त्र न बन कर चित्र-संग्रह ही बन गया।

# रीति-काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ

# रीति-काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ

रीति शब्द का अर्थ और इतिहास—हिन्दी मे रीति का प्रयोग साधारणत: लक्षण ग्रन्थो के लिए होता है : जिन ग्रन्थो मे काव्य के विभिन्न अगो का लक्षण-उदाहरण सहित विवेचन होता है उन्हें रीति-ग्रन्थ कहते है, और जिस वैज्ञानिक पद्धति पर—जिस विधान के अनुसार यह विवेचन होता है उसे रीति-शास्त्र कहते है। संस्कृत मे इसे अलंकार-शास्त्र अथवा काव्य-शास्त्र ही प्रायः कहा गया है। रीति का वहाँ एक विशेप अर्थ है और उसे एक विशेष सम्प्रदाय के लिये ही प्रयुक्त किया गया है। रीति का अर्थ वहाँ है विशिष्ट पद-रचना। जैसा कि शास्त्रीय पृष्ठ-भूमि से स्पष्ट है रीति-सम्प्रदाय रचना अथवा वाह्याकार को ही काव्य का सर्वस्व मान कर चला है—सम्भव है आरम्भ मे हिन्दी मे रीति शब्द का मूल संकेत रीति-सम्प्रदाय से ही लिया गया हो, परन्तु वास्तव मे यहां इसका प्रयोग सर्वथा सामान्य एवं व्यापक अर्थ मे ही हुआ है। यहाँ काव्य-रचना-सम्बन्धी नियमो के विधान को ही समग्रत: रीति नाम दे दिया गया है। जिस ग्रन्थ मे रचना-सम्बन्धी नियमो का विवेचन हो वह रीति ग्रन्थ, और जिस काव्य की रचना इन नियमो से आबद्ध हो वह रीति-काव्य है। स्वभावतः इस काव्य मे वस्तु की अपेक्षा रीति अथवा आकार की, आत्मा के उत्कर्ष की अपेक्षा शरीर के अलंकरण की प्रधानता मिलती है।

इस प्रकार रीति शब्द का यह विशिष्ट प्रयोग हिन्दी का अपना प्रयोग है, और यह नया नही है। रीति-काल के अनेक कवियो ने प्राय. आरम्भ से ही काव्य की रीति, अलकार-रीति, कवित-रीति आदि का प्रयोग स्पष्ट रूप से इसी अर्थ में किया है।

(१) अपनी अपनी रीति के काव्य और कवि-रीति।

[ देव, शब्द-रसायन ]

(२) काव्य की रीति सिखी सुकबीन सों, देखी सुनी बहु लोक की बातें।
[ दास, काव्य-निर्णय ]

(३) कवित-रीति कछु कहत हों व्यंग्य अर्थ चित लाय।
[ प्रतापसाहि, व्यंग्यार्थ-कौमुदी ]

इसी प्रकार पद्माकर ने अपने पद्माभरण में अलंकार-विवेचन को अलंकार-रीति कहा है। रीति से इनका तात्पर्य्य स्पष्टतः है प्रकार—प्रणाली का। रीति-काल के उत्तरार्ध में यह शब्द काफी प्रचलित हो गया था, और उसकी समाप्ति तक तो इसका मुक्त प्रयोग हो चला था। सरदार आदि कवियों के समय में यह शब्द इस रूप में सर्वसाधारण में स्वीकृत था। इसी के अनुसार तो मिश्र-बन्धुओं ने युग का नाम 'अलंकृत-काल' रखते हुए भी इन कवियों के ग्रन्थों को रीति-ग्रन्थ और उनके विवेचन को रीति-कथन ही कहा है। मिश्रबन्धु-विनोद में एक स्थान पर रीति के तत्कालीन प्रयोग की बड़ी स्वच्छ व्याख्या की गई है। "इस प्रणाली के साथ रीति-ग्रन्थों का भी प्रचार बढ़ा और आचार्य्यता की वृद्धि हुई।...आचार्य लोग तो कविता करने की रीति सिखलाते हैं, मानो वह संसार से यह कहते हैं कि अमुकामुक विषयों के वर्णनों में अमुक प्रकार के कथन उपयोगी हैं और अमुक प्रकार के अनुपयोगी। ऐसे ग्रन्थों से प्रत्यक्ष प्रकट है कि वह विविध वर्णनों वाले ग्रन्थों के सहायक मात्र हैं न कि उनके स्थानापन्न"। कहने का तात्पर्य्य यह है कि रीति शब्द जैसा कि कुछ लोगों का विचार है, शुक्लजी का आविष्कार नहीं है। वह बहुत पहले से हिन्दी में प्रयुक्त हो रहा था, इसीलिए तो शुक्लजी ने कहीं भी उसकी व्याख्या करने की चेष्टा नहीं की। शब्द स्वयं इतना सर्व-परिचित था कि व्याख्या की आवश्यकता ही नहीं हुई। फिर भी शुक्लजी की शास्त्र-निष्ठ प्रतिभा ने ही उसे शास्त्रीय व्यवस्था एवं वैज्ञानिक विधान दिया, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। उनसे पूर्व रीति शब्द का स्वरूप निश्चित और व्यवस्थित नहीं था। ऐसे लक्षण-ग्रन्थों के लिए भी, जिनमें रीति-कथन तो नहीं है, परन्तु रीति-बन्धन निश्चित रूप से है, रीति संज्ञा शुक्लजी से पहले अकल्पनीय थी। शुक्लजी ने कुछ अंशों में वामन के रीति शब्द का अर्थ-संकेत भी ग्रहण करते हुए रीति को केवल एक प्रकार न मान कर एक दृष्टिकोण माना। यह उनकी विशेषता थी। उनके विधान में, जिसने रीति-ग्रन्थ रचा हो, केवल वही रीति-कवि नहीं है वरन् जिसका काव्य के प्रति दृष्टिकोण रीति-बद्ध हो वह भी रीति-कवि है। शुक्लजी के उपरान्त कुछ आलोचकों ने इस काल को रीति-काल की अपेक्षा अलंकार-काल या शृङ्गार-काल कहना अधिक उपयुक्त माना, परन्तु हिन्दी में उनका अनुसरण नहीं हुआ। फलतः आज हिन्दी के लगभग सभी विद्वान्, आलोचक एवं इतिहासकार केशव,

विहारी, देव, पद्माकर आदि के काव्य-विशेष को जिसमे रचना-सम्बन्धी नियमो का विवेचन अथवा उन नियमो का बन्धन है रीति-काव्य के ही नाम से पुकारते हैं।

संस्कृत अलंकार-शास्त्र के विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृत मे रीति-ग्रन्थों के प्रणेता प्राय: कवि नही थे—आचार्य ही थे जो कविता न करके सिद्धान्तो का खंडन-मंडन और प्रतिपादन करते थे। भरत, वामन, रुद्रट, ध्वनिकार, अभिनव, कुंतक, मम्मट, आदि ने तो काव्य-रचना ही नही की—सूत्र, कारिका, वृत्ति आदि के द्वारा सैद्धान्तिक विवेचन मात्र किया है—दण्डी राजशेखर आदि जो कवि भी थे—उन्होने भी अपने दोनो रूपो को पृथक् ही रखा है। परन्तु फिर भी सस्कृत मे एक ऐसी परम्परा मिलती अवश्य है जिसमे कविता और आचार्यत्व दोनो रूपों का विभिन्न अनुपातो से सम्मिश्रण हुआ है—उदाहरण के लिए दण्डी, भानुदत्त, तथा पंडितराज जगन्नाथ ने गद्य मे विवेचन अवश्य किया है, परन्तु उदाहरण सभी अपने दिये हैं; इसके अतिरिक्त कुवलयानन्द, एकावली, प्रतापरुद्रयशोभूषण आदि के रचयिताओ ने तो लक्षण निरूपण के समान ही उदाहरणो को भी गौरव दिया है क्योंकि ये उदाहरण उनके आश्रयदाताओ की प्रशस्ति मे लिखे होने के कारण स्वतन्त्र महत्व रखते है। उधर चन्द्रालोक मे जयदेव ने लक्षण और उदाहरण एक ही छन्द में देकर गद्य का भी बहिष्कार कर दिया है। इस प्रकार शताब्दियो तक प्रौढ खंडन मंडन और व्यापक विवेचन हो चुकने के पश्चात् संस्कृत साहित्य शास्त्र के उत्तरार्ध मे अपने आश्रयदाताओं अथवा तत्कालीन रसिक नागरिको को साधारण काव्य-शिक्षा देने के निमित्त लघुतर प्रतिभा के कवि और रसज्ञ पंडितो मे रीति-ग्रन्थ रचने की परिपाटी चल पडी थी। इनमे विवेचन और खंडन मंडन को विशेष महत्व नहीं दिया जाता था—संक्षिप्त लक्षण भर दे दिये जाते थे। परन्तु उदाहरण, जो कहीं उद्धृत और कही कही स्वरचित भी होते थे, अत्यन्त सरल और मधुर रखे जाते थे। इन दिनो शृंगार रस तो अत्यधिक लोकप्रिय हो ही गया था अतः नायिका भेद का भी समावेश प्राय: सभी मे किया जाने लगा था। कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के पूर्वार्ध का प्रौढ सैद्धान्तिक विवेचन, जिसकी कि बार बार शुक्लजी ने दुहाई दी है, इस समय तक प्राय: समाप्त ही हो चुका था-पंडितराज जगन्नाथ जैसे आचार्य्य वास्तव मे अपवाद ही थे। प्राकृत और अपभ्रंश का जो साहित्य आज प्राप्य है, उससे स्पष्ट पता चलता है कि उसमे भी यही पिछली परिपाटी चली जो आलोचना की अपेक्षा काव्य को अधिक महत्व देती थी—हिन्दी का रीति-काव्य इसी का सीधा विकास है। इसी कारण उसमे आचार्य्यत्व और कविता का सम्मिलन है।

**रीति-काव्य की अंतःप्रेरणा और स्वरूप:**—रीति कविता राजाओं और रईसों के आश्रय मे पली है—यह एक स्वतःप्रमाणित सत्य है—अतएव उसकी अंतःप्रेरणा और स्वरूप को कवियो और उनके आश्रयदाता दोनो के सम्बन्ध से ही समझा जा सकता है।

इस युग के इतिहास से स्पष्ट है कि रीति-काल के आरम्भ से ही दिल्ली दरबार का आकर्षण कम होने लग गया था—औरङ्गजेब के समय मे कलावन्तो को दिल्ली में कोई आकर्षण नही रह गया था। औरङ्गज़ेब की मृत्यु के उपरान्त साम्राज्य की शक्ति का और उसके साथ राजदरबार का विकेन्द्रीकरण बड़े वेग से आरम्भ हो गया था और कवि, चित्रकार, गायक और शिल्पी सभी राजाओ और रईसों के यहां आश्रय की खोज में भटकने लग गये थे। ये राजा और रईस अधिकांशत: हिंदू या हिंदू रीति-रिवाजो से घुले-मिले हिंदी रसिक मुसलमान थे। कुछ स्वनामधन्य महाराजाओं को छोड़ शेष सभी का जीवन सामयिक राजनीति से पृथक् अवकाश और विलास का जीवन था। दिल्ली का राजवंश भी जब इस समय इतने कोलाहल के बीच ऐश और आराम मे मस्त था तो इन राजा और रईसों की तो चिता तथा संघर्ष कम और अवकाश एवं विकास का अवसर कही अधिक था। अतएव ये लोग, चाहे छोटे पैमाने पर ही सही, राज-दरबार की प्रतिच्छाया थे। शताब्दियो के दासत्व और उत्पीडन के उपरान्त अब वह समय आ गया था जब इनमे आत्म-गौरव की चेतना निःशेष हो चुकी थी—इसी लिए तो अव्यवस्था और उत्क्रांति के युग में भी ये लोग चैन की बन्शी बजा सकते थे। जीवन के प्रति इनका दृष्टिकोण सर्वथा ऐहिक और सामन्तीय रह गया था। परन्तु ऐहिकता और सामन्तवाद की शक्ति भी अब उसमे नही थी केवल भोगवाद ही शेष था।

अतएव ये लोग भोग के सभी उपकरणो को—विनोद के सभी रसालाओ को एकत्र करने मे प्रयत्नशील रहते थे जिनमे सुबाला, सुराही और प्याला के साथ साथ तानतुक ताला और गुणी जनो का सरस काव्य भी सम्मिलित था। कहने को आवश्यकता नहीं कि इन सभी मे कविता सबसे अधिक परिष्कृत उपकरण थी—वह केवल विनोद का रसाला ही नहीं थी एक परिष्कृत बौद्धिक अनान्द का साधन तथा व्यक्तित्व का शृंगार भी थी। ये राजा और रईस अपनी संस्कृति और अभिरुचि को समृद्ध करने के लिए रस-सिद्ध व्युत्पन्न कवियो का सत्संग और काव्य का आस्वादन अनिवार्य समझते थे—इससे इनका व्यक्तित्व कलात्मक एवं संस्कृत बनता था।

रीति-काल के कवि वे व्यक्ति थे जिनको प्राय: साहित्यिक अभिरुचि पैतृक परम्परा के रूप में प्राप्त थी—काव्य का परिशीलन और सृजन इनका शग़ल नहीं था स्थायी कर्तव्य-कर्म था। ये लोग यद्यपि निम्नवर्ग के ही सामाजिक होते थे;

परन्तु अपनी काव्यकला के द्वारा ऐसे राजाओ अथवा रईसो का आश्रय खोज लेते थे जिनकी सहायता से इनकी काव्य-साधना निर्विघ्न चलती रहे। अतएव इनका सम्पूर्ण गौरव इनकी काव्य-कला पर ही निर्भर रहता था–इसी कारण कविता इनके लिए मूलतः एक ललित कला थी जिसके बल पर ये अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करते हुए गोष्ठी के शृंगार बन पाते थे। अपनी प्रतिभा और कला के प्रदर्शन के प्रति ये जागरूक थे इसका तो निषेध नहीं किया जा सकता—परन्तु इसके आगे बढकर इनको काव्य-व्यवसायी या फर्मायशी कवि कहना अन्याय होगा। सारांश यह है कि रीति-काव्य मे आत्मा की कांपती हुई आवाज़ आपको नही मिलेगी। वह अपने प्रतिनिधि रूप मे वैयक्तिक गीत कविता नही है। वह कलात्मक कविता है–स्वभावतः उसमे वस्तुतत्व❀असदिग्ध है। इसलिए उसकी मूल प्रेरणा सीधी आत्माभिव्यंजना की प्रवृत्ति मे न खोज कर आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्ति मे खोजनी चाहिए। हिन्दी साहित्य के प्राचीन इतिहास मे यही युग ऐसा था जब कला को शुद्ध कला के रूप मे ग्रहण किया गया था। अपने शुद्ध रूप मे रीति कविता न तो राजाओ और सैनिको को उत्साहित करने का साधन थी, न धार्मिक प्रचार अथवा भक्ति का माध्यम थी, न सामाजिक अथवा राजनीतिक सुधार की परिचारिका ही। काव्य-कला का अपना स्वतन्त्र महत्व था—उसकी साधना उसी के अपने निमित्त की जाती थी—वह अपना साध्य आप थी।

निदान रीति-काव्य मे दो प्रवृत्तियां अभिन्न रूप से गुंथी हुई मिलती है। ( १ ) रीति-निरूपण अथवा आचार्य्यत्व—और ( २ ) शृंगारिकता।

## रीति-निरूपण (आचार्यत्व)

रीति-निरूपण की दृष्टि से विचार करने पर इन कवियो मे कतिपय स्वतन्त्र अन्त:-प्रवृत्तियॉ सहज ही लक्षित हो जाती है। एक वर्ग तो ऐसे कवियो का है जिन्होने लक्षण-ग्रन्थो का निर्माण किया है– और दूसरा उन कवियो का है जिन्होने रीति-शास्त्र के पण्डित होने पर भी लक्षण-उदाहरण के फेर मे न पडकर केवल लक्षण ग्रन्थो की रचना की है। हम देख चुके है कि हिन्दी रीति-काव्य के पीछे एक विशाल शास्त्रीय आधार था—जिसके अन्तर्गत विभिन्न सम्प्रदायो की प्रतिष्ठा और काव्य के सभी अंगो का सूक्ष्म विवेचन होने के उपरान्त स्थिर सिद्धान्तो की स्थापना हो चुकी थी। मम्मट के समन्वयकारी निरूपण के बाद मूल-सिद्धान्त-विषयक उद्भावनाएँ प्रायः नि.शेष हो गई थी। अब तो प्रायः सम्पादन और स्पष्टीकरण ही शेष रह गया था। ऐसी दशा मे बेचारे हिन्दी कवि क्या मौलिक आविष्कार

❀ Objectivity

कर सकते थे—वे तो यदि मूल सिद्धान्तो का उचित विवेचन और स्पष्टीकरण ही कर देते तब भी पर्याप्त होता। परन्तु वे ऐसा भी सुचारु रूप मे न कर पाये। इस के कुछ विशेष कारण थे। एक तो संस्कृत साहित्य-शास्त्र की जिस उत्तरकालीन परिपाटी का वे अनुकरण कर रहे थे, स्वयं उसमे ही खडन-मंडन और सूक्ष्म विवेचन की प्रणाली नही रह गई थी। दूसरे, जिसके लिए इन ग्रन्थो की रचना हो रही थी वह पंडितो का वर्ग न होकर केवल रसिको का ही समुदाय था जिनमे अन्तर्विश्लेषण की सूक्ष्मताओ को ग्रहण करने का धैर्य नहीं था—जो केवल उतने ही काव्यांग-परिचय की अपेक्षा करते थे जितना कि उनकी रसिकता के पोषण के लिए अनिवार्य था। इनके अतिरिक्त तीसरा प्रमुख कारण गद्य की विवेचना-शैली का अभाव था, और चौथा इनमे से अनेक कवियो का अपरिपक्व शास्त्र-ज्ञान भी कहा जा सकता है। ये कवि जिन उद्देश्यो को सामने रख कर चले थे—उनमे सर्वप्रमुख था सरस काव्य की रचना करना—और दूसरा था शौकीन मिज़ाज राजा, रईसो और रसिक नागरिकों को काव्यांगो का साधारण ज्ञान करा देना—इनके अतिरिक्त किसी किसी का उद्देश्य पांडित्य-प्रदर्शन भी था। परन्तु मौलिक सिद्धान्त-प्रतिपादन इनका वास्तविक लक्ष्य नही था, इस विषय मे दो मत नही हो सकते। इसी लिए इनकी दृष्टि प्रायः उन्ही उत्तरकालीन ग्रन्थो तक गई जो पूर्व-प्रतिपादित सिद्धान्तो का स्पष्टीकरण अथवा उनका सरल परिचय कराने के लिए रचे गये थे—स्वतन्त्र सिद्धान्तो की स्थापना करने वाले मौलिक ग्रन्थो तक वह नही पहुंच पाई। चन्द्रालोक, कुवलयानन्द, रसतरंगिणी, रसमञ्जरी या अधिक से अधिक काव्य-प्रकाश और साहित्य-दर्पण से आगे ध्वन्यालोक, लोचन, वक्रोक्ति-जीवितम्, काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति, काव्यादर्श अथवा काव्यालंकार जैसे ग्रन्थों तक ये प्रायः नही गए। जिन विद्वान कवियो ने काव्यांग विवेचन को अपेक्षाकृत महत्व दिया भी है उन्होंने भी इन मूल सिद्धांतकारो के मतो का उल्लेख और खण्डन मण्डन प्रायः नहीं किया। केशवदास ने अवश्य दण्डी के काव्यादर्श और केशवमिश्र के अलकार-शेखर का अनुसरण किया है परन्तु विवेचन और प्रतिपादन का उद्देश्य उनका भी बिल्कुल नही रहा। रसनिष्पत्ति, रस का स्वरूप, काव्य का स्वरूप, काव्य की आत्मा, अलंकार रस का सम्बन्ध एवं इस प्रकार के अन्य सूक्ष्म सिद्धान्तो का तो कुलपति जैसे एकाध आचार्य को छोड किसी ने उल्लेख तक नही किया है, इनके अतिरिक्त काव्यलक्षण शब्द-शक्ति, गुण-अलंकार-भेद, आदि अपेक्षाकृत गौण सिद्धांतो का भी निरूपण अत्यन्त विरल और अस्पष्ट है। नवीन वाद-प्रतिष्ठा का तो प्रश्न ही नही उठता।

निरूपण शैली—हिन्दी के रीति-ग्रन्थो मे प्रायः तीन प्रकार की निरूपण-शैली काम में लाई गई हैं—(१) काव्य-प्रकाश की निरूपण-शैली जिसमे काव्य के

सभी अंगो पर थोड़ा बहुत प्रकाश डाला गया है (२) शृंगार-तिलक, रस-मंजरी आदि की शृंगार-रस-मयी नायिका-भेद वाली शैली जिसमे केवल शृंगार के विभिन्न अंगो-विशेषकर नायिका के भेद का ही निरूपण किया गया है। (३) चन्द्रालोक की संक्षिप्त अलंकार-निरूपण शैली जिसमे अलंकारो के ही संक्षिप्त लक्षण और उदाहरण दिये गए हैं।

पहली श्रेणी मे सेनापति का काव्य-कल्पद्रुम, चिन्तामणि के दो ग्रन्थ कवि-कुल-कल्पतरु और काव्य-विवेक, कुलपति मिश्र का रस-रहस्य, देव का काव्य-रसायन, सूरतिमिश्र का काव्य-सिद्धान्त, श्रीपति का काव्य-सरोज, दास का काव्य-निर्णय, सोमनाथ का रस-पीयूप-निधि, कुमार मणि भट्ट का रसिक-रसाल, रतन कवि का फतेहभूषण, करन कवि का साहित्यरस, प्रतापसाहि का काव्य-विलास और रसिक गोविन्द का रसिक गोविन्दानन्दघन सदृश सर्वांग-पूर्ण ग्रन्थ आते है। इनके अतिरिक्त काव्यप्रकाश के कुछ अनुवाद भी हुए। उन्नीसवी शताब्दी मे धनीराम ने जो अनुवाद करना आरम्भ किया था वह तो अधूरा ही रह गया, परन्तु बीसवी शताब्दी मे सेवक कवि ने स्वतन्त्र रूप से यह कार्य समाप्त कर लिया। साहित्य-दर्पण का भी एक आध अनुवाद हुआ। शताब्दियो तक विस्तृत रीतियुग मे यदि वास्तव मे आचार्यत्व के अधिकारी कुछ कवि हुए तो वे उपर्युक्त छः सात कवि ही थे। इन्होने रीति-निरूपण को गम्भीरता-पूर्वक ग्रहण किया है। इनके ग्रन्थों मे काव्य-लक्षण, काव्य-प्रयोजन, रस-भाव, ध्वनि, नायिका, अलंकार, पदार्थ-निर्णय (शब्द शक्ति), रीति, गुण, दोष, पिंगल आदि सभी का यत्किंचित व्यवस्था के साथ निरूपण किया गया है। पदार्थ-निर्णय, गुण-दोप आदि उपेक्षित प्रसंगो का भी जिनका निरूपण करने का अन्य कवियो मे न धैर्य था न क्षमता इन लोगो ने यथोचित समावेश किया है। इनके विवेचन से स्पष्ट है कि इनका ध्यान लक्ष्य की अपेक्षा लक्षण पर अधिक रहा है। इसमे सन्देह नही कि इनके लक्षण कही कही अस्पष्ट और भ्रामक है, और यह भी ठीक है कि केवल इन पर निर्भर रहने वाले जिज्ञासु का रीति-ज्ञान अधूरा और कच्चा ही रहेगा, परन्तु इनका अपना शास्त्र-ज्ञान भी बिल्कुल कच्चा या अधूरा था, यह कहना इन मर्मज्ञो के प्रति अन्याय होगा। ये प्रायः सभी कवि रीति-शास्त्र के गम्भीर पंडित थे, उनका अध्ययन व्यापक था। दुर्भाग्यवश इनको तर्कोपयोगी गद्य का माध्यम उपलब्ध नही था, इसीलिए ये जटिलताओ को स्पष्ट नही कर पाये। अधिकतर ये लोग शब्द-शक्तियो के विवेचन मे अथवा अलंकारो के पार्थक्य-प्रदर्शन मे ही उलझे है, परन्तु ये विषय तो है ही इतने गम्भीर और सूक्ष्म कि संस्कृत के भी अनेक आचार्य इनमे साफ नहीं उतर पाये। संस्कृत के प्राचीन आचार्यों के विवेचन तो

प्रायः अवैज्ञानिक हैं—उनकी विफलताओं को देखना हो तो गुणों और रीतियों के विवेचन को देखिये—उनमें से अनेक उद्‌भट विद्वान् गुणों और अलंकारों में अन्तर नहीं कर पाये, गुणों का पारस्परिक सम्बन्ध और भेद-निरूपण, तथा अलंकारों के भेद-प्रभेदों की सूक्ष्मताएं तो अन्त तक आचार्यों को उलझाती रहीं। रस-निष्पत्ति के विषय में लोल्लट, शंकुक और भट्टनायक के वास्तविक मत क्या थे इसका स्पष्टीकरण विभिन्न आचार्यों ने इतने विभिन्न रूपों में किया है कि आज गद्य की प्रौढ विवेचन-शक्ति का पूर्ण विकास होने पर भी पण्डितों में ऐकमत्य स्थापित नहीं हो सका है। अलंकारों का गोरखधन्धा भी इतना विचित्र है कि वे प्रायः एक दूसरे की सीमा में प्रवेश कर जाते हैं। इसका कारण स्पष्ट है—भारतीय रीति-शास्त्र की प्रवृत्ति आरम्भ से ही भेद-उपभेदों की सूक्ष्म जटिलताओं से क्रीड़ा करने की रही है—बात को इतनी दूर तक घसीटा गया है कि सीमा-व्यतिरेक सर्वथा अनिवार्य्य हो गया है। ऐसी दशा में यदि हिन्दी के ये आचार्य, जिनको सब कुछ पद्य में ही कहना था, उलझन मे पड़ गये हैं तो आश्चर्य ही क्या? इनका एक दोष स्पष्ट रहा है—वह यह कि ये लोग सर्वथा संस्कृत रीति-ग्रन्थों के उपजीवी रहे हैं—संस्कृत का उन दिनो कुछ ऐसा रौब ग़ालिब था कि हिन्दी का कवि बेचारा उसके ग्रन्थो को आर्ष ग्रन्थ मानता हुआ उनसे स्वतन्त्र होने की हिम्मत ही नहीं कर पाता था।—यह बात आज भी बहुत कुछ वैसे ही रूप में विद्यमान है—आज भी सेठ कन्हैयालाल और श्री केडिया जैसे पंडित संस्कृत उदाहरणों के अनुवाद ही दे रहे हैं, हिन्दी का व्यापक काव्य-साहित्य—उसकी विकास-शील अभिव्यंजना शक्ति उनके लिए आज भी जैसे निरर्थक ही है। मुख्यतया इसी त्रुटि के कारण इन कवियो के विवेचनो मे अस्पष्टता और दुरुहता आदि दोष, जो अनुवाद के अनिवार्य्य अंग हैं, आगये है। इसके अतिरिक्त इनके ग्रन्थो को पढते समय गद्य-वार्तिक की आवश्यकता का अनुभव और भी अधिक क्यो होता है इसका एक अन्य कारण है—वह यह कि इन्होने प्रायः सर्व-परिचित पद्यो को उदाहरण रूप मे न देकर या तो संस्कृत से अनूदित पद्यो को या फिर अपने रचे हुए नवीन छन्दो को ही दिया है। संस्कृत के मान्य आचार्यों ने अपने परवर्ती और सम-कालीन साहित्य का विधिवत् पर्यालोचन करने के उपरान्त साहित्य की परिवर्तन-शील प्रवृत्तियो को ध्यान मे रखकर रीति-निरूपण किया है। उनके उदाहरण प्रायः परिचित है जिनको ग्रहण करने के लिए पाठक की बुद्धि पहले से ही प्रस्तुत रहती है—इसके साथ ही वे कारिका और वृत्ति के सहारे उद्दिष्ट वस्तु का स्पष्टीकरण भी कर देते है जिससे किसी प्रकार का सन्देह नही रह जाता। एक आध को छोड़कर ये रीतिकालीन आचार्य्य न तो प्राय: हिन्दी के परिचित उदाहरण ही देते थे और

न गद्य-वार्तिकों द्वारा मूल वस्तु का स्पष्टीकरण ही कर पाते थे। परिणाम-स्वरूप उन पर निर्भर पाठक का ज्ञान निर्भ्रान्त नहीं हो सकता। फिर भी, इस युग के किसी कवि ने ऐसा करने की चेष्टा नहीं की—एक साथ यह कह देना भी अन्याय होगा। कम से कम इस श्रेणी के कवियों में से अधिकांश नें बड़ी ईमानदारी और मनोयोग के साथ अपना कर्तव्य पूरा करने का प्रयत्न किया है। कुलपति, दास और विशेष रूप से रसिक गोविन्द ने पद्य को अपर्याप्त पाकर गद्य का भी जैसा तैसा प्रयोग करते हुए अपने मन्तव्य को व्यक्त करने की चेष्टा की है। प्रतापसाहि और रसिक गोविन्द ने मम्मट आदि की परिचित शैली के अनुसरण पर प्राचीन आचार्यों के मतों का भी उल्लेख किया हैं। प्रतापसाहि ने काव्य-प्रकाश, साहित्य-दर्पण और रसगंगाधर के लक्षणों को स्वच्छ हिन्दी मे अनूदित करते हुए पृथक-पृथक, विस्तार के साथ उद्धृत किया है—जिससे (अध्येता को सरलता से ही) काव्यांगों का व्यापक ज्ञान हो जाता है। उन्होंने स्वयं ही कहा है—

मत लहि काव्य-प्रकाश कौ, काव्य प्रदीप संजोइ।
साहित्य-दर्पण चित समुझि, रस गंगाधर सोइ॥
समुझि परै साहित्य को, जातै परम प्रकास।
सुकवि प्रताप विचारि चित, कीन्हौ काव्य-विलास।

[काव्य-विलास, १]

रसिक गोविन्द ने गद्य मे मान्य आचार्यो के उद्धरण देते हुए प्रसंगो को स्पष्ट किया है :—

"अन्य-ज्ञानरहित जो आनन्दसो रस। प्रश्न—अन्य ज्ञान रहित आनन्द तो निद्रा हू है। उत्तर—निद्रा जड है, यह चेतन। भरत आचार्य सूत्रकर्ता को मत—विभाव, अनुभाव संचारी भाव के जोग ते रस की सिद्धि। अथ काव्य-प्रकाश को मत—कारण-कारज सहायक हैं जे लोक मे इन ही को नाट्य में, काव्य मे, विभाव संज्ञा कहा है। अथ टीकाकर्त्ता को मत तथा साहित्यदर्पण कौ मत—सत्त्व, विशुद्ध, अखंड, स्वप्र-काश, आनन्द, चित्, अन्यज्ञान नहिं संग, ब्रह्मास्वाद सहोदर रस"

[ रसिक गोविन्दानन्दघन हस्तलिखित ]

श्रीपति और दास को हिन्दी भाषा का स्वच्छ ज्ञान था—अतएव उन्होने उसकी प्रवृत्ति का ध्यान रखा है। श्रीपति ने केशव के उदाहरण देकर दोषो का स्पष्टीकरण किया है—रसिक गोविन्द ने हिन्दी के ही अनेक प्रसिद्ध कवियो के छन्द दिये है। इस प्रकार इन लोगो ने अपने ग्रन्थो को समयोपयोगी बनाने का प्रयत्न अवश्य किया है और उसमे इन्हे थोडी बहुत सफलता भी मिली है, परन्तु वास्तव

से इन बेचारों की सीमाएं इतनी अधिक थीं कि यह सफलता सन्तोषप्रद किसी प्रकार नहीं कही जा सकती। सारांश यह है कि उपर्युक्त कवि मौलिक सिद्धान्त प्रतिपादन चाहे न कर सके हों परन्तु वे रीति-निरूपण को उद्देश्य मान कर चले थे, इसमें सन्देह नहीं। उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वांछित अध्ययन एवं काव्य-मर्मज्ञता उनमें थी, परन्तु उनको व्यक्त करने का उपयुक्त माध्यम नहीं था। और, दूसरे संस्कृत के प्रभाव से मुक्त होकर स्वतन्त्र विवेचन का साहस भी उनमें नहीं था। इसीलिए उनकी गणना प्रथम श्रेणी के प्रवर्तक आचार्यों में तो हो ही नहीं सकती, द्वितीय श्रेणी के व्याख्याकारों में भी उनका स्थान काफी नीचा रहेगा। परन्तु प्राचीन हिन्दी साहित्य में फिर भी आचार्य्य इन्हीं को माना जा सकता

द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत उन ग्रन्थों की गणना की जा सकती है जिनका मुख्य वर्ण्य विषय श्रृङ्गार ही है। इस प्रकार के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—केशव की रसिक-प्रिया, मतिराम का रसराज, सुखदेव मिश्र के रसरत्नाकर और रसार्णव, देव के भाव-विलास, रस-विलास, भवानी-विलास, सुजान-विनोद आदि, कवीन्द्र का रस-चन्द्रोदय, दास का रस-निर्णय, तोष का सुधानिधि, बेनीप्रवीन का नवरस-तरंग, पद्माकर का जगद्विनोद इत्यादि। इस पद्धति का आधार रुद्रभट्ट के श्रृङ्गारतिलक और विशेष कर भानुदत्त की रसतरंगिणी तथा रसमंजरी में मिलता है। इन ग्रन्थों में वैसे तो सामान्यतः रस के साथ रस के स्थायी, संचारी, विभाव, अनुभाव आदि सभी का वर्णन किया गया है परन्तु प्रधानता श्रृंगार के ही विभिन्न अंगों को दी गई है। और रसों का निरूपण तो केवल ग्रन्थ-पूर्ति के लिए कर दिया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन सभी ने श्रृंगार को समस्त रसों का राजा तो एक-स्वर से माना ही है यथा:—

(१) सबको केशवदास हरि, नायक है श्रृंगार।<br>
(केशव, रसिक–प्रिया)

(२) (अ) विमल सुद्ध सिंगार-रस, देव अकास अनन्त।<br>
उडि उडि खग ज्यों और रस, विवस न पावत अन्त।<br>
(आ) रसनि-सार सिंगार-रस, प्रेम-सार सिंगार।<br>
(देव, शब्द-रसायन)

(३) स्याम बरण ब्रजराज पति, थाई है रति भाव<br>
ताहि कहत सिंगार हैं, सकल रसन को राव॥<br>
(बेनीप्रवीन, नवरस-तरंग)

(४) नवरस में सिंगार रस, सिरे कहत सब कोइ ।

( पद्माकर, जगद्विनोद )

केशव जैसे कुछ कवियों ने अन्य रसों का भी समाहार श्रृंगार मे कुशलता से कर दिखाया है । रसिक-प्रिया में हास्य, अद्भुत, आदि मित्र रसों का ही नहीं भयानक वीभत्स आदि अमित्र रसों का भी उसके अन्तर्गत समाहार कर दिया है। इसी प्रकार देव तथा बेनीप्रवीन ने भी करुण, रौद्र, वीर और भयानक का श्रृंगार-विमिश्रित वर्णन किया है। वास्तव में ये प्रयत्न कुछ सीमा तक ही सफल हुए हैं, और हो सकते है। इनकी अपेक्षा मतिराम आदि ने अन्य रसो की सर्वथा उपेक्षा कर अधिक विवेक का परिचय दिया है। मतिराम ने अपने रस-राज में केवल श्रृंगार का ही वर्णन और चित्रण किया है।

इन ग्रन्थों मे श्रृंगार के संयोग और वियोग दोनो पक्षों का सम्यक् निरुपण मिलता है। संयोग के अन्तर्गत नायक-नायिका (आलम्बन), सखी दूती एवं षट्-ऋतु (उद्दीपन), और उसके अनुभाव, सात्विक भाव, नायिकाओ के स्वभावज अलंकार आदि का मनोहर वर्णन विस्तार-पूर्वक अत्यन्त मनोनिवेश के साथ किया गया है। वियोग पक्ष मे पूर्वानुराग, मान, प्रवास आदि विभिन्न भेद, पूर्वानुराग के श्रवण, चित्र-दर्शन, प्रत्यक्ष-दर्शन आदि साधन, मान-मोचन के अनेक उपाय और वियोग-जन्य काम दशाएँ आदि वर्णित और अंकित है। संयोग और वियोग मे इन कवियो की वृत्ति संयोग मे ही अधिक रमी है। और उसमे भी सबसे अधिक महत्व दिया गया है नायिका-भेद को, क्योंकि इन कवियो की रस वृत्ति का अन्य प्रसंगो की अपेक्षा नारी के रूप-भेदो से ही अधिक सीधा सम्बन्ध था।

नायक नायिका श्रृंगार के आलम्बन है अतएव उचित क्रम तो यह होना चाहिए कि पहले रस के स्वरूप, भेद, स्थायी आदि का वर्णन करने के उपरान्त विभाव के अन्तर्गत नायिका-भेद का वर्णन हो। परन्तु इनमे से बहुत से कवियो ने बिना किसी प्रकार के संकोच अथवा दम्भ के नायिका-भेद से ही अपने ग्रन्थो का आरम्भ कर दिया है, और उसका कारण यह दिया है कि:— "सब रसो मे मुख्य है श्रृंगार-रस और श्रृंगार आलम्बित है नायक और नायिका पर, एतएव सबसे पूर्व उसी का वर्णन किया जाता है" :—

होत नायका-नायकहिं, आलम्बित श्रृंगार,
तातें बरणौ नायका, नायक मति अनुसार।

(मतिराम, रसराज)

× × ×

सुरस नायिका नायकहिं, आलम्बित ह्वै सोइ ॥
तातें प्रथमहि नायिका, नायक कहत बनाइ।
जुगति जथामति आपनी, सुकविन को सिर नाइ॥
(पद्माकर, जगद्विनोद)

देव ने तो नायिका और नायक को साक्षात् माया और ब्रह्म ही कह दिया है :—

"माया देवी नायिका, नायक पुरुष आप।" [देवसुधा]

वास्तव में रीतिकाल का सच्चा प्रतिनिधित्व ये ही कवि करते हैं। इनकी पद्धति तर्क-सिद्ध न होकर सर्वथा रस-सिद्ध है। रीतिकाल की 'रीति' और 'शृंगारिकता' इन दोनों मूल प्रवृत्तियों का जितना सुन्दर समन्वय इनके काव्य में मिलता है उतना अन्यत्र असम्भव है। क्योंकि इनका मुख्य उद्देश्य आचार्यत्व-प्रदर्शन न होकर केवल कला-साधन ही था जिसमें रसात्मकता और कलात्मकता दोनों का संयोग आप से आप हो जाता था। इनका रीति-निरूपण भी जो इतना स्वच्छ और प्रौढ़ है उसका कारण प्रायः इनकी प्रतिभा ही थी—आचार्यत्व का विशिष्ट प्रयत्न-साधन नहीं। स्वभाव से रससिद्ध और सामयिक प्रवृत्ति के अनुसार शास्त्रविद् होने के कारण इनको अद्भुत रसज्ञता प्राप्त हो गई थी। शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों का उचित संयोग ही इनकी सफलता का मूल कारण था। क्योंकि अन्य कवियों की व्युत्पत्ति और अभ्यास चाहे इनसे बढ़े चढे रहे हों परन्तु शक्ति में वे सभी इनसे हीनतर थे। स्वभावतः इनको हिन्दी की प्रकृति का पूरा पूरा ज्ञान था। संस्कृत के ग्रन्थो का अनुवाद इन्होने प्रायः लक्षणों तक में नहीं किया, उदाहरणो की बात तो दूर रही। वैसे भी इनका ध्यान लक्षण की अपेक्षा लक्ष्य पर ही अधिक था उसी के अनुसार ये अपनी सफलता आंकते थे—यह एक दूसरा कारण है जो इन ग्रन्थों के निरूपण की स्वच्छता के लिए उत्तरदायी है।

तीसरी शैली चन्द्रालोक और कुवलयानन्द के अनुकरण पर अलंकार-निरूपण की संक्षिप्त शैली है। इसका आरम्भ तो शायद करनेस के श्रुतिभूषण आदि ग्रन्थो से हुआ हो, परन्तु वास्तविक प्रतिष्ठा इसे महाराज जसवतसिंह के भाषा-भूषण से ही प्राप्त हुई। भाषा-भूषण की रचना दोहो की अत्यन्त समस्त पद्धति पर हुई है—जिनमे पहले चरण मे अलंकार का लक्षण और दूसरे में उदाहरण दिया गया है। इस संक्षिप्त पद्धति के अनुकरण पर हिन्दी मे अनेक उपयोगी अलङ्कार-ग्रन्थो का निर्माण हुआ—जिनमे सूरति मिश्र कृत अलंकार-माला, रसिक-सुमति का अलकार-चन्द्रोदय, भूपति का कंठाभूषण, शम्भुनाथ मिश्र का अलंकार-दीपक, ऋषिनाथ-रचित अलंकार-मणि-मञ्जरी, बैरीसाल का भाषाभरण, नाथ हरि-

नाथ तथा महाराज रामसिंह के रचे हुए अलंकार-दर्पण, पद्माकर का पद्माभरण आदि उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त तीन प्रसिद्ध अलंकार ग्रन्थ भाषा-भूषण के तिलक रूप में लिखे गये—पहला दलपतिराय और बंसीधर का, दूसरा प्रतापसाहि और तीसरा गुलाब कवि का रचा हुआ है। इन तीनों मे सबसे पूर्ण तिलक पहला ही है। शुक्लजी के शब्दों में इस टीका का भाषा-भूषण के साथ वही सम्बन्ध है जो कुवलयानन्द का चन्द्रालोक के साथ। जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, इन सभी ग्रन्थों में चन्द्रालोक की अत्यन्त संक्षिप्त शैली में अलंकार निरूपण किया गया है।—चन्द्रालोककार का उद्देश्य स्पष्टतः अलंकार-शास्त्र को सरल और सुपाठ्य रूप मे प्रस्तुत करने का था—उन्होंने किसी प्रकार के खण्डन-मण्डन, वर्गीकरण, नवीन उद्भावना आदि के पचड़े में न पड़कर, सरलता से कंठस्थ हो जाने वाले छोटे श्लोक छंद के पूर्वार्द्ध में लक्षण और उत्तरार्द्ध में उदाहरण देते हुए अलंकारों का अत्यन्त स्वच्छ निरूपण किया है। इस दृष्टि से वे वास्तव मे अलंकार साहित्य के शिक्षक रूप में हमारे सामने आते हैं—आचार्य का गौरव जो भामह, दण्डी, रुद्रट, रुय्यक—अथवा मम्मट आदि को भी प्राप्त है, उसके अधिकारी जयदेव आदि नहीं हो सकते, क्योंकि उनका ग्रन्थ अलंकार के विज्ञान का विवेचन न कर उन्हें केवल सुपाठ्य रूप मे ही उपस्थित करता है। हिन्दी में भाषा-भूषण, और उसके, अथवा उसके मूल चन्द्रालोक के अनुकरण पर जितने ग्रन्थ रचे गये, सबके विषय मे भी ठीक यही कहा जा सकता है—एक प्रकार से वे तो और भी कम गौरव के अधिकारी है। परन्तु यहाँ हम केवल दृष्टिकोण की बात कर रहे हैं—इन सभी ग्रन्थों का लक्ष्य स्वीकृत रूप से अलंकार-निरूपण ही है—काव्य-रचना नही। इसीलिए उदाहरणों को अनावश्यक महत्व नही दिया गया। वे यदि कही सुन्दर बन पडे है तो रचयिता की कवित्व-शक्ति के ही कारण ऐसा हुआ है। उनको साध्य नही माना गया। इन ग्रन्थो की विवेचन-पद्धति के विषय मे दूसरी बात यह ज्ञातव्य है कि यद्यपि इन सभी मे संक्षिप्त शैली का अनुसरण किया गया है और अधिकतर दोहों का ही प्रयोग हैं, परन्तु क्रम सबका एक जैसा नही है। एक श्लोक मे ही लक्षण और उदाहरण देने वाली चन्द्रालोक की शैली का निर्वाह तो भाषा-भूषण, अलंकार-माला, अलंकार-चन्द्रोदय आदि मे मिलता है—यद्यपि पिछले दो ग्रन्थों का विषयाधार कुवलयानन्द ही अधिक है, चन्द्रालोक नही। इनसे थोड़ा भिन्न वैरीसाल के भाषाभरण और पद्माकर के पद्माभरण का क्रम है। जिनमे दोहो के अतिरिक्त यत्र-तत्र कुछ और छंद भी दिये है। साथ ही एक ही छंद मे लक्षण और उदाहरण देने की पद्धति को भी उतना नही अपनाया गया, क्योंकि उपर्युक्त ग्रन्थो की अपेक्षा इनमे उदाहरण-विस्तार थोड़ा अधिक है। वैसे

तो लक्षण आदि का आधार इन्होंने चन्द्रालोक और कुवलयानन्द को माना है, परन्तु उदाहरण इनके प्रायः स्वतंत्र हैं। इस प्रकार इनमें वर्णन-स्वातंत्र्य अपेक्षाकृत अधिक है। हरिनाथ के अलंकार-दर्पण का क्रम इन सबके विचित्र है—उन्होंने पहले ८६ दोहों में अलंकारों के लक्षण और उसके बाद ४० छंदों मे उन सभी के उदाहरण दे दिए है—अतएव एक छंद में उनको कई-कई अलंकारों के उदाहरणो का समावेश करना पड़ा है। ऋषिनाथ के अलंकारमणि-मंजरी और शंभुनाथ के अलंकार-दीपक मे कवित्त-सवैयाओं का अनुपात अधिक है। इसके अतिरिक्त शंभुनाथ मिश्र ने गद्य से भी वार्तिक लिखकर अपना आशय स्पष्ट किया है। स्वभावत ये ग्रन्थ उदाहरणों की दृष्टि मे अधिक प्रौढ न होते हुए भी विवेचन की दृष्टि से अधिक स्पष्ट है। इसी पद्धति का विकसित रूप हमे दलपति और वंसीधर के अलंकार-रत्नाकर मे मिलता है जो अलंकार-निरूपण की इस संक्षिप्त शैली का सबसे अधिक उपयोगी और महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की रचना स्वीकृत रूप मे काव्य-चातुर्य प्रदर्शित करने के लिए न होकर, अलंकार की शिक्षा देने के उद्देश्य से ही हुई है। इन कवियों का दृष्टिकोण भी वास्तव में श्रीपति, सूरति मिश्र आदि की भांति गम्भीर और विवेचनात्मक है। इन्होंने पहले गद्य द्वारा प्रत्येक अलंकार का स्वरूप स्पष्ट किया है —और फिर उदाहरण के किस चरण मे अलंकार है—इसका भी स्पष्ट निर्देश किया है जिसके उपरान्त किसी प्रकार का भ्रम नहीं रह जाता है। दूसरा गुण इस ग्रन्थ में यह है कि लेखकों ने उदाहरण केवल अपने ही न देकर केशव, मतिराम, सेनापति, गंग, बिहारी, देव, दास आदि हिंदी के प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं मे से दिये हैं—जिससे अलंकार का वस्तु-रूप हृदयंगम करने के लिये विद्यार्थी का मन पहले से ही प्रस्तुत रहता है। सारांश यह है कि ग्रन्थकर्त्ताओं ने हिंदी रीति काव्य के पाठकों की वास्तविक कठिनाई का बड़े समुचित रूप मे समाधान करते हुए अपने ग्रन्थ को अत्यन्त उपयोगी बना दिया है। इसके लगभग पैंतालीस वर्ष बाद (१८२७ में) एक ऐसे ही व्याख्यान-प्रधान अलंकार-ग्रन्थ का निर्माण उत्तमचंद भंडारी ने अलंकार-आशय नाम से किया। भंडारी कवि की अपेक्षा व्याख्याता और सहृदय ही अधिक मालूम पड़ते है।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त एक दूसरा वर्ग ऐसे ग्रन्थो का है जिनका दृष्टिकोण इनके सर्वथा विपरीत है। इसके अन्तर्गत मतिराम के ललितललाम, भूषण के शिवराज-भूषण, रघुनाथ के रसिकमोहन, दूलह के कविकुल-कंठाभरण, दत्त के लालित्यलता, ग्वाल के रसिकानन्द और प्रतापसाहि के अलंकार-चिंतामणिआदि की गणना की जा सकती है। इनके रचयिता आचार्यत्व अथवा अलंकार-निरूपण को प्रधान लक्ष्य बनाकर नहीं चले। यद्यपि इनका निरूपण विशेषकर मतिराम और रघु-

नाथ का अत्यन्त स्वच्छ है, फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि इन्होंने लक्षणों की अपेक्षा उदाहरणों को कहीं अधिक महत्व दिया है। भूषण ने तो शायद अपने अनेक छन्दों को स्वतंत्र रूप मे रचकर फिर उनको रीति-बद्ध किया है। इसीलिए उनके द्वारा अलंकार-निरूपण प्रायः स्पष्ट नही हो पाया। मतिराम और प्रतापसाहि रससिद्ध कवि थे। मतिराम ने भी भूषण की ही तरह अपने लक्षणों को प्रायः आश्रयदाता पर घटाने का प्रयत्न किया है। दूलह और दत्त क ग्रन्थ अपेक्षाकृत सक्षिप्त हैं—परन्तु दूलह के उदाहरणों की प्रौढ़ता और दत्त की चमत्कार-प्रियता उन्हे रीति-शिक्षक की अपेक्षा कवि या कलाकार रूप मे ही अधिक प्रस्तुत करती है। रघुनाथ और ग्वालकवि की स्थिति अवश्य कुछ मध्यवर्त्ती-सी है क्योंकि इन दोनों ने जितना उदाहरणों की रचना पर ध्यान दिया है, उतना ही अलंकारों के स्पष्टीकरण का भी सफल प्रयत्न किया है। रघुनाथ ने तो अपने सवैया और कवित्त का सम्पूर्ण कलेवर ही अलंकार को उदाहृत करने मे प्रयुक्त किया है—जिसके कारण उनका ग्रन्थ अलंकार के अध्ययन के लिए अत्यन्त उपयोगी बन गया है—उधर ग्वाल ने भी अलंकार को बारीकियो मे काफी गहरे जाने की कोशिश की है। फिर भी इनको पहली श्रेणी मे नही गिना जा सकता क्योंकि काव्य-चातुरी इनकी दृष्टि से कभी ओझल नही हो पाई। मतिराम और भूषण की भांति इनकी दृष्टि रस-सर्जना पर तो केन्द्रित नही थी, परन्तु चमत्कार-प्रदर्शन पर अवश्य थी जो इनके लिए अलंकारों को उदाहृत करने का साधन मात्र ही नही था—वरन स्वतंत्र साध्य भी था।

हिन्दी के अलंकार ग्रन्थो मे शब्दालंकार का महत्व अर्थालङ्कार की अपेक्षा अनुपात से भी कम है—भाषा-भूषण, अलंकार-दर्पण, आदि मे तो अनुप्रास को छोड कर अन्य शब्दालंकारो का उल्लेख भी नही है, अनुप्रास-प्रेमी पद्माकर ने अनुप्रास को भी छोड़ दिया है। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि इन कवियो की दृष्टि अर्थ-गाम्भीर्य पर अधिक जमने लगी थी। इसका मुख्य कारण वास्तव मे यह है कि इन सभी ग्रन्थो के मूलोद्गम चन्द्रालोक मे भी शब्दालंकारों को उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया है। हिन्दी मे चमत्कार-प्रियता किस सीमा तक पहुँच गई थी इसके उदाहरण स्वरूप वे रीति-ग्रन्थ उपस्थित किए जा सकते हैं जिनमे शब्द-क्रीडा के गोरखधंधे रचे गये है। इनका पथ-प्रदर्शन तो लीलापुरुषोत्तम के क्रीडा-रसिक सूरदास ही अपनी साहित्य-लहरी द्वारा कर गये थे—बाद मे रहमान ने अपने यमक-शतक मे कही श्लेष, कहीं यमक, और कही एकाक्षर का चमत्कार दिखाकर इस परिपाटी को विकसित किया—और अंत मे जगतसिंह ने चित्रमीमांसा और काशीराज ने चित्र-चन्द्रिका सदृश ग्रन्थों की रचना करके उसे सर्वथा परिपूर्ण बना

दिया। वैसे तो केशवदास, आदि आचार्यों ने अपने रीति-ग्रन्थो मे चित्र-काव्य का विस्तृत विवेचन किया है परन्तु उनका उद्देश्य काव्य के इस प्रसंग को भी समाविष्ट कर अपने विवेचन को सर्वाङ्ग-पूर्ण बनाना ही था। चित्रकाव्य को ये लोग निर्विवाद रूप से अधम-काव्य मानते थे-और उसकी रचना करना प्रतिभा का अपव्यय समझते थे।

> अधम काव्य ताते कहत, कवि प्राचीन नवीन।
> × × ×
> चित्र काव्य को जो करत, वायस चाम चबात।
>
> [ देव, शब्द रसायन ]

परन्तु इनके विपरीत उपर्युक्त ग्रन्थो के रचयिताओ ने उसको सर्वथा स्वतत्र महत्व दिया है—और शब्द की जितनी खिलवाड सम्भव थी—सभी का हौंसला पूरा कर लिया है। सस्कृत मे इनका प्रेरक अप्पय दीक्षित का वही चित्र-मीमासा ग्रन्थ कहा जा सकता है जिसकी कि पंडितराज ने अपने 'चित्र-मीमांसा खडन' मे धज्जियाँ बखेर दी है।

मौलिक उद्‌भावनाये और आलोचना शक्ति :—रीति-कालीन आचार्यो की शास्त्रीय उद्‌भावनाओ को लेकर हिन्दी मे शुरू मे काफी गर्मागर्मी हुई है। इन मौलिक उद्भावनाओ की प्रशंसा करने वालो को शुक्लजी ने बडे आडे हाथो लिया है और अपनी अमोघ शैली मे अत्यंत स्पष्ट रूप से यह प्रमाणित कर दिया है कि ये उद्भावनाये वास्तव मे या तो उद्भावनायें है ही नही क्योकि संस्कृत के ग्रन्थो मे उनका वर्णन पहले ही कर दिया गया है, या फिर सर्वथा निरर्थक और अनर्गल है। उन्होने और उनके उपरांत उनके संकेतों के आधार पर पं० कृष्णशंकर शुक्ल तथा श्री विश्वनाथप्रसाद आदि ने अत्यन्त विस्तार-पूर्वक यह प्रदर्शित किया है कि किस प्रकार अपनी तथाकथित नवीनताओ के लिए केशव दण्डी के काव्यादर्श, केशव मिश्र के अलंकार-शेखर एवं अमर-रचित काव्य-कल्पलता-वृत्ति के, देव भानुदत्त-कृत रस-मंजरी के; और दास काव्य-प्रकाश, साहित्य-दर्पण आदि अनेक ग्रन्थो के ऋणी है। पीछे किए हुए विवेचन से स्पष्ट है कि इस युग मे केवल शृङ्गार-रस और अलंकार-प्रसंग का ही विस्तृत वर्णन किया गया है। काव्य के शेष अंगो का तो दो-चार आचार्यो ने स्पर्श मात्र ही किया है। नवीन उद्भावना अथवा परिवर्तन-परिशोधन का प्रयत्न भी स्वभावत. इन्हीं दो क्षेत्रों मे हुआ है। अतएव इनकी ही परीक्षा करना उपयुक्त होगा।

पहले शृंगार-रस को ही लीजिए : रीतिकाल के प्राय: सभी आचार्यों और कवियो ने बडे आग्रह के साथ इसका रस-राजत्व घोषित किया है। परन्तु यह कोई

नवीन कल्पना नही थी। उनसे शताब्दियों पूर्व अग्निपुराण, शृंगार-तिलक और शृंगार-प्रकाश आदि मे शृंगार को एक मात्र रस अथवा रसराज स्वीकार कर लिया गया था। अग्निपुराण मे स्पष्ट लिखा है कि "शृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं-जगत्।" उसके सम्पादक का सिद्धांत है कि आनन्द से अहंकार की उत्पत्ति होती है। अहंकार से अभिमान की—अभिमान से रति की जिसके कि शृंगार, हास्य आदि भिन्न भिन्न रूप मात्र हैं। इसी की प्रतिध्वनि हमे भोज के शृंगार-प्रकाश मे मिलती हैं। उनका मत है कि शृंगार, वीर आदि दस रसो का वर्णन जो विद्वान् लोग करते है वह केवल गतानुगतिकता के कारण है। रस केवल एक ही है शृंगार। "हमारा अहंकार ही प्रतिकूल परिस्थितियो के अभाव मे, विभाव, अनु-भाव, व्यभिचारी आदि के द्वारा आनन्द रूप मे संवेद्य होकर रसत्व को प्राप्त हो जाता है। रति-हास आदि भाव शृंगार से ही उत्पन्न होते है। वे स्वयं रसत्व को कभी प्राप्त नही होते। वे तो, जिस प्रकार कि प्रकाश की किरणे अग्नि की कांति को बढाती है इसी प्रकार, शृंगार की शोभा को बढाते हैं। इसीलिये स्थायी संचारी आदि का प्रपञ्च मिथ्या है। शृंगार ही चतुर्वर्ग का कारण है, वही रस है।"❀

अग्नि-पुराण, शृंगार-प्रकाश आदि का यह विवेचन अत्यन्त गम्भीर और मनोवैज्ञानिक है, इसका आधार काम-शास्त्र और मीमांसा के सूक्ष्म तर्कों से परि-पुष्ट है। केशवदास ने इसकी मनोवैज्ञानिक गम्भीरता को न समझते हुए बस सभी रसो को अत्यन्त स्थूल रूप से ठेल ठाल कर शृंगार मे अन्तर्भूत कर दिया है। कहने की आवश्यकता नही कि इसमे उनको सफलता नही मिली : उनके रौद्र, वीभत्स, शांत आदि संचारी की स्थिति तक भी भली प्रकार नही पहुँच पाये। केशव की दूसरी तथाकथित उद्भावना है शृंगार के दो सामान्य भेद : प्रच्छन्न

---

❀शृंगारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्यबीभत्सवत्सलभयानकशांतनाम्नः।
आम्नासिषुर्दश रसान्सुधियो वय तु शृंगारमेव रसनाद्रसमामनामः ॥
वीराद्भुतादिषु च येह रसप्रसिद्धिः सिद्धा कुतोऽपि वटयक्षवदाविभाति।
लोके गतानुगतिकत्ववशादुपेतामेता विवर्तयितुमेष परिश्रमो नः ॥
अप्रातिकूलिकतया मनसोमुदादेर्यः संविदोऽनुभव हेतुरिहाभिमानः।
ज्ञेयो रसः स रसनीयतयात्मशक्ते इत्यादिभूमनि पुनर्वितथा रसोक्तिः ॥

× × × ×

एकोनपचाशद्भावा वीरादयो मिथ्या रसप्रवादाः शृंगार एवैकः चतुर्वर्गैक-कारणं स रस इति।

(शृंगार-प्रकाश पृष्ठ २, २,)

और प्रकाश जिसका कि अनुसरण आगे चल कर वर्ग-भेद के अनन्यप्रेमी देव ने भी किया है। यह विभाजन भी अधिक मूलगत नहीं है क्योंकि अनुराग का प्रच्छन्न रहना अथवा प्रकाशित होना स्थिति-संयोग पर निर्भर है। इन दोनों अवस्थाओं मे मन की अनुरागी वृत्तियों पर क्या विशेष प्रभाव पडता है, इसका विवेचन तो मनोविज्ञान की दृष्टि से मनोरंजक हो भी सकता है, परन्तु स्थूल वर्गीकरण जो कि केशव और देव ने किया है, न तो विशेष महत्त्व रखता है और न सदैव सम्भव ही है। उदाहरण के लिए प्रौढा स्वकीया का प्रच्छन्न श्रृंगार पूर्णतः कैसे निभ सकता है ? देव ने रस का विस्तार-भेद और भी अधिक किया है। उन्होंने रस के—और रस से उनका तात्पर्य रति-जन्य आनन्द से ही है—दो भेद किये है : (१) अलौकिक (२) लौकिक। अलौकिक रस तीन प्रकार का होता है : स्वाप्निक मानोरथिक और औपनायक। लौकिक रसो मे शांत का वर्णन करते हुए भक्ति का अन्तर्भाव भी उन्होंने उसी मे कर दिया है और फिर भक्ति के तीन भेद किये है : प्रेम-भक्ति, शुद्ध-भक्ति और शुद्ध-प्रेम ; इनका विवेचन देव के प्रसंग मे किया जाएगा। यहाँ इतना संकेत कर देना ही पर्याप्त होगा कि यह देव की मौलिक उद्भावना नहीं है। पहला विभाजन ज्यों का त्यों रसतरंगिणी से ले लिया गया है, दूसरे का आधार भक्ति-ग्रन्थों मे मिलता है। फिर प्रेमाश्रयी भक्ति को शांत के अंतर्गत गिनना भी तो शास्त्र-विरुद्ध एवं असंगत है। इसके अतिरिक्त रस-प्रसंग मे देव ने एकाध संगति बैठाने का भी प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए उनका मत है कि "लौकिक रस नौ होते हैं, नौ मे तीन मुख्य हैं :—श्रृंगार, वीर और शांत। शेष का समाहार इन्ही मे हो जाता है। हास्य और भयानक का श्रृंगार मे, रौद्र और करुण का वीर मे, और अद्भुत और वीभत्स का शात मे। फिर इन तीनों मे मुख्य है श्रृंगार।" यह नवीन वर्गीकरण भी अन्य वर्गीकरणों की तरह बहुत संगत या. अ..तिक नही हैं। लोक जीवन मे तथा साहित्य मे रति, उत्साह और शम ये तीन उदात्त वृत्तियाँ अवश्य है, परन्तु करुणा का महत्त्व भी इनसे कम नही हैं। वास्तव मे साहित्य मे शांत की अपेक्षा करुण का परिपाक अधिक सरल और स्वाभाविक है। आदि काव्य रामायण करुण-रस-प्रधान ही है। इसी प्रकार शान्त के साथ अद्भुत और वीभत्स का सामंजस्य तो ठीक बैठ जाता है, वीर के व्यापक रूप के साथ करुण और रौद्र भी आ जाते है, परंतु श्रृंगार और भयानक की असंगति केवल 'भय बिनु होइ न प्रीति' के बल पर कैसे मानी जा सकती है ?

भाव का वर्णन हिन्दी कवियो ने बडी उपेक्षा के साथ, और इसीलिए बहुत कुछ भ्रामक रूप मे किया है। केशव ने वीभत्स के स्थायी जुगुप्सा के लिए निन्दा शब्द का ही प्रयोग किया है—ग्लानि तक तो ख़ैर थी, परन्तु निंदा तो सर्वथा

अशक्त शब्द है। दास ने 'प्रीति' नामक भाव और माना है, परन्तु उसका आधार रुद्रट का प्रेयान् ही है। देव ने तेंतीस संचारियों के अतिरिक्त एक और संचारी छल माना है, और वितर्क के अवांतर भेद कर दिये हैं: (१) विप्रतिपत्ति, (२) विचार, (३) संशय, (४) अध्यवसाय। परन्तु यह भी रसतरंगिणी का ही अनुवाद है। कामदशाओं में भी विस्तार-प्रिय देव ने भेदों की शृंखला जोड़ दी है और अभिलाषा, स्मरण, चिंता, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, आदि के अनेक भेद करके रख दिये हैं। इनमें सब से अधिक मनोरंजक है आठों सात्विकों के अनुसार स्मरण के भेद—स्वेद, रोमांच, अश्रु आदि सभी का अन्तर्भाव आपने स्मरण में कर दिया है। एक दूसरे स्थान पर देव ने इन्हीं सात्विकों की गणना संचारियों के अन्तर्गत की है। भाव-विलास में संचारी भाव दो प्रकार के माने गये हैं:—एक शारीर, दूसरे आंतर। शारीर हैं स्वेद, स्तम्भ आदि सात्विक भाव और आंतर हैं निर्वेद, ग्लानि आदि प्रसिद्ध व्यभिचारी। सात्विकों को व्यभिचारी या सचारी के अन्तर्गत शारीर संज्ञा देकर अन्तर्भूत करना यह देव की मौलिक सूझ है, ऐसा भ्रम हो सकता है, परन्तु जैसाकि देव ने स्वयं स्वीकार किया है। भरत आदि में भी इस प्रकार का वर्णन है।भरत ने वास्तव में स्थायी के अतिरिक्त संचारी और सात्विकों को भाव के अन्तर्गत गिना है व्यभिचारी के अन्तर्गत नहीं। बाद के आचार्य मम्मट, विश्वनाथ आदि ने सात्विकों को अनुभाव माना है। किंतु देव का मूल आधार यहां भी भानुदत्त की रस-तरंगिणी ही है। साधारणतः इसमें कोई नवीनता नहीं नज़र आती फिर भी यह व्यवस्था मनोविज्ञान की दृष्टि से असंगत नहीं है। सात्विक भाव भी रस के परिपाक में शरीर में संचरण कर स्थायी को पुष्ट करते ही हैं, इस दृष्टि से उनको व्यभिचारी का 'शरीर' रूप मान लेने में कोई हर्ज भी नहीं है। सात्विक की स्थिति मनोविज्ञान की दृष्टि से शुद्ध संवेदन अर्थात् ऐसे संवेदन की है जिसमें शारीरिक स्पनन्दन अधिक से अधिक और मानसिक कम से कम होता है। परन्तु अनुभूति का अंश उनमें है अवश्य, इसलिये अनुभाव के साथ उसका सम्बन्ध संचारी से भी मानने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। इन्हीं (भानुदत्त और देव) के अनुसरण पर रसलीन ने भी अपने रस-प्रबोध में व्यभिचारी के दो भेद किए हैं: तन-व्यभिचारी और मन-व्यभिचारी, और सात्विकों को तन व्यभिचारी माना है।

दास ने इसी प्रकार हावों की संख्या में वृद्धि की है—प्रचलित दस भावों में उन्होंने दस और जोड़ दिए हैं परन्तु उनमें से आठ तो, जैसा कि शुक्ल जी ने निर्देश किया है, साहित्य-दर्पण में वर्णित नायिका के कृति-साध्य अठारह अलंकारों में से अंतिम आठ अलंकार हैं। शेष दो बोधक और हेला भी उनके अपने नहीं हैं। उनमें पूर्व केशव ने भी विश्वनाथ के दो 'अंगज अलंकार' हाव और हेला और

एक कृति-साध्य अलंकार 'मद' को अपने भेदो मे जोड दिया है। इनके अतिरिक्त उन्होंने एक और हाव माना है : 'बोध'—यह बोध ही दान का बोधक हाव है। कहने की आवश्यकता नही कि यह प्रपच न विशेष मनोवैज्ञानिक ही है और न आत्यंतिक ही। इस तरह तो साहित्य के भेद-प्रभेदो का कितना ही आडम्बर रचा जा सकता है। वास्तव मे बखेडा खडा करते समय ये कवि-आचार्य विश्वनाथ के इस स्पष्ट सिद्धांत-वाक्य को भूल गये कि "एते च त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिभेदा इति यदुक्तं तदुपलक्षणमित्याह।" अर्थात् ये गिनाये हुए भाव इत्यादि उपलक्षण मात्र हैं। इनका और भी विस्तार हो सकता है।

अब नायिका-भेद को लीजिए। हिन्दी का नायिका-भेद संस्कृत की अपेक्षा कही अधिक विस्तृत और व्यवस्थित है। आखिर पूरे दो सौ वर्षों तक हिन्दी के कवियो ने किया ही क्या ? परन्तु यह विस्तार और व्यवस्था उदाहरणों की दृष्टि से ही अधिक मान्य है—निरूपण की दृष्टि से नही। इस क्षेत्र मे भी इन कवियो ने लक्षण और रीति-विवेचन के लिए संस्कृत के ही ग्रन्थो का आश्रय लिया है। कुछ लोगो का विचार है कि मुग्धा, मध्या और प्रौढा के अवान्तर-भेद हिन्दी कवियो की कल्पना की उद्भूति है। परन्तु बात ऐसी नही है। ये भेद प्रायः सभी विश्वनाथ तथा भानुदत्त मे मिल जाते हैं। केशव और देव ने मुग्धा के चार भेद माने हैं :—१. नव-वधू, २. नवयौवना, ३. नवल-अनंगा और ४. लज्जा-प्राय-रति (सलज्ज-रति)। इनमे नव-यौवना, नवल-अनंगा और लज्जा-प्राय-रति क्रमशः विश्वनाथ के प्रथमावतीर्ण-यौवना, प्रथमावतीर्ण-मदनविकारा, और समधिक-लज्जावती के पर्याय हैं ; नव-वधू मुग्धा का सामान्य रूप है।—देव मुग्धात्व को वय सन्धि तक खींच ले गये हैं, और उधर रसलीन ने भेदो के भी भेद कर डाले है। मुग्धा का विभाजन एक दूसरी रीति से भी किया जाता है : अज्ञात-यौवना, ज्ञात-यौवना ( नवोढा, विश्रब्धनवोढा )—और ये भेद अधिक संगत भी हैं। हिंदी के चितामणि, मतिराम, बेनी प्रवीन, पद्माकर, आदि ने इन्ही को माना है। परन्तु ये भी उनकी नवीन उद्भावना नही है—इनका भी आधार संस्कृत का लोक-प्रिय ग्रन्थ रस-मंजरी ही है। हिंदी कवियो ने ये समस्त भेद और इनके अवान्तर रूप ज्यो के त्यों भानुदत्त से उद्धृत कर लिए है। इसके अतिरिक्त नवोढा विश्वनाथ के रतिवामा का ही दूसरा नाम है—और विश्रब्धनवोढा समधिक-लज्जावती का। केशव और देव ने मध्या के भी चार भेद किए है :–(१) आरूढयौवना (केशव) अथवा रूढ-यौवना (देव), (२) प्रादुर्भूत-मनोभवा, (३) प्रगल्भ-वचना, (४) सुरति-विचित्रा ये भी विश्वनाथ के प्ररूढ-यौवना, प्ररूढस्मरा, इषत्प्रगल्भवचना और विचित्र-सुरता के ही नामान्तर मात्र हैं। विश्वनाथ का मध्य-व्राडिता इन्होने छोड दिया है। इसी

प्रकार प्रौढा के भी चार अवान्तर भेद है, १ समस्त-रत-कोविदा २. आक्रमित-नायका ( आक्रांतनायका—देव ) ३. लब्धापति, ४. विचित्र-विभ्रमा (सविभ्रमा)। यहाँ समस्त-रत-कोविदा और आक्रांत-नायका तो विश्वनाथ के ही भेद है—और विचित्र-विभ्रमा भावोन्नता का रूपान्तर है। लब्धापति शायद स्वतंत्र है (?) रसलीन ने पति-दुःखिता नायिकाएँ भी कही हैं—जिनमे से कोई बेचारी मूढमति कोई बालपति और कोई वृद्धपति के कारण दुःखी है। इनकी मान्यता घोषित करते हुए रसलीन कहते हैं कि—

इन भेदन मे जो कोऊ रसाभास विख्यात।
मुग्धा, कुलटा हू विषे सो पुनि पायौ जात॥

[ रसप्रबोध ]

परकीया के विश्वनाथ आदि मान्य आचार्यों ने दो ही वर्णन किए है—ऊढा और अनूढा। हिंदी मे छ भेद और दृष्टिगत होते है :—गुप्ता, विदग्धा, (१ वचन, २ क्रिया), लक्षिता, कुलटा, मुदिता, और अनुशयना। केशव को छोडकर चितामणि, मतिराम, देव, पद्माकर आदि बाद के सभी कवियो ने इनका व्यवस्थित और स्पष्ट वर्णन किया है। परन्तु यह भी रसमंजरी के भेदो का ही शुद्ध अनुवाद है—'गुप्ता विदग्धा लक्षिता कुलटा अनुशयना मुदिता प्रभृतीनां परकीयायामेवान्तर्भावः।' दास ने इस क्षेत्र में भी कुछ मौलिकता लाने का प्रयत्न किया है—उन्होने परकीया के उद्बुद्धा और उद्बोधिता दो नवीन भेद किए है। उद्बुद्धा जिसके हृदय मे प्रीति स्वयं उत्पन्न हो। उद्बोधिता जिसके हृदय मे नायक द्वारा प्रीति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाए। उद्बुद्धा प्रेम की मात्रा के अनुसार दो प्रकार की कही गई है : १. अनुरागिनी २. प्रेमाशक्ता। उद्बोधिता के तीन भेद है—असाध्या, दुःखसाध्या और साध्या [ जब कि वह पूर्णत उद्बोधिता हो जाती है ]। रसलीन ने इस विस्तार को और भी बढाया है—उन्होने असाध्या, दुःखसाध्या और साध्या आदि के अनेक भेद किये है। ये भेद शास्त्रीय दृष्टि से विशेष स्वतंत्र महत्व न रखते हुए भी कम से कम उस युग के सामाजिक जीवन पर अच्छा प्रकाश डालते है; और साथ ही इन कवियो के आलोचनात्मक पर्य्यवेक्षण का प्रमाण भी उपस्थित करते है। परन्तु दास का महत्व भेद-विस्तार के लिए इतना नही है—जितना कि व्यवस्था के लिए है। उन्होने काफी स्वच्छ रीति से नायिका-भेद की असंगतियो को सुलझाया है। उदाहरण के लिए उन्होने गर्विता के विभिन्न भेदो को स्वतन्त्र न मान कर स्वाधीनपतिका के अंतर्गत, धीरा आदि को खण्डिता के अन्तर्गत और अन्य-संभोग दुःखिता को उत्कण्ठता के अन्तर्गत माना है। इसके अतिरिक्त

तत्कालीन परिस्थिति के अनुकूल उन्होने देव से संकेत ग्रहण कर, रक्षिता (रखैल) आदि की भी स्वकीया के अन्तर्गत ही गणना करते हुए रसाभास से मुक्ति पा ली है। संस्कृत मे और हिन्दी मे भी सामान्या का साधारणतः एक ही रूप माना गया है, परन्तु रसलीन की तृप्ति उससे नही हुई—और उन्होने अपने समय की 'सामान्याओ' की गति विधि का निरीक्षण करते हुए उसके भी चार भेद कर दिए—१. स्वतंत्र, २ जननी अधीना, ३. नियमिता और ४. प्रेम-दुःखिता।

अवस्था के अनुसार संस्कृत मे भरत के समय से ही आठ प्रकार की नायिकाएँ कही गई है; हिन्दी मे प्रवत्स्यत्पतिका और आगतपतिका, ये दो भेद और मिलते है। इनमे प्रवत्स्यत्पतिका तो भानुदत्त की रसमंजरी मे वर्णित प्रोत्स्यत्-पतिका है। जिसका उन्होने प्राचीनो के अनुसार स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित किया है, "प्राचीनलेखनादग्रिमक्षणे देशान्तरनिश्चितगमने प्रेयसि प्रोत्स्यत्पतिका नवमी नायिका भवितुमर्हति।" उन्होने स्पष्ट लिखा है कि इसका अंतर्भाव खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा आदि मे नही किया जा सकता; अतएव इसका स्वतंत्र अस्तित्व ही स्वीकार करना अनिवार्य है। हमारे विचार मे ऐसी ही युक्ति आगत-पतिका के लिए भी दी जा सकती है। प्रोषित-पतिका और आगतपतिका के संयोग से अर्थात् पति के गमनागमन के आश्रित देव ने गनागतपतिका ( गमनागौन ) नायिका की भी कल्पना करली है। वास्तव मे नायिका की यह मनःस्थिति है तो अत्यन्त मार्मिक।—बिहारी ने दो एक दोहो मे इसका अत्यन्त सुन्दर अंकन किया हैं, परन्तु यहाँ दो आपत्तियाँ हो सकती है : एक तो यह कि अवस्था इतनी स्थायी नही है कि इसके आधार पर एक स्वतन्त्र भेद की कल्पना की जा सके। दूसरे, यह उपर्युक्त दोनों अवस्थाओ पतिगमन और पति आगमन का संयोग ही तो है। थोडे अन्तर से ऐसा ही तर्क आगमिष्यत्पतिका के लिए भी उपस्थित किया जा सकता है, उसकी स्थिति मे भी एक विशेष भाव-सौंदर्य वर्तमान रहता है। पर इस विस्तार का कहीं अन्त भी होगा या नही—इस प्रकार तो न जाने कितने भेद हो जाएंगे ?

फिर भी यह विस्तार रुका थोडे ही, भाव-शास्त्र की सीमा का अतिक्रमण कर अन्य शास्त्रो मे भी इसने प्रवेश कर ही लिया। काम-शास्त्र मे दिए हुए जाति-भेद का विश्वनाथ ने विस्तार तो नही किया, परन्तु संकेत अवश्य दे दिया है। उसी को केशव और उनके उपरांत देव आदि ने लक्षण और उदाहरणो से परिपुष्ट कर हमारे सामने रख दिया। चितामणि ने अंशानुसार तीन भेद और दिए हैं :— दिव्य, अदिव्य और दिव्यादि, परन्तु ये भी रसमंजरी से अनूदित है। देव केवल जाति और अंश-भेद से ही संतुष्ट नही रहे। उन्होंने गुण-भेद, प्रकृति-भेद देश-भेद न जाने कितने भेद और और कर डाले हैं। परन्तु ये भेदान्तर न तो नवीन

हैं और न महत्वपूर्ण। देव ने भी इनका नियोजन मात्र ही किया है, सृष्टि नहीं, क्योंकि इस प्रकार कुछ भेदों के संकेत तो साहित्य-ग्रन्थों मे ही मिल जाते हैं। उदाहरण के लिए देश-भेद की ओर मम्मट ने काव्य-प्रकाश के चतुर्थ उल्लास मे संकेत किया है :—

"तत्रापि देशकालावस्थादिभेदा".. ,उधर प्रकृति, गुण, सत्व इत्यादि के लिए भी काम-शास्त्र, वैद्यक आदि मे प्रचुर सामग्री भरी पडी है।

रीतिकाल का दूसरा मुख्य वर्ण्य विषय है अलंकार। इस युग में नायिका-भेद के बाद सबसे अधिक ग्रन्थ अलंकारो पर मिलते हैं। इस क्षेत्र मे भी सबसे पहले केशव ने ही चमत्कार दिखाया हे। उन्होंने अलंकारो का सामान्य और विशेष दो भेदों में विभाजन किया है, जो हिन्दी-पाठक के लिए एक नवीन योजना अवश्य है परन्तु यह विभाजन वास्तव मे संस्कृत के पूर्व-ध्वनि-काल की विचारधारा पर आश्रित है—जब कि भामह, दण्डी, वामन आदि समस्त काव्य-सौन्दर्य्य को ही अलंकार के अन्तर्गत मानते थे, जब अलंकार काव्य के अस्थिर-धर्म नही थे। स्थिर शोभाकारक धर्म थे। दण्डी ने अलंकारो को काव्य को ही शोभित करने वाले धर्म कहा है, विश्वनाथ आदि की तरह शोभा की वृद्धि मात्र करने वाले अस्थिर धर्म नही कहा। अतएव उनकी दृष्टि मे रस, रीति, गुण, आदि काव्य के समस्त अंग, जिनसे उसके सौन्दर्य्य की सृष्टि होती है, अलकार के ही अन्तर्गत आ जाते है। इसी परम्परा के अनुसरण पर केशव ने सभी कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध-बातो को अलंकार मानकर उनके सामान्य अर्थात् वर्ण्य से सम्बद्ध और विशेष अर्थात् वर्णन-शैली से सम्बद्ध दो भेद कर दिये है। जैसा कि आचार्य शुक्ल और उनके उपरांत पं० कृष्ण-शंकर शुक्ल ने विस्तारपूर्वक दिखाया है केशव ने अपना सभी विवेचन संस्कृत ग्रन्थो से लिया है। सामान्य अलंकारो का वर्णन संस्कृत के उत्तरकाल मे रचे हुए दो कवि शिक्षा-ग्रन्थों से—अमर को काव्य-कल्पलता-वृत्ति तथा केशव मिश्र के अलंकार-शेखर से—अनूदित किया गया है, और विशेष अलंकारों का वर्णन दण्डो के काव्यादर्श पर आश्रित है। केशव के भेद, लक्षण आदि ही नही अनेक उदाहरण तक दण्डी से लिए गये हैं। उनके द्वारा दिये गए उपमा के विभिन्न भेदों मे से कुछ तो दण्डी से ज्यो के त्यो ले लिए गये हैं, कुछ नामान्तर करके रख दिये गये हैं। विपरीतोपमा आदि एकआध भेद, जो उनकी अपनी कल्पना हैं, उपमा ही नही बन पाये है। यही बात आक्षेप, दीपक और हेतु के भेदो के विषय मे कही जा सकती है। अर्था-न्तरन्यास के भेद दण्डी से भिन्न है, परन्तु उनमे प्रायः अलंकारत्व ही नही आ-पाया। कही कहीं ऐसा भी हुआ है कि दण्डी का वास्तविक आशय न समझ सकने के कारण ही केशवकृत उपभेदो मे नवीनता दिखलाई पडने लगती है। इनके

अतिरिक्त उन्होने एक अलंकार माना है : गणना जिसमें एक से लेकर दस तक संख्या वाली वस्तुएं गिनाई हैं। यह वास्तव में विशेष अलंकार न होकर उनके सामान्य अर्थात् वर्णन विषय से सम्बद्ध अलंकारो मे ही आता है। इसका भी आधार अमर और केशव मिश्र के ग्रन्थ ही हैं।

भूषण ने काफ़ी गडबड करने पर भी दो नये अलंकार दिये है—सामान्य-विशेष और भाविक-छवि। इनमे सामान्य-विशेष तो, जिसमे कि विशेष के द्वारा सामान्य का बोध कराया जाता है, निश्चय ही अप्रस्तुत-प्रशंसा का 'विशेष-निबंधना रूप मात्र है। भाविक-छवि भाविक का रूपातर है जिसमें कालगत दूरी की जगह स्थानगत दूरी को आधार माना गया है। फिर भी भाविक-छवि की उद्भावना मे यत्किंचित स्वातन्त्र्य मानना और उसीके अनुपात से भूषण को भी उसका श्रेय देना उचित होगा : क्योंकि शुक्ल जी और उनके अनुयायियो की यह युक्ति कि रीतिकाल के कवियो की अमुक उद्भावना अमुक भाव अथवा अमुक अलंकार का रुपांतर है सर्वत्र बहुत संगत नही है। रूपातर की बात की जाएगी तो संस्कृत शास्त्रों मे दिए हुए काव्यांगो के अनेक भेद निरर्थक सिद्ध हो जाएंगे, अलंकारो मे ही अनेक प्रधान अलंकार ऐसे हैं जिनको रूपांतर कहकर अन्य अलंकारों मे अंतर्भूत किया जा सकता है।

देव ने अलंकार-निरूपण बहुत ही चलते ढंग पर किया है। उन्होने नाम और लक्षण प्रायः केशव के ही अनुकरण पर दे दिये हैं, इसीलिए दो-एक नाम संस्कृत से भिन्न मालूम पडते है। उदाहरण के लिए इनका संकीर्ण तो संकर और संसृष्टि दोनो का स्थूल रूप है और सुक्रमोक्ति 'क्रम' या 'यथा-संख्य' से भिन्न नहीं है। कुछ लोग नाम-वैभिन्य देखकर इनको नवीन उद्भावना ही मान बैठे है। इस प्रसंग मे भी जो कुछ थोडा-बहुत कार्य है, वह दास ने ही किया है। उनके द्वारा प्रतिष्ठापित वीप्सा और सिंहावलोकन चाहे कोई महत्वपूर्ण एवं सर्वथा नवीन अलंकार न हो—सिंहालोकन जिसका उल्लेख चित्र काव्य के अन्तर्गत देव ने भी किया है—न्याय से लिया गया है, वीप्सा व्याकरण से—परन्तु वे इस बात का परिचय अवश्य देते है कि दास को भाषा की प्रकृति की पहचान थी और साथ ही उनमे स्वतन्त्र आलोचना की शक्ति अवश्य थी। वास्तव मे कही कही छन्द का सौन्दर्य बहुत कुछ वीप्सा आदि पर ही आश्रित रहता है :—उदाहरण-स्वरूप देव का प्रसिद्ध 'पद रीझि-रीझि, रहसि रहसि, हँसि, हँसि उठै'—पेश किया जा सकता है। दास की व्यावहारिक आलोचन-प्रतिभा का एक दूसरा प्रमाण यह है कि उन्होने शब्दालंकारो को गुणो के आश्रित मानकर उनका साथ साथ वर्णन किया है। जैसा कि शास्त्रीय पृष्ठ-भूमि से स्पष्ट है, संस्कृत मे गुणो की परिभाषा और सैद्धांतिक

रूप चाहे कितना ही निर्भ्रांत क्यों न हो, परन्तु जहां उनके व्यावहारिक रूप का प्रश्न आता है, वहाँ उनका अस्तित्व वर्ण-योजना से सर्वथा पृथक करना सम्भव नहीं हो पाता। इसलिए प्राचीन आचार्यों के निषेध की उपेक्षा करके भी जगन्नाथ ने उनको वर्णों के आश्रित भी मान लिया है। दास ने भी शायद इसी उलझन को दूर करने के लिए, गुणों को रस का सहज धर्म मानते हुए भी उनको शब्दालंकार से सम्बद्ध माना है। इसके अतिरिक्त एक लेखक ने उनके दो अलंकारों के योग की कल्पना को भी, जिसके द्वारा उन्होंने अतिशयोक्ति के कुछ नवीन भेदों की सृष्टि की है, मिश्रालंकार मानकर बहुत कुछ महत्व दिया है। उनका कहना है कि ये मिश्रालंकार संकर से भिन्न हैं क्यों कि संकर में केवल शब्दालंकार और अर्थालंकार का योग रहता है, पर मिश्रालंकार में दो अर्थालंकारों का ही योग होता है। परन्तु भला इस भयंकर भ्रांति पर आश्रित उनकी प्रशंसा का क्या महत्व हो सकता है? वास्तव में ये मिश्रालंकार मम्मट द्वारा वर्णित संकर के उस रूप में आजाते हैं जिसमें अर्थालंकार अंगांगि भाव से संयुक्त रहते हैं—उनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं माना जा सकता।

अलंकार-क्षेत्र मे होने वाली वास्तविक अथवा तथाकथित उद्भावनाओं की सूची लगभग यहीं समाप्त हो जाती है। बाद मे एक-आध लेखक ने अवश्य प्रत्यक्ष प्रमाण के ज्ञानेन्द्रियों के अनुसार पांच सर्वथा हास्यास्पद भेद कर डाले है, परन्तु अधिकांश ने पाठ्य-ग्रन्थों की रचना ही अपना मूल उद्देश्य माना है। अतएव उन्होंने नवीन भेद-प्रभेदों के पचड़े मे न पड़ कर परिपाटी-भुक्त प्रचलित अलंकारों का ही निरूपण किया है। बहुत-से अप्रचलित स्वतन्त्र अलंकारों को भी उन्होंने काट-छाँट दिया है।

इस द्रौपदी के चीर को अब यहीं समाप्त कर दिया जाए। हमारे पास एक पृष्ठ-भूमि तैयार हो गई है, जिसके आधार पर उपर्युक्त उद्भावनाओं को परीक्षा करते हुए, अब हम रीति-कालीन आचार्यों की आलोचन-प्रतिभा का मूल्य आंक सकते है। जैसा कि ऊपर के विवरण से सिद्ध है इनके द्वारा वास्तव मे जो कुछ नवीन उद्भावनाएँ हुई हैं वे प्रायः महत्वहीन ही है। हिंदी के इन समीक्षक कवियों ने हमारे रीति-विवेचन मे कोई गम्भीर मौलिक योग नहीं दिया। इसका कारण स्पष्ट है। संस्कृत का रीति-शास्त्र अठारहवीं शताब्दी तक इतना व्यापक और पूर्ण हो चुका था कि उसका, कम से कम, विस्तार अब सम्भव नहीं था, उत्तर कालीन संस्कृत के आचार्य भी केवल पिष्ट-पेषण करते हुए कवि-शिक्षा के सरल ग्रन्थ ही तैयार कर पाए थे। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अब किसी प्रकार का मौलिक विवेचन हो नहीं हो सकता था। हम देख चुके है कि संस्कृत मे कवि के व्यक्तित्व

के अनुसार काव्य की प्रवृत्तियों का विश्लेषण सर्वथा उपेक्षित रहा है। उसको लिया जा सकता था, और कुछ नहीं तो कम से कम बरसाती नदी की तरह फैले हुए, इस सिद्धांत-विस्तार की व्यवस्था हो ही सकती थी। इसके अतिरिक्त हिंदी के समीक्षकों पर तो एक और गुरुतर दायित्व था:—हिंदी भाषा तथा हिन्दी साहित्य की प्रकृति की परीक्षा करते हुए उसके अनुकूल रीति-निरूपण करना—उदाहरण के लिए अलंकार के क्षेत्र में यह कितना आवश्यक था कि उचित वर्गीकरण कर उनमें काट छांट कर दी जाती और कम से कम उन अलंकारों को, जो वर्णन-शैली से सम्बन्ध न रखकर अलकार-विषय से सम्बन्ध रखते है, हटा दिया जाता। परन्तु ये लोग वास्तविक रूप में आलोचक नहीं थे, इनका रीति-निरूपण भी वास्तविक आलोचन न होकर आलोचनाभास ही कहा जा सकता है। इसीलिए इन्होंने अपने दायित्व को गंभीरतापूर्वक नहीं ग्रहण किया। संस्कृत के पतन-काल की वर्णनात्मक परिपाटी को अनुकूल पाकर उसका अनुसरण करना ही इन्हें सुगम प्रतीत हुआ। परिणामत: ये बेचारे उचित व्यवस्था भी नहीं कर पाये, मौलिक उद्भावनाएँ करना तो दूर की बात थी। व्यवस्था की दृष्टि से श्रीपति, और उनसे अधिक दास का ही थोडा-बहुत आभार माना जा सकता है—दास ने एक ओर समान अलंकारों के वर्ग बनाने का स्थूल प्रयत्न किया है और नायिका आदि के विवरण मे समयानुकूल थोडा संशोधन किया है, तो दूसरी ओर भाषा की प्रकृति के अनुसार कुछ अलंकारों की उद्भावना तथा तुक का सर्वथा मौलिक विवेचन भी किया है। इनके अतिरिक्त थोडे बहुत गौरव के पात्र हैं वे आचार्य जिन्होंने काव्य के सर्वांग-विवेचन का प्रयत्न किया है। यद्यपि इनका मौलिक योग कोई नहीं है क्योंकि इन्होंने प्रायः काव्य-प्रकाश, साहित्य-दर्पण आदि का अनुवाद ही किया है। फिर भी कम से कम इनका साहित्य ज्ञान गम्भीर अवश्य था और हिंदी मे संस्कृत की गम्भीर-विवेचन-परम्परा को अवतरित करने के लिये हमें इनके प्रति कृतज्ञ होना चाहिए। ये आचार्य हैं : कुलपति, श्रीपति, दास, सोमनाथ, प्रतापसाहि और रसिक गोविन्द। केवल शृंगार के क्षेत्र मे यह श्रेय मतिराम, सुखदेव, वेनीप्रवीन और पद्माकर आदि को दिया जा सकता है—और केवल अलंकार के क्षेत्र में जसवंतसिंह, मतिराम, दलपतिराय बंसीधर, रघुनाथ सदृश कवियो को। इन सभी की चिंतनपद्धति इतनी स्वच्छ और विवेक-संगत थी कि इन्होंने किसी प्रकार की मौलिकता के चक्कर मे न पड़ते हुए सरल और स्वच्छ-निरूपण तक ही अपनी दृष्टि को सीमित रखा। इसी लिए तो इनके ग्रन्थ अपने विषय का ज्ञान कराने मे हिन्दी पाठकों के लिये इतने उपयोगी सिद्ध हो सके। मौलिक विस्तार की सब से अधिक आकांक्षा थी केशव और उनसे भी अधिक उनके अनुयायी देव को। परन्तु वास्तव में इन दोनो का

पाण्डित्य विस्तृत होते हुए भी, चिंता-धारा बहुत सुलझी हुई नहीं थी। केशव की भ्रांतियाँ उनकी उलझी विचार-धारा का अतर्क्य प्रमाण हैं। देव की विस्तार-प्रियता की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं, परन्तु विस्तार स्वयं अपने में महत्वपूर्ण नहीं है। उसके पीछे यदि प्रौढ़ तर्क का आधार और अनिवार्यता का आग्रह नहीं है, तो वह एक वाग्जाल मात्र रह जाती है। देव की तबीयत इतनी ज़्यादा मीज़ान-पसन्द थी कि वे अकसर विवेक और सुरुचि तक को ताक में रख देते थे। वात, पित्त, कफ प्रकृति, और नाग, खर आदि के अंशों पर आश्रित नायिकाओं का वर्णन हमारे कथन की पुष्टि करेगा। देव काव्य के सूक्ष्म-मर्मी कवि थे। रस के मूल-तत्व की थाह उन्होने पा ली थी इसमे सन्देह नही, इसके अतिरिक्त उनकी एक आध संगति भी ठीक बैठी है। परन्तु यह व्यक्ति कुछ अतिवादी था, इसीलिए अपनी असाधारण प्रतिभा का उचित उपयोग न कर पाया। केशव को यह गौरव भी नही दिया जा सकता, उनकी मर्मज्ञता सीमित थी। वे काव्य की सूक्ष्म तरल वृत्तियों को नहीं पकड़ पाते थे, अतएव उनका महत्व वैयक्तिक से अधिक ऐतिहासिक ही माना जाएगा।

सारांश यह है कि इस युग मे काव्य-मर्मज्ञ अनेक हुए। प्रकाण्ड विद्वानो की भी कमी नही थी। परन्तु एक तो युग की रुचि ही गम्भीर नही रह गयी थी, लोग मीमांसा का नही रसिकता का आदर करते थे—इसलिये उनकी दृष्टि संस्कृत के उत्तर-कालीन अधोगत साहित्य-शास्त्र से ऊपर नही जा पाती थी। दूसरे, सब से बड़ा अभाव गद्य का था जिसके कारण सूक्ष्म-विश्लेषण सम्भव ही नही था। परिणाम यह हुआ कि इनका रीति-निरूपण वर्णनात्मक ही रह गया विवेचनात्मक नही हो पाया।

काव्य-सिद्धान्त और सम्प्रदाय :—संस्कृत मे काव्य के पाँच मुख्य सम्प्रदाय स्थापित हुए थे। रस, अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति, जिनमे सर्व-मान्य हुआ ध्वनि-सम्प्रदाय। रीति और वक्रोक्ति तो अधिक जीवित ही न रह सके, अलंकार का भी तिरस्कार हुआ परन्तु उसका अस्तित्व अंत तक बना रहा। बाद मे यद्यपि अभिनव और मम्मट में द्वारा रस-ध्वनि का एकीकरण सा ही हो गया था, परन्तु फिर भी इन दोनों का थोड़ा सा मौलिक अन्तर अवश्य मानना पड़ेगा। ध्वनि मे बौद्धिक तत्व और रस मे ऐंद्रिय तत्व की अपेक्षाकृत प्रधानता अनिवार्यतः निहित है। इसी आधार पर विश्वनाथ ने ध्वनि की महत्ता स्वीकृत करते हुए भी शुद्ध रस को ही काव्य की आत्मा माना। इस प्रकार हिन्दी के रीति-कवियो के सामने तीन काव्य-सम्प्रदाय थे—ध्वनि, रस और अलंकार, इन तीनो का ही अनुसरण उन्होंने किया। हम देख चुके हैं कि रीतिकाल के वे आचार्य जिन्होने सर्वाङ्ग-विवेचन

किया है प्रायः मम्मट के अनुयायी थे। कुलपति, श्रीपति, दास, प्रतापसाहि आदि, जिनकी प्रवृत्ति अपेक्षाकृत बौद्धिक अधिक थी, स्पष्टतः मम्मट की भाँति ध्वनि अथवा रस-ध्वनिवादी थे। उनके काव्य की पद्धति और रीति-सिद्धांत दोनों ही इसके प्रमाण है। कुलपति ने स्पष्ट ही ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है—

व्यंग्य जीव ताको कहत, शब्द अर्थ हैं देह,
गुन गुन, भूषन भूषनैं, दूषन दूषन देह।

[ रस-रहस्य ]

दास ने यद्यपि आरम्भ मे रस को कविता का अंग, अर्थात् प्रधान अंग माना है —

रस कविता को अंग, भूषन हैं भूषन सकल,
गुन सरूप औ रंग दूपन करै कुरूपता।

[ काव्य-निर्णय ]

परन्तु फिर भी उनके ग्रन्थ मे इस प्रकार के स्पष्ट संकेत हैं कि रस से उनका तात्पर्य रस-ध्वनि का ही है।

भिन्न भिन्न यद्यपि सकल, रस भावादिक दास,
रसै व्यंगि सब को कह्यो, ध्वनि को जहां प्रकास।

[ का० नि० ]

इसके अतिरिक्त मम्मट की ही तरह इन्होने अलंकार को भी वहुत महत्व दिया है—

अलंकार बिनु रसहु है, रसौ अलंकृति छंडि,
सुकवि बचन रचनान सो देत दुहुन को मंडि।

[ का० नि० ]

प्रतापसाहि तो स्वीकृत रूप मे ध्वनिवादी थे ही—

व्यंग्य जीव है कवित मे, शब्द, अर्थ गति अंग,
सोई उत्तम काव्य है वरनै व्यंग्य प्रसंग।

[ व्यंग्यार्थ कौमुदी ]

उन्होंने व्यंग्य पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही रचा है जिसमे सारे रस-प्रसंग का व्यंग्य —ध्वनि के द्वारा वर्णन किया गया है।

हिंदी रीति काव्य मे ध्वनिवाद का सर्वोत्कृष्ट रूप विहारी और प्रतापसाहि

मे मिलता है। बिहारी ने यद्यपि लक्षण ग्रन्थों की रचना नही की परन्तु उनके काव्य की प्रवृत्ति सर्वथा ध्वनिवाद के ही अनुकूल थी। उनके दोहो के काव्य-गुण का विश्लेषण करने पर यह संदेह नही रह जाता कि वे रसवाद के शुद्ध मानसिक-प्राकृतिक आनंद की अपेक्षा ध्वनिवाद के बौद्धिक आनन्द को ही अधिक महत्व देते थे।

उपर्युक्त कवियो मे स्पष्टतया भिन्न दृष्टिकोण है मतिराम, देव, रसलीन, बेनीप्रवीन जैसे कवि-आचार्यों और उनसे भी अधिक घनानन्द, ठाकुर, नेवाज, बोधा आदिक रीति-मुक्त कवियों का जो असंदिग्ध रूप में रसवादी थे। काव्यगत रसमग्नता के अतिरिक्त इनके रीति-संकेत भी इसी प्रवृत्ति के द्योतक हैं। इन सभी ने रस का, विशेषकर शृंगार रस का ही, वर्णन किया है; अन्य अङ्गों को तो प्रायः छुआ तक नही है। मतिराम ने रसराज की रचना कवियों और रसिकों के लिए ही की है पण्डितो के लिए नही :—

रसिकन के रस को किया नयो ग्रन्थ रसराज।

देव के विषय मे तो कहना ही क्या ? वे तो रसवाद के सब से बडे पृष्ठ-पोषक थे—

काव्यसार शब्दार्थ को, रसु तेहि काव्य सुसार,<br>
सो रस बरसत भाव बस, अलंकार अधिकार।<br>
ताते काव्य सु मुख्य रस, जामे दरसत भाव,<br>
अलंकार शब्दार्थ के छंद अनेक सुभाव।

[ शब्द-रसायन ]

उन्होंने काव्य की सृष्टि और श्रवण दोनो मे ही हृदयोल्लास की स्थिति को अनिवार्य माना है : 'कहत लहत उलहत हियो, सुनत चुनत चित प्रीति'; और रस-कुटिल केवल व्यंग्य-लीन काव्य को स्पष्ट शब्दों मे अधम घोषित किया है। उन्होंने अभिधा-आश्रित काव्य को इसी लिए उत्तम माना है कि उसके द्वारा सहृदय काव्य-रस का सीधा संवेदन कर सकता है—उसमे किसी प्रकार का व्यवधान नही रहता जो लक्षणा अथवा व्यंजना के अधीन काव्य मे थोड़ा बहुत सर्वथा अनिवार्य होता है। और यही कारण है कि इस रस-सिद्ध कवि ने अलकारो मे भी स्वभाव और उपमा को ही प्रधानता दी है, तथा चित्र-काव्य की रचना के लिये 'वायस चाम चबात' कहा है। इन कवियो की काव्य-पद्धति के विषय मे तो अधिक कहना व्यर्थ है। ये सभी रस-सिद्ध एवं शुद्ध हृदयवादी कवि थे जो प्रेम को जीवन का सार मान कर चले थे। उधर, घनानन्द, ठाकुर आदि मे. जो रीति के बन्धन से सर्वथा

मुक्त हो गये थे, यह प्रवृत्ति अपनी चरम सीमा को पहुँच गई थी। उन्होंने तो अपनी कविता रसिकों के लिए भी नहीं रसज्ञ 'नेहियों' के लिए लिखी थी।

तीसरे सम्प्रदाय अलंकारवाद का भी प्रभाव हिन्दी में उपेक्षा योग्य नहीं कहा जा सकता। अलंकार ग्रन्थों की इतनी वृहत संख्या ही उसका महत्व प्रतिपादन करने के लिए पर्याप्त है। यह ठीक है कि इन सभी के रचयिताओं को अलंकारवादी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उन्होंने न तो रस का तिरस्कार ही किया है और न अलंकार को ही काव्य का प्राण माना है। परन्तु जिन्होंने अपने 'रस-प्रेम' का कोई विशिष्ट परिचय न देकर केवल अलङ्कार-ग्रन्थों का ही प्रणयन किया है, उनको अलङ्कार-सम्प्रदाय से बाहर नहीं माना जा सकता। केशव का यह सिद्धान्त-वाक्य :—

जदपि जाति सुलच्छिनी, सुबरन सरस सुवृत्त;
भूषन बिन न बिराजही, कविता, वनिता मित्त।

[ कवि-प्रिया ]

उनका दण्डी का अनुकरण और सब से अधिक उनका काव्यगत अलङ्कार-मोह सभी यह सिद्ध करते हैं कि वे मूलतः शृंगार-रसिक होते हुए भी अलङ्कारवादी थे। राजा जसवन्तसिंह और उनके अनुयायियों की प्रवृत्ति, किसी स्पष्ट सिद्धान्त-वाक्य के अभाव में भी, इसी ओर संकेत करती है। बाद के कवियों में उत्तमचन्द भण्डारी और ग्वाल की भी रुचि अलंकारों में ही रमी थी। भण्डारी ने तो केशव के सिद्धान्त-वाक्य को ही प्रतिध्वनित करते हुए स्पष्ट कहा है :—

कविता बनिता रस-भरी, सुन्दर होइ सुलाख।
बिन भूषन नहि भूषही, यहै जगत की साख॥

[ अलंकार-आशय ]

इन के अतिरिक्त कुछ लक्ष्य-ग्रन्थकार भी स्पष्टतः ही इस सम्प्रदाय के अनुयायी थे : जैसे यमक-शतक के रचयिता रहमान और चित्र-चन्द्रिका के लेखक काशीराज इत्यादि।

इस प्रकार रीति-युग में ध्वनि, रस और अलंकार इन तीन ही वादों का अनुसरण हुआ। रीति और वक्रोक्ति का तो किसी ने नाम ही नहीं लिया क्योंकि वैसे भी वे उस समय तक काव्य-शास्त्र से बहिष्कृत हो चुके थे। उपर्युक्त तीनों वादों में भी प्रधानता रही—रस-सम्प्रदाय की और रस में भी शृंगार-रस की। वास्तव में हिन्दी में रुद्रभट्ट और भोज के अनुकरण पर 'शृंगारवाद' की स्वतन्त्र रूप में ही प्रतिष्ठा हो गई थी।

# श्रृङ्गारिकता

श्रृङ्गारिकता के कारण:—रीति-काव्य की दूसरी प्रधान प्रवृत्ति है श्रृङ्गारिकता। उसे तो वास्तव मे रीति-काव्य की स्नायुओ मे बहने वाली रक्त-धारा कहना चाहिए, क्योंकि इस वृहत् युग की कविता का नवदशांश से भी अधिक श्रृङ्गारिक प्रधान है। श्रृङ्गार की इस अतिशयता को तात्कालिक सामाजिक परिस्थिति और परम्परागत साहित्यिक प्रभावों के प्रकाश मे अत्यन्त सरलता से समझा भी जा सकता है। भारतीय इतिहास मे यह घोर अधःपतन का युग था—मुसलमानो का जीवन तो ऐहिक शक्ति और सुख के अतिचार के कारण जर्जर हो गया था और हिन्दू-जीवन पराभव से जीर्ण था। भक्ति-युग मे हिन्दुओ को केवल राजनीतिक पराभव ही सहना पडा था, आर्थिक स्थिति अधिक चिंताजनक नही थी। इसके अतिरिक्त उस समय के लोक-नायक महात्माओ ने आध्यात्मिक विश्वासो का ऐसा मांगलिक प्रकाश विकीर्ण कर दिया था कि हिन्दुओ ने सब कुछ खोकर भी जीवन का उत्साह नही खोया था। परन्तु रीति-काल तक आते आते आर्थिक स्थिति भी सर्वथा भ्रष्ट हो गई थी, और वह आध्यात्मिक प्रकाश भी विलुप्त हो चुका था। अब जीवन को न तो स्वस्थ वाह्य अभिव्यक्ति का ही अवसर था और न सूक्ष्म आतरिक (आध्यात्मिक) अभिव्यक्ति का ही। उसकी समस्त प्रवृत्तियां घर की चहार-दीवारी मे ही सीमित रह गईं। घर मे ही जो कुछ कृत्रिम अथवा अकृत्रिम उपकरण सम्भव थे, उनको जुटा कर लोग जीवन का निर्वाह कर रहे थे। निदान विलास की सरिता दोनो कूलो को तोडकर बह रही थी। विलास का केन्द्र-बिन्दु थी नारी जिसके चारो ओर अनेक कृत्रिम उपकरण एकत्र थे। इन सबके विस्तृत विवरण के लिए रीति-काल की सामाजिक पृष्ठ भूमि मे उद्धृत बर्नियर का उद्धरण पर्याप्त होगा। आखिर जीवन को आत्मरक्षण के लिए अभिव्यक्ति चाहिए। इस युग मे यह अभिव्यक्ति केवल घर के भीतर ही सम्भव थी जहाँ उसकी समस्त आकाक्षाएँ नारी के शरीर के चारों ओर ही मंडरा सकती थी। पराभव के और भी युग भारतीय जीवन मे आए, पर उन सभी मे काम की ऐसी सार्वभौम उपासना नहीं हुई। कारण यह था कि उन युगो मे नैतिक आदर्श दृढ और कठोर थे, जो इस प्रवृत्ति के प्रतिकूल पडते थे। परन्तु रीति-काल मे कृष्णभक्ति की परम्परा से नैतिक अनुमति भी एक प्रकार से इसे प्राप्त हो गई थी। अतएव अब किसी प्रकार के अप्राकृतिक संकोच अथवा दमन की आवश्यकता भी नही पडी। काम की उपासना जीवन के स्वीकृत सत्य के रूप मे होती थी। वातावरण के अतिरिक्त साहित्यिक परम्पराएँ और प्रभाव भी इसके अनुकूल थे। फ़ारसी संस्कृति और साहित्य की श्रृङ्गारिकता अब तक भारतीय संस्कृति मे घुल मिल कर उसका एक अग बन गई थी। वह

नागरिकता का एक प्रधान अलकार थी, अतएव इसका प्रभाव चेतन और अचेतन दोनो रूपो मे हिन्दी कविता पर पड रहा था। तीसरे, संस्कृत और प्राकृत-काव्य की जो परम्परा रीति-काव्य को उत्तराधिकार मे मिली वह भी एकांत शृङ्गारिक ही थी। ऐसे सामाजिक वातावरण और साहित्यिक प्रभावो मे पल्लवित और पुष्पित होने वाली रीति-कविता यदि अतिशय शृङ्गारिकता से अभिभूत है, तो इसमे आश्चर्य ही क्या ?

शृङ्गारिकता का स्वरूप:—नैतिक आदर्शों की अनुमति होने के कारण रीति-काल मे काम-वृत्ति को अभिव्यक्ति के लिए पूर्ण स्वच्छन्दता थी। अतएव रीति-काव्य की शृङ्गारिकता मे अप्राकृतिक गोपन अथवा दमन से उत्पन्न ग्रन्थियो नहीं हैं। उसमे स्वीकृत रूप से शरीर-सुख की साधना है, जिसमे न आध्यात्मिकता का आरोप है न वासना के उन्नयन अथवा प्रेम को अतीन्द्रिय रूप देने का उचित-अनुचित प्रयत्न। जीवन की वृत्तियों उच्चतर सामाजिक अभिव्यक्ति से चाहे वंचित रहा हो, परन्तु शृङ्गारिक कुठाओ से वे मुक्त थी। इसीकारण इस युग की शृङ्गा-रिकता मे घुमडन-अथवा मानसिक छलना नहीं है। परन्तु इस निर्बाध वासना-तुष्टि का एक दुष्परिणाम भी हुआ : वह यह कि काम जीवन का अंतरंग साधक तत्व न रहकर वहिरंग साध्य बन गया। इसीलिए रीति-काव्य की शृङ्गारिकता मे प्रेम को एक-निष्ठता न होकर विलास की रसिकता ही प्रायः मिलती है। और उसमे भी सूक्ष्म आंतरिकता की अपेक्षा स्थूल शारीरिकता का प्राधान्य है। प्रेम भावना-प्रधान एवं एकोन्मुखी होता है, विलास या रसिकता उपभोग-प्रधान एवं अनेकोन्मुखी होती है। तभी तो प्रेम मे तीव्रता होती है, रसिकता मे केवल तरलता। रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि बिहारी, मतिराम, पद्माकर, रसिक ही थे, प्रेमी नहीं। कहने आवश्यकता नही कि इनकी रसिकता या सौन्दर्य्य-भावना भी वहिरंग ही थी, अंतरंग नही थी। इन रसिको की दृष्टि प्रायः शरीर के सौन्दर्य पर ही अटकी रहती थी। मन के सूक्ष्म सौन्दर्य तक कम ही पहुंच पाती थी, और आत्मा का सात्विक सौन्दर्य तो उसकी परिधि से बाहर था ही। अतएव इनकी सौन्दर्य्य-भावना, छायावाद की सौन्दर्य्य भावना के बिल्कुल विपरीत—विषयीगत न होकर प्रधानतः विषय-गत ही थी। परन्तु जहाँ तक रूप, अर्थात् विषयगत-सौन्दर्य्य का सम्बन्ध था, वहाँ इन नयनो की प्यास अमिट थी। वास्तव मे इन कवियो से अधिक रूप पर रीझने की आदत और किस मे हो सकती थी ? एक ओर बिहारी जैसे सूक्ष्मदर्शी कवि की निगाह सौन्दर्य्य के बारीक से बारीक सकेत को पकड सकती थी, तो दूसरी ओर मतिराम, देव, घनानन्द, पद्माकर जैसे रस-सिद्ध कवियो की तो सम्पूर्ण चेतना ही जैसे रूप के पर्व मे ऐन्द्रिय आनन्द का पान कर उत्सव मनाने लगती थी। नय-

-नोत्सव का ऐसा रंग विद्यापति को छोड प्राचीन साहित्य मे अन्यत्र दुर्लभ ही है :—

मतिराम:—

होत रहै मन यो मतिराम, कहूँ वन जाय बडो तप कीजै,
ह्वै बनमाल हिए लगिए अरु, ह्वै मुरली अधरा रस पीजै॥

[ रसराज ]

देव :
"धार मे धाय धँसी निरधार ह्वै, जाय फँसी उकसी न उघेरी।
री ! अंगराय गिरी गहरी, गहि फेरि फिरी न, घिरी नहि घेरी॥
देव कछु अपनो बस ना, रस-लालच लाल चितै भई चेरी,
वेगिही बूडि गई पंखिया, अँखियाँ मधु की मँखियाँ भई मेरी।

[ प्रेमचन्द्रिका ]

घनानन्द:—
झलकै अति सुन्दर आनन गौर, छके दृग राजत काननि छ्वै,
हँसि बोलनि मै छवि-फूलनि की, बरषा उर ऊपर जात है ग्वै।
लट लोल कपोल कलोल करै, कलकण्ठ बनी जलजावली ह्वै,
अंग-अङ्ग तरंग उठै दुति की, परिहै मनौ रूप अबै धर च्वै।

[ सुजान-सागर ]

पद्माकर.—
पैरे जहाँ ही जहाँ वह बाल, तहा तहा ताल मे होत त्रिबैनी।

[ जगद्विनोद ]

**शृङ्गार का गार्हस्थिक रूप** :—इस शृंगारिकता के विषय मे दूसरी बात यह ज्ञातव्य है कि इसका स्वरूप प्रायः सर्वत्र-ही गार्हस्थिक है। इसका कारण यह है कि रीतिकाव्य भारतीय शृंगार-परम्परा का ही स्वाभाविक विकास है। उस पर वाह्य प्रभाव बहुत कुछ पडा जरूर, लेकिन उसके मूल तत्व सर्वदा भारतीय ही रहे। भारतीय शृंगार-परम्परा का इतिहास साक्षी है कि वह पूर्वानुराग, संयोग, प्रवास, करुण विप्रलम्भ—सभी दशाओ ने अपने गार्हस्थ्य-तत्व को बनाए रहा है—यहां तक कि वन्य जीवन की स्वच्छन्दता मे भी उसकी गार्हस्थिकता नष्ट नही हुई। इसी परम्परा मे होने के कारण रीति-कविता का शृंगार दरबारी प्रभाव मे रहते हुए भी अपना सहज स्वरूप बनाए रहा। उसमे नागरिकता तो आई परन्तु दरबारी वेश्या-विलास अथवा बाजारी हुस्न-परस्ती की बू नही आ पाई। यद्यपि एक एक राजा या रईस के यहां अनेको वेश्याये थी, पातुरे रहती थी, केशव के आश्रयदाता इंद्रजीत

सिंह के यहां छः वेश्याये तो नियमित रूप से थीं—अनियमित रूप से आने जाने वाली तो न जाने कितनी होंगी, परन्तु फिर भी उनके आश्रित कवि स्वकीया प्रेम का ही माहात्म्य-गान करते रहे। उन्होंने परकोया के नेह तक को निरुत्साहित किया—गणिका की तो बात ही क्या।

पात्र मुख्य सिंगार को सुद्ध स्वकीया नारि।

× × × ×

पर-रस चाहै परकिया तजै आपु गुन गोत,
आपु औटि खोया मिलै खात दूध फल होत।
काची प्रीति कुचालि की बिना नेह रस-रीति,
मार-रंग मारू-मही बारू की-सी भीति'

देव, प्रेम-चन्द्रिका ]

गणिका के प्रेम को उन्होंने स्पष्ट रूप से रसाभास माना, और अत्यन्त अरुचि के साथ उसका वर्णन किया। 'प्रेम हीन त्रिय वेश्या है शृंगाराभास'। इसी धर्म-संकट से बचने के लिये बेचारे दास को घर मे रखी हुई परकीयाओं—अथवा गणिकाओं को स्वकीयात्व का फ़तवा देना पडा। परिणाम स्वरूप यह शृंगार-विलास उच्छृंखल होते हुए भी गार्हस्थिक वातावरण से बाहर कभी नही हुआ—कुल और शील को छाया उस पर किसी न किसी रूप मे सदैव रही। और इसीलिये तो इसमे अभिसारिका के एक आध रूप को छोडकर रोमानी साहसिकता का भी प्रायः सर्वत्र ही अभाव मिलता है। परकीया की प्राप्ति भी यहां दूती, दासी, आदि की सहायता से सर्वथा घरेलू रीति से ही होती है। न यहां किसी अर्जुन को मत्स्य-भेदकर अपने शौर्य का परिचय देना पडता है, न किसी पृथ्वीराज को युद्ध मे विजय प्राप्त करनी पडती है, और न किसी मजनूं को सहरा की खाक छाननी पडती है। रोमानी प्रेम की असाधारणता-जो एक ओर बलिदान और साहसिकता पर आश्रित होती है, दूसरी ओर एक अलौकिक आदर्शवादिता पर—रीतिकाल के शृंगार मे अप्राप्य है। उपभोग-प्रधान होने से उसमे बलिदान की गभीरता और साहसिकता की शक्ति नहीं है, और न उसके धरातल को उदात्त करने वाली आदर्शवादिता ही है।

नारी के प्रति दृष्टिकोण :—हम कह चुके है कि रीति कविता शुद्ध सामन्तीय वातावरण की सृष्टि है—स्वभावत रीतिकालीन कवियो का नारी के प्रति दृष्टिकोण भी सर्वथा सामन्तीय है जिसके अनुसार वह समाज की एक चेतन इकाई न होकर बहुत-कुछ जीवन का एक उपकरण मात्र है:—

क्षुधा-काम वश गत युग ने पशु बल मे कर जन-शासित,
जीवन के उपकरण-सदृश नारी भी कर ली अधिकृत ! ( पन्त )

यह शृंगार, एक चेतन व्यक्ति का दूसरे चेतन व्यक्ति के प्रति सक्रिय आकर्षण, वास्तव मे कम है—व्यक्ति का एक सुन्दर उपभोग्य वस्तु के प्रति निष्क्रिय आकर्षण अधिक है। यह ठीक है कि रस-प्रसंगो मे नारी भी कम सक्रिय नहीं दिखाई गई। एक प्रकार से वह पुरुष की अपेक्षा अधिक सक्रिय है-पुरुष को हम प्रायः उसके चरणों पर सिर रखते हुए देखते है, परन्तु इस सब का अर्थ फिर भी यह नही होता कि रीति युग की नारी का कोई स्वतन्त्र प्रेरक अस्तित्व है। उसकी समस्त सक्रियता—सभी चेष्टायें वास्तव मे उसकी उपभोग्यता मे श्री-वृद्धि करने के ही निमित्त प्रदर्शित की गई है—उनको इसलिए तो नायिका के अलंकारो के अन्तर्गत परिगणित किया गया है। नारी के व्यक्तित्व—उसके प्रेम-विरह, सुख-दुःख, हाव-भाव, लीला-विलास का एक ही उद्देश्य है, उसके आकर्षण को समृद्ध करते हुए उसको अधिक से अधिक उपभोग्य बना देना। इसीलिए तो उसमे व्यक्ति की व्यक्ति के प्रति एक-निष्ठता नही है। नायिका भेद का विस्तार नारी के भोग्य रूपो का विस्तार ही तो है—रीति काल के पुरुष को नारी विशेष की वैयक्तिक सत्ता (Individuality) से प्रेम नही था—उसके नारीत्व से ही प्रेम था। देव ने निस्संकोच रूप से स्वीकृत किया है :—

काम अन्धकारी जगत लखै न रूप कुरूप
हाथ लिए डोलत फिरै, कामिनि छरी अनूप
तातै कामिनि एक ही, कहन सुनन को भेद
राचै पागै प्रेम रस मेटै मन के खेद।
रची राम संग भीलनी, जदुपति संग अहीरि।
प्रबल सदा बनवासिनी, नवल नागरिन पीर॥
कौन गनै पुर, बन, नगर, कामिनि एकै रीति।
देखत हरै विवेक को चित्त हरै करि प्रीति॥ [देव, रस-विलास]

उपर्युक्त उद्धरण ही यह कहने का अवकाश नही देता कि रीति-काल के कवि के मन मे नारी के प्रति कितना आदर-भाव था। उसके व्यक्तित्व का गौरव पुरुष के सुख भोग के साधन से अधिक और क्या था ? इसीलिए परिस्थिति बदलते ही ये लोग दूसरे ही सांस मे उसकी छवि को छाया-ग्रहिणी अथवा विवेक को हरने-वाली कहने से नही चूकते थे। नारी का सामाजिक अस्तित्व तो इनकी दृष्टि में कुछ था ही नहीं। गृहस्थ-जीवन के अन्तर्गत भी सुख-दुःखो को समभोक्ता सहचरी, माता, बहिन, पुत्री, मित्र सचिव आदि उसके अन्य महत्वपूर्ण रूप हो सकते थे—

परन्तु उनकी स्वीकृति भी इनमें नहीं है। उसकी सात्विकता स्वकीया की 'कुल कानि' से, उसका आत्माभिमान खण्डिता की मान दशा से, और उसकी बौद्धिक शक्तियां विदग्धा की चातुरी से आगे नहीं जा सकती थीं।

रीति काव्य की शृंगारिकता का स्वरूप-विश्लेषण करने पर ये निष्कर्ष निकलते हैं:—

(१) उसका मूलाधार रसिकता हैं प्रेम नहीं। यह रसिकता शुद्ध ऐन्द्रिय अतएव उपभोग-प्रधान है। उसमें पार्थिव एवं ऐन्द्रिय सौन्दर्य्य के आकर्षण की स्पष्ट स्वीकृति है—किसी प्रकार के अपार्थिव अथवा अतीन्द्रिय सौन्दर्य के रहस्य-संकेत नहीं।

(२) इसीलिए वासना को उसमे अपने प्राकृतिक रूप मे ग्रहण करते हुए उसी की तुष्टि को निश्छल रीति से प्रेम-रूप मे स्वीकार किया गया है—उसको न आध्यात्मिक रूप देने का प्रयत्न किया गया है न उदात्त और परिष्कृत करने का।

(३) यह शृंगार उपभोग-प्रधान एवं गार्हस्थिक है जो एक ओर बाज़ारी इश्क या दरबारी वेश्या-विलास से भिन्न है, दूसरी ओर रोमानी प्रेम की साहसिकता अथवा आदर्शवादी बलिदान-भावना भी प्रायः उसमे नहीं मिलती।

(४) इसीलिये इसमे तरलता और छटा अधिक है आत्मा की पुकार एवं तीव्रता कम।

## जीवन-दर्शन :—रूढ़िबद्ध एवं अवैयक्तिक दृष्टिकोण

रीति-युग का जीवन-दर्शन स्वस्थ नहीं था। जिस युग में राजनीतिक और आर्थिक पराभव अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया हो—उस युग का दृष्टिकोण स्वस्थ कैसे हो सकता है? वांच्छित अभिव्यक्ति के अभाव मे जीवन की वृत्तियों का वह संतुलन नष्ट हो गया था—जो जीवन-दर्शन को स्वस्थ और परिपुष्ट बनाता है। कार्य-क्षेत्र की परिधि अत्यन्त संकुचित हो जाने से उनको उचित व्यायाम का अवकाश ही नहीं मिलता था—जीवन का स्वस्थ संघर्ष जो मानव-शक्तियों को विकसित और पुष्ट करता है समाप्त ही हो चुका था। एक बँधा हुआ रुग्ण जीवन शेष था—जिसमे अब सामन्तवाद की शक्ति और अहंता छाया-शेष हो चुकी थी, काम और अर्थ पर आश्रित केवल स्थूल भोग-बुद्धि ही बच रही थी। इसीलिये तो रीति कवियो का दृष्टिकोण बद्ध और संकुचित है। भौतिक जीवन के आर-पार देखने वाली दृष्टि तो उन्हे प्राप्त थी ही नहीं—भौतिक जीवन के अन्तर्गत भी उनकी गति अत्यन्त सीमित और परिबद्ध थी। एक ओर तो उनमें वह प्रबल अहंकार नहीं था जो भौतिक उच्चाकांक्षाओं

को जन्म देता है, दूसरी ओर वह सामाजिक भावना भी नहीं थी जो भौतिक जीवन को व्यवस्था देती है। रीतिकाव्य आध्यात्मिक तो है ही नहीं, परन्तु वस्तु रूप में भौतिक भी नहीं है— अर्थात् उसमें न आत्मा की अतुल जिज्ञासा है न प्रकृति की दृढ़ कठोरता। वह तो जैसे जीवन का एक विराम-स्थल है जहाँ सभी प्रकार की दौड़-धूप से श्रांत होकर मानव नारी की मधुर अंचल-छाया में बैठ अपने दुःखों और पराभवों को भूल जाता है। उसका आधार-फलक इतना सीमित है कि जीवन की अनेकरूपता के लिए उसमें स्थान ही नहीं है। उस पर अंकित जीवन-चित्र भी स्वभावतः एकांगी ही है, परन्तु उसमें एक मधुर रमणीयता—मन को विश्राम देने का गुण—अवश्य है। घोर निराशा के उस युग में जीवन में किसी न किसी प्रकार ये कवि रस-संचार करते रहे, मैं समझता हूँ कम से कम इसके लिए तत्कालीन समाज को उनका कृतज्ञ अवश्य होना चाहिए। व्यापक जीवन के धरातल पर बस, इससे अधिक श्रेय उनको देना असंगत होगा क्योंकि यह तो मानना ही पड़ेगा कि यह जीवन-दर्शन बहुत कुछ हल्का पड़ता है। जीवन के मूलगत गंभीर प्रश्नों का स्पर्श भी वह नहीं करते—उनका गहन विवेचन और समाधान करना तो दूर रहा। काममय होते हुए भी रीति-काव्य काम को प्रवृत्ति से अधिक कुछ नहीं मानता—उसके द्वारा उद्बुद्ध जीवन की गहन मनोवैज्ञानिक और सामाजिक समस्याओं से वह अनभिज्ञ है। दृष्टिकोण के विस्तार और गाम्भीर्य का यही अभाव तो उसकी रीति-बद्धता एवं अलंकरण प्रियता के लिए उत्तरदायी है। जो व्यक्ति एक संकुचित दायरे में जीवन की सतह को ही छूकर रह जायगा उसकी वाह्य-क्रिया-शक्तियाँ स्वभावतः अलंकरण की ओर ही प्रेरित होगी क्योंकि उनके लिए विस्तार और गहराई में तो कोई अवकाश है ही नहीं। यही कारण था कि इन कवियों को अलंकारों से इतना अधिक मोह हो गया—और वे रीति के बंधनों से प्रेम करने लग गये। मुख्यतः इसीलिए उनका दृष्टिकोण अवैयक्तिक और उनका काव्य अव्यक्तिगत हो गया।

जीवन की वास्तविकताओं से आमने सामने खड़े होकर टक्कर लेने में व्यक्ति की सम्पूर्ण चेतना—उसकी समस्त शक्तियों की परीक्षा होती है—तभी व्यक्तित्व का विकास होता है। वह इस युग में नहीं था। घोर अव्यवस्था से क्षत-विक्षत सामंतवाद के भग्नावशेष की छाया में त्रस्त और क्षीण जीवन एक बंधी लीक पर पड़ा हुआ यंत्रवत् चल रहा था। क्या राजनीतिक क्षेत्र में और क्या सामाजिक क्षेत्र में सर्वत्र ही वैयक्तिक स्फूर्ति और उत्साह निःशेष हो चुका था—मौलिक सृजन-क्षमता नष्ट हो चुकी थी, केवल रीतियों की दासता मात्र रह गई थी जो कि रीतिकाव्य में स्पष्टतः प्रतिफलित है। कवियों के सम्मुख तो व्यक्तिगत-

जीवन संघर्ष का प्रश्न और भी नही था—उनका जीवन-पथ तो सर्वथा सरल एवं निश्चित बन गया था। उनकी आजीविका का साधन केवल एक ही था राजाश्रय,—उनका कर्त्तव्य-कर्म केवल एक ही था काव्य-रचना, उनका लक्ष्य केवल एक ही था रस-प्राप्ति। ऐसे कवियो की कविता भला अवैयक्तिक एवं रीति-बद्ध क्यो न होती?

**रीतिकालीन धार्मिकता और भक्ति का स्वरूप**—रीतियुग की धार्मिकता और भक्ति भी रूढि-बद्ध ही थी—वास्तव मे धर्म इस युग मे आकर धर्माभास मात्र रह गया था। धर्म के उस स्वस्थ और नैतिक रूप का जो आत्मबल के द्वारा जीवन को धारण करता है अभाव हो चुका था, परन्तु विश्वास अभी ज्यों त्यों बना ही हुआ था। ऐन्द्रिय प्रेम मे आकण्ठ मग्न होकर भी ये कवि हरि-राधिका की तन-द्युति मे अनुराग बनाये हुए थे—

तजि तीरथ हरि-राधिका, तन-द्युति कर अनुरागु.
जेहि ब्रज-केलि निकुंज मग, पग पग होतु प्रयागु [बिहारी सतसई]

वास्तव मे यह भक्ति भी उनकी शृंगारिकता का ही एक अंग थी। जीवन की अतिशय रसिकता से जब ये लोग घबरा उठते होगे तो राधा-कृष्ण का यही अनुराग उनके धर्म-भीरु मन को आश्वासन देता होगा। इस प्रकार रीतिकालीन भक्ति एक ओर सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक शरण-भूमि के रूप मे इनकी रक्षा करती थी। तभी तो ये किसी न किसी तरह उसका आँचल पकडे हुए थे। रीतिकाल का कोई भी कवि भक्ति भावना से हीन नही है—हो ही नही सकता था क्योंकि भक्ति उसके लिये एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी। भौतिक रस की उपासना करते हुए भी, उनके विलास-जर्जर मन मे इतना नैतिक बल नही था कि भक्ति रस मे अनास्था प्रकट करते, या उसका सैद्धान्तिक निषेध करते। इसी लिए रीतिकाल के सामाजिक जीवन और काव्य मे भक्ति का आभास अनिवार्यतः वर्तमान है और नायक-नायिका के लिए बारबार 'हरि' और 'राधिका' शब्दो का प्रयोग किया गया है।

## रीति काव्य का रूप-आकार

रीतिकाल भाषा का अलंकृत काल है। भक्तिकाल में तुलसी, जायसी सूर जैसे कवियो के सशक्त हाथो मे पड कर जो भाषा प्रौढि के चरमरूप को प्राप्त कर चुकी थी, वह रीति-काल तक आते आते स्वभावतः अलंकरण की ओर झुकने लगी। उसकी शक्तियो का पूर्ण विकास तुलसी और सूर कर चुके थे, वह विराट, तीव्र, सूक्ष्म और तरल सभी प्रकार की अभिव्यक्ति मे पूर्ण समर्थ थी। उसके लिये अब केवल दो विकास-पथ थे : एक

व्यवस्था दूसरा अलंकरण । समय की रुचि और तदाश्रित काव्य-प्रेरणा चूंकि अलंकरण के ही अनुकूल थी, निदान उसने अलंकरण में ही विशेषता प्राप्त की। अपने काव्य के रूप-आकार को उन्होंने कई प्रकार से अलंकृत किया है—एक तो प्रत्यक्षतः शब्द और अर्थ के अलंकारों का प्रयोग करके, दूसरे भाषा की व्यंजनात्मक शक्ति और कही कही लक्षणा का भी उपयोग करके, और तीसरे, माधुर्य्य-गुणोचित शब्दो तथा कोमला वृत्ति का सयत्न प्रयोग करके।

अलंकारों का प्रयोग :—कविता और अलंकार का घनिष्ठ सम्बन्ध है। भक्त कवियों के उद्‌गार भी उक्ति चमत्कार से हीन नहीं है। परन्तु यदि उनकी आत्मा का विश्लेषण किया जाए तो वे उक्तियाँ भाव की ऊष्मा मे ही चमत्कृत है। आवेश अथवा अन्तर्प्रेरणा के क्षणो मे वाणी अपने आप ही उद्दीप्त हो गई है। उसको अलंकृत करने का प्रयत्न नहीं किया गया। रूपको का जाल तुलसी और सूर मे केवल वहीं मिलता है, जहाँ भाव क्षीण है। कहने का तात्पर्य यह है कि भक्त-कवियों मे अलंकृति की कमी नही है, परन्तु वह प्रायः अयत्नज है। रीति-काल के कवियों ने सचेत होकर और प्रायः यत्न-पूर्वक अपनी वाणी को अलंकृत किया है—और उनके काव्य-विषयक दृष्टि-कोण को देखते हुए ऐसा सर्वथा स्वाभाविक भी था। कविता उनके लिए जैसा कि आरम्भ में ही कहा है एक कला थी—व्यक्तित्व को अलंकृत करने वाला शृंगार अथवा गोष्ठी-मण्डन थी। स्वभावत. अलंकरण उसका एक मौलिक तत्त्व था। दूसरे, शृंगार और उसमें भी रसिकता एवं वस्तु-गत दृष्टि का प्राधान्य होने के कारण रूप-आकार की सजावट भी अनिवार्य्य ही थी। प्रेमाहत कवियों के उद्‌गार तो सीधे और अपनी अभिव्यक्ति मे नग्न है। उनको तो अलंकरण का धैर्य ही नही था। परन्तु रीति-काल के अधिकांश कवि रूप-रसिक नागरिक थे, अतएव वे अपनी कविता के रूप को निराभरण कैसे देख सकते थे? इसके अतिरिक्त अलंकार-सम्प्रदाय भी तो उस समय अत्यन्त लोक-प्रिय था। मतिराम और देव जैसे रस-सिद्ध कवियों को भी उसका प्रभाव व्यक्त-रूप मे स्वीकार करना पडा था।

सिद्धांत रूप से तो इस युग मे अर्थालंकार की प्रभुता इतनी अधिक थी कि शब्दालंकार की उपेक्षा सी होने लगी, परन्तु प्रयोग मे सभी कवियों ने उनका सम्मान किया है। वास्तव मे दोनो प्रकार के अलंकारो का जितना प्राचुर्य्य इस काव्य मे मिलता है, उतना अन्यत्र नही। रीति-काव्य एक तरह से अलंकारो का समृद्ध कोष है जिसमे बढ़िया से बढ़िया और घटिया से घटिया नमूने मिल सकते है। संयत और संतुलित रुचि के कवियों मे अलंकारो का अत्यन्त कोमल और सूक्ष्म-तरल प्रयोग मिलता है—वर्ण-मैत्री तथा अर्थ और शब्द के स्वारस्य के इतने

सुन्दर उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ हैं। चमत्कारी कवियों ने अलंकारों को साधक न मानकर साध्य माना है—इनमें सुरुचि और कुरुचि का अनमेल मिश्रण पाया जाता है—इन्होंने एक ओर अनुप्रास, यमक, श्लेष, प्रहेलिका तथा चित्र आदि सभी से खिलवाड किया है, दूसरी ओर रूपक, अतिशयोक्ति आदि के अनोखे ठाठ बाँधे हैं।

उपमानों और प्रतीकों का प्रयोग :—यह तो मानना ही पड़ेगा कि जिस क्षेत्र से रीति-कवियों ने अपनी अलंकरण-सामग्री का चयन किया है, वह अपेक्षाकृत संकुचित है। प्रकृति और भौतिक जीवन दोनो क्षेत्रो मे उनकी गति सीमित थी, उन्होने केवल कामोपभोग की दृष्टि से इनको देखा है—अतएव उनके प्रतीक और उपमान प्राय: विलास से सम्बद्ध है। प्रकृति के क्षेत्र मे रति के उद्दीपन—चन्द्रमा, चाँदनी, पूनम, नक्षत्र, मेघ, विद्युत, जमुना, वासन्ती, लता-गुल्म, कमल, चम्पक, कुन्द, चकोर, हंस, कोकिल, चक्रवाक, मयूर, खंजन, भ्रमर आदि ही उनके उपमान और प्रतीक है। भौतिक जीवन मे नागरिक विलास की वस्तुओ से ये आगे नहीं गये—मणि-मोती, कुन्दन, दीपक, चन्दन, घनसार,अंजन आभूषण, और कामदेव के धनुष-बाण आदि ही उनके प्रिय उपकरण रहे है। बिहारी ने जल-चादर, किब्लनुमा, फानूस, शीशमहल, ताफता जैसे नूतन उपमानो का प्रयोग करते हुए उनकी संख्या मे वृद्धि की है, परन्तु ये उपमान भी रीति-मुक्त चाहे न हो नागरिक विलास के उपकरण तो है ही। सारांश यह है कि रीति-काल के उपमान प्रायः काम-विलास के उद्दीपन अथवा उपकरण ही है। और उनके प्रयोग मे इस युग के कवियो ने नूतन संयोजनाएँ प्राय. नहीं की वरन् परम्परा का ही अनुसरण अधिक किया है। संस्कृत मे कालिदास का कौशल यही तो था कि वे प्रचलित उपमानो के विभिन्न संयोगो द्वारा सर्वत्र एक नवीन चमत्कार उत्पन्न कर देते थे। छायावाद-युग मे प्रसाद, पंत, और महादेवी ने इसी कला की ही तो वृद्धि की है। रीति-काल के कवियो ने नवीन प्रयोगो द्वारा नवीन रुचि और नवीन सौन्दर्य-बोध जागृत नही किया, समृद्ध उपमानो के प्राचुर्य से जगमगाहट उत्पन्न की है। प्रतीको का प्रयोग रीति कविता मे अत्यन्त विरल है। जो प्रतीक प्रयुक्त हुए है वे रूढ है; और वैसे वे सभी स्वीकृत रूप मे सभी काम-प्रतीक है। मनोविश्लेषण के विशेषज्ञो ने मुख्य प्रतीक सृजन और नाश के माने है—सृजन के प्रतीक विकास-शील और प्रसन्न तथा नाश के गति-रूद्ध और गुरु-गंभीर होते है। काम मे वास्तव मे सृजन और नाश दोनो का सम्मिलन हो जाता है। संयोग शृंगार के प्रतीको मे प्रसन्नता और वियोग के प्रतीको मे घनता रहती है। रीति-काल के प्रतीक अधिकांश मे प्रसन्न और विकच हैं—जो संयोग के प्रभुत्व के द्योतक हैं।

रीति-कला का दूसरा प्रयोग कौशल था कोमल शब्द-चयन, इन कवियों

ने प्रयत्न-पूर्वक सभी कठोर और श्रुतिकटु शब्दों का बहिष्कार किया है—अथवा कठोर शब्दो की हड्डियाँ तोड कर उन्हें अत्यन्त लचीला और उनके खुरदरेपन को खराद कर चिकना कर दिया है, भले ही ऐसा करने मे उन्हें अपने शब्द-भाण्डार को सीमित करना पडा हो। यहाँ संयुक्ताक्षरो का प्रयोग अत्यन्त विरल है, पद प्रायः असमस्त है. समास यदि आये भी है तो छोटे है, और उनमें वर्ण-मैत्री और भाषा की प्रकृति का पूरा पूरा ध्यान रखा गया है। भाषा के प्रयोग मे इन कवियो ने एक खास नाज़ुक-मिज़ाजी बरती है। इनके काव्य मे किसी भी ऐसे शब्द की गुंजायश नहीं है, जो माधुर्य्य-गुण के अनुकूल न हो—अक्षरो के संगुफन से इन्होंने कभी त्रुटि नहीं की। संगीत के रेशमी तारो मे इनके शब्द माणिक-मोती की तरह गुंथे हुए हैं—ऐसी रंगोज्ज्वल शब्दावली अन्यत्र दुर्लभ है। इस प्रकार अंग्रेज़ी की अठारहवी शताब्दी की भाँति रीति-काल मे काव्य-भाषा का एक विशिष्ट रूप बन गया था जिसके दो मुख्य तत्व थे : नागरिकता और मसृणता। ये ही दो तत्व इस भाषा के शब्द-चयन का नियमन करते हैं—ब्रज के अतिरिक्त अवधी, बुन्देलखण्डी, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, फारसी--सभी के शब्दो के लिए यदि उनमे उपर्युक्त दोनो गुण विद्यमान है, द्वार उन्मुक्त था। उसमे सभी प्रकार के ग्राम्य अथवा अभद्र स्पर्शों का अभाव तो है ही, बोलचाल के चलते और कामकाजी प्रयोगो को भी कभी बढावा नही मिला—इसीलिए उर्दूदां रसिको को रीति-भाषा से यह शिकायत रही है कि उसमे मुहावरों की क़द्र नहीं की गई। इस भाषा के लिए शब्दो अथवा पदो की सबसे बडी विशेषता थी रस-सिक्तता एवं सगीत—बस। इस प्रकार यह केवल काव्य की भाषा थी, जन-जीवन की भाषा नहीं थी—इसीलिए उसमे रसात्मकता मात्र थी, महाप्रणता और व्यापकता नही रह गई थी।

———

# रीति-काव्य का साहित्यिक आधार

जिस साहित्यिक दृष्टि-कोण की रूप रेखा हिंदी में चिन्तामणि के उपरान्त ग्रंथ कर निश्चित हुई—वह कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। उनका एक विशेष साहित्यिक पृष्ठाधार था। वह एक प्राचीन परम्परा का नियमित विकास थी—जिसके अन्तर्तत्त्व प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और हिंदी के भक्ति-काव्य में धीरे धीरे ज्ञात अथवा अज्ञात रूप में विकसित होते रहे थे। यह प्राचीन परम्परा थी मुक्तक कविता की जो काव्य की अभिजात परिपाटी और उसमें निर्णीत उदात्त 'काव्य-वस्तुओं' को छोड नित्य प्रति के सरल ऐहिक जीवन के छोटे छोटे चित्रों को आँक रही थी। स्वदेश और विदेश के पण्डितों का अनुमान है कि जब आभीर जाति भारत में आ कर बस गई—और आर्य्यों की शिक्षा-संस्कृति का आभीरों के उन्मुक्त जीवन से संयोग हुआ तो भारतीयों के मन में परलोक की चिंता से मुक्त नित्य प्रति के गृहस्थ जीवन के प्रति आकर्षण बढ़ने लगा। जीवन से बढ़कर इस प्रवृत्ति का प्रभाव काव्य पर भी पड़ा और वहाँ भी कवि की कल्पना आकाश अथवा आकाश-चुम्बी राज-महलों से उतर कर साधारण जीवन के सुख-दुःखों में रमने लगी। इस दृष्टि-परिवर्तन की सबसे पहली अभिव्यक्ति हमें हाल की सत्तसई में मिलती है जिसकी रचना चिंतामणि से कम से कम १२ शताब्दी पूर्व और अधिक से अधिक १८ शताब्दी पूर्व हुई थी। हाल की सत्तसई रीति-काव्य का सबसे प्रथम प्रेरक ग्रन्थ है। प्राकृत में रची हुई ये गाथायें प्राकृत जीवन के सरल-सहज घात-प्रतिघातों को चित्र-बद्ध करती हैं। इनका वातावरण सर्वथा गार्हस्थिक है और यौन सम्बन्धों के वर्णन में बेहद स्पष्टता पाई जाती है। अभिव्यक्ति में सहज गुण और स्वभावोक्ति ही इनकी विशेषता है—अतिशयोक्ति को कहीं भी महत्त्व नहीं दिया गया। इसी से इन गाथाओं में एक भोली सुकुमारता है जैसी कि मतिराम आदि में मिलती है।

जस्स जहं विअ पठमं तिस्सा, अंगम्मिणिवडिआ दिट्टी।
तस्स तहिं चेअ ठिआ सव्वङ्ग केण विण दिट्ठम्।

यस्य यत्रैव प्रथमं तस्या अंगे निपतिता दृष्टिः
तस्य तत्रैव स्थिता सर्वांगं केनापि न दृष्टम् ।

सत्तसई के उपरान्त इस प्रकार के शृंगार-मुक्तको के दो प्रसिद्ध ग्रन्थ संस्कृत मे मिलते हैं। एक अमरुक कवि का अमरु-शतक—दूसरी गोवर्धन की आर्या-सप्तशती । इनकी रचना निश्चित ही प्राकृत सत्तसई के आधार पर हुई है, परन्तु वातावरण में अंतर है ।—संस्कृत के इन छन्दो मे गाथाओ मे अंकित प्राकृत जीवन का वह सहज सौन्दर्य्य नहीं है। इनमें नागरिक जीवन की कृत्रिमता आगई है। हाल की गाथाओ और गोवर्धन की आर्याओ को साथ रखकर पढने से यह अन्तर स्पष्ट हो जायगा। गाथाओं का सहज गुण—और उस पर आश्रित वन्य-सुकुमारता इन आर्याओं में नहीं है—अभिव्यक्ति मे अलंकरण और अतिशयोक्ति की ओर स्पष्टतः ही इनका आग्रह बढ चला है। यह परम्परा संस्कृत और प्राकृत से अपभ्रंश मे भी अवश्य चली होगी, परन्तु उसके प्रमाण रूप कोई विशेष स्वतन्त्र ग्रन्थ नही मिलते—केवल जयवल्लभ और हेमचन्द्र के काव्यानुशासन मे स्फुट गीत-छन्द मिलते है। हेमचन्द्र के ग्रन्थ मे उद्धृत मुंज के दोहे अपभ्रंश और हिन्दी के बीच की कडी है। इनके अतिरिक्त संस्कृत साहित्य मे ऐहिक मुक्तक काव्य के कतिपय और भी ग्रन्थो की रचना हुई जिनमे कालिदास के नाम से प्रचलित शृंगार-तिलक, घटकर्पर, भर्तृहरि-रचित शृंगार-शतक, बिल्हण की चौर-पंचाशिका आदि अपने शृंगार-माधुर्य्य के लिए प्रसिद्ध है। परन्तु ये ग्रन्थ उपर्युक्त परम्परा से थोड़े भिन्न है, यद्यपि इसमे संदेह नही कि उस परम्परा पर इनका यथेष्ट प्रभाव अवश्य पडा है। इनकी आत्मा मे जो आभिजात्य की गंध है वह उन्हे सत्तसई, आर्या-सप्तशती और अमरु-शतक के साधारण धरातल से पृथक कर देती है। संस्कृत साहित्य मे शृंगार के इन मुक्तको के समानान्तर ही भक्ति-परक मुक्तको की भी एक परिपाटी चल पडी थी जिसके अन्तर्गत दुर्गा-सप्तशती, चण्डी-शतक, वक्रोक्ति पंचाशिका (शिव-पार्वती-वन्दना) और कृष्ण जीवन से सम्बद्ध कृष्ण-लीलामृत आदि अनेक स्तोत्र ग्रन्थ आते है। इन स्तोत्रो की आत्मा मे भक्ति की प्रेरणा होते हुए भी वाह्य रूप मे प्रायः शृंगार की प्रधानता मिलती है—इनमे शिव-पार्वती और राधाकृष्ण की शृंगार-लीलाओ का जो वर्णन मिलता है वह किसी भी शृंगार काव्य को लज्जित कर सकता है। बारहवी से चौदहवी शताब्दी तक बंगाल और बिहार मे जो राधाकृष्ण की भक्ति के छन्द रचे गए वे काम के सूक्ष्म रहस्यो से ओत-प्रोत हैं—विद्यापति के गीत इन्हीं का तो हिंदी संस्करण हैं। इन ग्रन्थो के विषय मे भी ठीक वही कहा जा सकता है जोकि शृंगार-तिलक आदि के विषय मे कहा गया है—अर्थात् इनका प्रभाव उपर्युक्त परिपाटी पर असंदिग्ध रूप मे स्वीकार करते हुये भी इनकी आत्मा को उसकी आत्मा से भिन्न

मानना पडेगा। परन्तु हिंदी रीति काव्य में जो "राधा कन्हाई सुमिरन" के बहाने का एक निरन्तर मोह तथा—नायक के लिये कृष्ण और नायिका के लिए राधा शब्द का सप्रयास प्रयोग मिलता है उसके लिए इन स्तोत्रों का प्रभाव बहुत कुछ उत्तर-दायी है। वास्तव मे रीति-काव्य की आत्मा का सम्बन्ध यदि ऐहिक मुक्तको की उपर्युक्त परम्परा से माने तो उसके बाह्य रूप (Form) [जिसमें कि राधा कृष्ण के प्रतीकों का प्रयोग हुआ है] के विधान मे इन स्तोत्रो के कुछ स्पर्श अनिवार्यतः मानने पडेंगे। इस सत्य को स्वीकार करने के लिए इसलिये और भी बाध्य होना पडता है कि स्वयं रीतियुग में चण्डी-शतक चरण-चन्द्रिका आदि स्तोत्र-नुमा ग्रन्थों की रचना यदा-कदा होती रही थी।

इन दोनो श्रेणी के काव्यो को प्रभावित करने वाली एक तीसरी चिंता-धारा थी काम-शास्त्र की जो वैसे तो बहुत पहले से ही प्रभावशाली थी, परन्तु संस्कृत काव्य की अन्तिम शताब्दियो मे अत्यधिक लोक-प्रिय हो गई थी। इस चिंताधारा की सब से महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति हुई वात्स्यायन के काम-सूत्र मे जो विज्ञान की अपेक्षा विचार और काव्य के अधिक निकट था। काम-सूत्र के उपरान्त रति-रहस्य, अनंग-रंग आदि अनेक ग्रन्थो का प्रणयन हुआ। यौन विज्ञान और आयुर्वेद पर इनका प्रभाव जो कुछ भी पडा हो, परन्तु काव्य के वर्णन और मनो-विज्ञान को इन्होने निश्चित-रूप से प्रभावित किया। ऐहिक श्रृंगार-मुक्तको, शिव और कृष्ण भक्ति के स्तोत्रो और नायिका-भेद के ग्रन्थो पर इनकी स्पष्ट छाप थी। उनमे अंकित श्रृंगार भावनाओ तथा केलि-क्रीडाओ के चित्रो एवं नायिकाओ के भेद-प्रभेदो मे स्थान स्थान पर उपर्युक्त ग्रन्थो की प्रतिध्वनि सुनाई देती है।

संस्कृत की ये ही तीन मुख्य साहित्यिक परम्पराये थीं जिनसे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप मे हिन्दी रीति-काव्य ने अपने अन्तर्तत्वो को ग्रहण किया। इसके उपरांत तो हिन्दी साहित्य का ही उदय हो गया।

हिन्दी का आदिम युग वीर गीतो और वीर गाथाओ से मुखरित था। वीर गीतों का तो प्रश्न ही नही उठ सकता, परन्तु वीर-गाथा के कवियो मे कुछ कवि—विशेष कर चन्दबरदाई काव्य-रीति के प्रति निश्चय ही सावधान थे। पृथ्वीराज-रासो के श्रृंगार-चित्रो मे अनेक चित्र ऐसे मिल जाते है जिनमे रूप के उपमानो को बहुत कुछ उसी प्रकार रीति मे जकड कर उपस्थित किया है जैसा रीति युग मे हुआ है। उदाहरण के लिए एक परिचित नखशिख लिया जा सकता है :—

(१) मनहु कल्प ससि भान कला सोलह सो बन्निय,
बाल बैस ससि ता समीप अमृत रस पिन्निय।

विगसि कमल मृग भ्रमर नैन खंजन मृग लुट्टिय,
हीर कीर श्ररु बिम्ब मोति नख-सिख श्रहि घुट्टिय ।
छत्रपति गयन्द हरि हंस गति विह बनाय संचै सचिय ।
पदमिनिय रूप पद्मावतिय मनहु काम कामिनि रचिय ॥

[ चन्द, पद्मावती समय पृ० रा०

(२) देखि वरन रति रहस । बुंद कन स्वेद सम्भुवर ॥
चन्द किरन मनमथ्थ । हथ्थ कुट्टे जड्डु डुक्कर ॥
सुकवि चन्द बरदाय । कहिय उप्पय श्रुति चालह ॥
मनो मयंक मनमथ्थ । चन्द पूज्यो मुत्ताहय ॥
कर किरनि रहसि रति रंग दुति । प्रफुलि कली कलि सुन्दरिय ॥
सुक कहैं सुकिय इंछनि सुनवि । पै पंगानिय सुन्दरिय ॥

[ चन्द ]

परन्तु इस प्रकार के रीति-ग्रथित वर्णन कही भी पाये जा सकते है। इसी लिए इनमें या इस प्रकार के अन्य वर्णनो मे रीति-तत्व खोजना विशेष अर्थ नही रखता। हिन्दी में वास्तव में सब से पहले कवि विद्यापति है, जिनमे रीनि-सकेत असंदिग्ध रूप मे मिलते हैं। रीति-काव्य की ऐन्द्रिय श्रृंगारिकता का तो विद्यापति मे अपार वैभव ही है। उसकी रीतियो का भी उनको अत्यन्त मोह था। विद्यापति के श्रृंगार-चित्र सभी अलंकृत है और प्रायः उन सभी के पीछे नायिका-भेद का पृष्ठाधार स्पष्ट है। ऊपर गिनाई हुई काव्य-परम्पराओं मे ऐहिक मुक्तकों की परम्परा स्तोत्रो के भक्ति-रस मे रंग कर जो रूप धारण कर सकती है बहुत कुछ वही हमे विद्यापति मे मिलता है। इसी लिए विद्यापति के सब चित्र ऐन्द्रिय उल्लास से दीपित होते हुए भी अधिक स्थूल नही हो पाये है। उनमे एक सूक्ष्म तरलता है। दूसरे रूप के प्रति भी उनका दृष्टिकोण सर्वथा भावगत ही है—वस्तुगत नही है। उनका धरातल नित्य-प्रति के गार्हस्थ जीवन तक नही उतरा। इसलिए उनमे वह मूर्तता नही है जो रीति-काल के श्रृंगार-चित्रों मे अनिवार्यत. मिलती है। इन ही दो कारणों से विद्यापति रीति-काव्य की परम्परा से थोडा बच जाते है। अन्यथा उनमे रीति संकेतो का प्राचुर्य असदिग्ध है ही। उनके छन्द रीति-काव्य के किसी भी संग्रह मे उठा कर रखे जा सकते है।

किछु किछु उतपति अंकुर भेल।
चरन चपल गति लोचन लेल॥

अब सब खन रह आंचर हात।
लाजे सखिगन न पुछए बात॥

कि कहब माधव वयस क संधि।
हेरतई मनसिज मन रहु बंधि॥
तइअओ काम हृदय अनुपाम।
रोपल घट अचल कए ठाम॥
सुनइत रस-कथा थापय चीत।
जइसे कुरंगिनि सुनये संगीत॥
सैसव जौवन उपजल वाद।
केओ न मानय जय-अवसाद॥
[ विद्यापति पदावली ]

उपर्युक्त पद की प्रतिध्वनि आप न जाने कितने रीति छन्दो मे सुन सकते है।

चन्द, विद्यापति आदि के काव्य से यह सर्वथा स्पष्ट है कि इनको रीति-शास्त्र का पूरा पूरा ज्ञान था और उस समय रीति ग्रन्थो का बहुत कुछ प्रचार हिन्दी मे भी निश्चित रूप से था। कृपाराम-कृत "हित तरगिणी" इस अनुमान को सार्थक करती है। एक तो स्वयं उसकी ही रचना हिन्दी काव्य के अत्यन्त आरम्भिक काल सम्वत् १५९८ में हुई।

सिधि निधि शिवमुख चन्द्र लखि माघ शुद्ध तृतियासु।
हित तरंगिणी हो रची कविहित परम प्रकासु॥

इसके अतिरिक्त कृपाराम ने असंदिग्ध शब्दो मे अपने पूर्व रचे हुए रीति-ग्रन्थो की ओर संकेत किया है—

बरनत कवि सिंगार-रस छन्द बडे विस्तारि।
मैं बरन्यों दोहान बिच याते सुघरि बिचारि॥
[ हित तरंगिणी ]

अतएव इसमे कुछ भी सन्देह नही रह जाता कि हिन्दी मे रीति-काव्य की परम्परा लगभग उसके जन्म से ही आरम्भ हो जाती है—पुष्य या पुण्ड का अस्तित्व चाहे रहा हो या नही। हित तरंगिणी शुद्ध रीति-ग्रन्थ है। वह रीति का लक्ष्य-ग्रन्थ भी नहीं व्यक्त रूप से लक्षण-ग्रन्थ है, जिसमे सम्पूर्ण नायिका-भेद अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णित है। कृपाराम ने जैसा कि उन्होने स्वयं स्वीकार किया है, इस ग्रन्थ का प्रणयन अनेक ग्रन्थ पढने के उपरान्त, फिर आप विचार कर कवियों और नागरिको के लिए किया है। उनका मूल आधार यद्यपि भरत-ग्रन्थ है, परन्तु उन्होने सभी परवर्ती ग्रन्थो का अनुशीलन किया है और अत्यन्त स्वच्छ

लक्षण उदाहरणो के द्वारा बडी सुथरी भाषा मे नायिका-भेद के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदो का निरूपण किया है। विस्तार की दृष्टि से यह ग्रन्थ हिन्दी के अनेक परवर्ती ग्रन्थो से अधिक समृद्ध है। बाद में मतिराम, बेनी प्रवीन, पद्माकर आदि ने भी इतने सूक्ष्म भेद नही किये। इसके अतिरिक्त दूसरा गुण इस ग्रन्थ मे यह है कि इसकी शैली सर्वत्र वर्णनात्मक ही नही है, स्थान स्थान पर विवेचनात्मक भी है। कवि ने भिन्न भिन्न भेदो का समन्वय और संघटन करने का प्रयत्न किया है।

सूर कृपाराम के सम-सामयिक ही थे। सूर सागर मे भी रीति-बद्ध शृंगार चित्रो की कमी नही है। विद्यापति की भाँति संयोग और वियोग के सभी पहलुओ का सूक्ष्म वर्णन तो सूर मे है ही, उनके चित्रो मे अलंकरण का प्राचुर्य है और नायिका-भेद का पृष्ठाधार भी। यहाँ तक कि सूर ने विपरीत रति को भी नही छोडा। भक्त कवि सूर की खण्डिता का एक चित्र देखिये—

वहंइ जाहु जहँ रैनि बसे।
अरगज अंग मरगजी माला बसन सुगंध भरे से है।
काजर अधर कपोलनि चन्दन लोचन अरुन ढरे से है।

[ सूर-सागर ]

और रीति-कवि बिहारी के प्रसिद्ध दोहे से मिलाइये :—

पलक पीक, अंजन अधर, लसत महावर भाल।
आजु मिले सु भली करी, भले बने हो लाल॥

[ बिहारी-सतसई ]

इस प्रकार सूर के अनेक चित्रो का रीति-कवियो ने रस, भाव, हाव, नायिका और अलंकार के उदाहरणो मे बिना किसी कठिनाई के रूपान्तर करके रख दिया है।

सूर का दूसरा ग्रन्थ साहित्य-लहरी दृष्टकूट और चित्रालंकारो का चक्रव्यूह है, इसलिए एक तरह से वह रीति-अन्तर्गत अलंकार-परम्परा मे आता है। सूर के उपरान्त तुलसीकृत बरवै-रामायण पर रीति का प्रभाव स्पष्ट है, उसके अनेक बरवै प्रायः अलंकारो के उदाहरण से लगते है। उधर रहीम और नन्ददास ने तो नायिका-भेद पर स्वतन्त्र ग्रन्थ ही लिखे है। रहीम का प्रसिद्ध ग्रन्थ है बरवै-नायिका-भेद जिसमे विभिन्न नायिकाओ के लक्षण न देकर अत्यन्त सरस और स्वच्छ उदाहरण ही दिए हुए है। यह ग्रन्थ निश्चय ही एक मधुर रीति-ग्रन्थ है।–इसमे नायिकाओं के देश-भेद भी दिये गये है। बाद मे देव ने रस-विलास आदि में इसी का अनुकरण किया है। इसके अतिरिक्त रहीम के अनेक फुटकर

शृंगार दोहों को भी बड़ी सरलता से रीति-काव्य के अन्तर्गत माना जा सकता है।

नन्ददास ने अपना ग्रन्थ 'रसमंजरी' भानुदत्त की रसमंजरी के आधार पर लिखा है—

'रसमंजरि' अनुसारि कै, नंद सुमति अनुसार।
बरनत बनिता-भेद जहँ, प्रेम सार विस्तार॥

रहीम ने जहाँ केवल उदाहरण ही दिये है, वहाँ नन्ददास ने उदाहरण न देकर बस लक्षण मात्र ही दिये है। नन्ददास का नायिका-निरूपण अत्यन्त स्पष्ट और विशद है—उन्होंने अपने लक्षणों को सूत्र बनाकर नहीं छोड़ दिया, वरन भिन्न-भिन्न-नायिकाओ के स्वरूप का स्वच्छता और विस्तार के साथ वर्णन किया है। वास्तव में जसा कि एक हिंदी के लेखक ने कहा है—रसमंजरी नायिका-भेद पर एक सुन्दर पद्यबद्ध निबन्ध है।

इस प्रकार रीति-परिपाटी गिरती पड़ती किसी न किसी रूप मे आरम्भ से ही चल रही थी परन्तु अभी हिंदी मे कोई ऐसा आचार्य न हुआ था जिसके व्यक्तित्व से उसको बल प्राप्त होता। कृपाराम की 'हित-तरंगिणी' यद्यपि एक शुद्ध रीति-ग्रन्थ थो-परन्तु एक तो उसका क्षेत्र केवल नायिका-भेद तक ही सीमित था,दूसरे कृपाराम के व्यक्तित्व मे इतनी शक्ति नही थी कि रीति-परम्परा को काव्य की अन्य प्रचलित परम्पराओं के समकक्ष प्रतिष्ठित कर सके। यह कार्य केशवदास ने किया। केशवदास हिंदी के पहले आचार्य हैं जिन्होंने काव्य-रीति के प्रति सचेत होकर उसके विभिन्न अंगो का गंभीर और पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया। यह तो ठीक है कि उनका सिद्धान्त-वाक्य रूप यह दोहा कि:—

जदपि जाति सुलच्छिनी, सुबरन-सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त॥

और व्यावहारिक रूप मे भी अलंकार के प्रति उनका अनुचित मोह दोनो ही उन्हें दण्डी आदि अलंकार-वादियो की कोटि मे रखते है—परन्तु उनकी रसिक-प्रिया रस और नायिका भेद का प्रौढ़ ग्रन्थ है। यदि हम केशव की रसिक-प्रिया को ही लें, कवि-प्रिया को न देखें तो—उन्हे रसवादी कहने मे कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। उन्होंने भी उसी आग्रह से शृंगार को रस-राज माना है और उसी तन्मयता के साथ नायिका के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदो का वर्णन किया है। कहने का तात्पर्य है कि केशव ने वास्तव मे पूर्व-ध्वनि तथा उत्तर-ध्वनि दोनों कालों की विचार-धाराओं को हिन्दी मे अवतरित किया। कविप्रिया मे अलंकार्य्य और अलंकार में अभेद करने वाली पूर्वध्वनि काल की विचारधारा की

अभिव्यक्ति है और शृंगार को एकमात्र रस स्वीकृत करने वाली रसिक-प्रिया पर उत्तर-ध्वनि काल की सिद्धान्त-परम्परा का गहरा प्रभाव है। अतएव केशवदास हिंदी रीति-परम्परा के सबसे पहले मार्ग-स्तम्भ हैं। केशव के उपरान्त दूसरा महत्वपूर्ण नाम प्रसिद्ध कवि सेनापति का है जिन्होंने अपने काव्य-कल्पद्रुम मे काव्य के अंग-उपांगो का विवेचन किया है। काव्य-कल्पद्रुम आज अप्राप्य है—परन्तु उसके नाम और एकाध स्थान पर उसके प्रति किए हुए संकेतो से अनुमान किया जाता है कि वह काव्य-प्रकाश की शैली पर काव्य की सम्पूर्ण रीतियो पर प्रकाश डालने वाला ग्रन्थ होगा। फिर तो चिन्तामणि और उनके बन्धुद्वय का ही युग आ जाता है। और, रीति-ग्रन्थो की क्षीण रेखाधारा जो हिन्दी के जन्मकाल से ही दबती-छिपती चली आ रही थी शत-शत मुखी होकर प्रवाहित होने लगती है।

उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त साधारणतः यही परिणाम निकाला जा सकता है कि हिंदी मे रीति-परम्परा का आरंभ तो उसके जन्मकाल से ही मानना पडेगा—पुष्प या पुण्ड कवि-विशेष का अस्तित्व चाहे मानें या नही। जन-समाज में जहाँ समय-प्रभाव के अनुकूल वीरभाव अथवा निर्गुण-सगुण भक्ति की भावनाएं काव्यरूप मे अभिव्यक्त हो रही थीं, वहाँ साहित्यविद् पण्डितो की गोष्ठियो मे आरंभ से ही रीति-परम्परा का किसी न किसी रूप मे पोषण होरहा था। [ वीर-गाथा और भक्ति काल के शास्त्र-निष्ठ कवियो की कविता मुक्तात्मा होकर भी रीति के रेशमी बन्धनो का मोह नही छोड पाती थी—चन्द, नरपति नाल्ह, सूर, तुलसी, नन्ददास सभी की रीति के प्रति जागरूकता इसका असंदिग्ध प्रमाण है ]। कुछ इतिहास-कारो का यह तर्क है कि हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भ मे ही रीति-ग्रंथो का किस प्रकार निर्माण हो सकता है—लक्षण-ग्रंथ तो लक्ष्यग्रंथो की समृद्धि के उपरान्त ही सम्भव हैं—अत्यन्त स्थूल है। क्योंकि हिन्दी-साहित्य स्वतन्त्र रूप से फूटा हुआ कोई सर्वथा नवीन स्रोत नहीं है। वह संस्कृत और प्राकृत-अपभ्रंश की प्रवहमान काव्यधारा का एक रूपान्तर मात्र है। सस्कृत-काव्य का पर्य्यवसान रीति-ग्रंथों मे ही हुआ था—अत एव हिन्दी के आरम्भ मे रीति-ग्रंथो की रचना सर्वथा स्वभाविक और सहज थी। हिन्दी की इस रीति-परम्परा का पहला निश्चित स्फुरण है हिततरंगिणी,—परन्तु फिर भी उसकी वास्तविक गौरव-प्रतिष्ठा हुई कवि-प्रिया और रसिक-प्रिया की रचनाओ के साथ। केशव के पूर्व और केशव के समय मे भी चूंकि जन-रुचि अनुकूल नहीं थी—(केशव का युग भी आख़िर तुलसी और सूर के सर्व-व्यापी प्रभाव से आक्रांत था)—इसलिये रीति-परम्परा मे बल नहीं आ पाया। चिन्तामणि के समय तक उसे जन-रुचि का भी बल प्राप्त

हो गया, और बस तभी से यह धारा शत-सहस्रमुखी होकर बहने लगी। अतएव चिंतामणि का म[illegible] केवल आकस्मिक और संयोग-जन्य है—यह एक संयोग मात्र ही तो था कि उनके समय से जनरुचि भी उनके साथ हो गई और रीति-ग्रंथों का तांता बंध गया। युग-प्रवर्तन का गौरव उनको नहीं दिया जा सकता—परवर्ती रीति-कवियों में से किसी ने भी उनका इसरूप में स्मरण नहीं किया। यह गौरव उन्होंने केशव को ही दिया है और वास्तव में केशव ही इसके अधिकारी भी हैं, क्योंकि उन्होंने विचार-पूर्वक संस्कृत रीति-काव्य की परम्परा को हिन्दी में अवतरित किया और साथ ही अपने व्यवहार में भी उसको वांछित महत्व दिया।

---